

# रचणा

## समय

मार्च-2016



कहानी विशेषांक  
भाग-2

# कहानी विशेषांक

( दो भागों में )

भाग-2

सम्पादक

हरि भटनागर  
बृजनारायण शर्मा  
अनिल जनविजय

•

सहयोग

रवि रतलामी  
ए. असफल  
रोली जैन

•

विशेष सहयोग

पंकज सुबीर

•

इस अंक का संपादन

राकेश बिहारी

आवरण  
इल्या रेपिन

मूल्य : 60 रु.

•

ग्राहकीय एवं सम्पादकीय पता :

**रचना समय**

हरि भटनागर / बृजनारायण शर्मा  
197, सेक्टर-बी सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड,  
भोपाल - 462042 (मध्यप्रदेश)  
मोबा. : 9424418567, 9826244291  
E-mail : haribhatnagar@gmail.com

•

**शब्द संयोजन एवं मुद्रक :**

बॉक्स कॉरोगेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स,  
14-बी, सेक्टर-आई, इंडस्ट्रियल एरिया,  
गोविंदपुरा, भोपाल : 2587551

•

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं के लिए  
सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं।  
सम्पादक पूर्णतः अवैतनिक।

**रचना समय**

मार्च 2016

## यह अंक

‘रचना समय’ का यह अंक कहानी विशेषांक के रूप में प्रस्तुत है।

इस विशेषांक की प्रस्तुति के पीछे समकालीन कथा-लेखन के वर्तमान स्वरूप का जायज़ा लेने का सोच था। वह किस दशा-दिशा की ओर अग्रसर है। उसमें यथार्थवादी लेखन के खुरदुरे यथार्थ को विभिन्न गद्य-विधाओं में व्यंजित करने की शक्ति-सामर्थ्य शेष है जो हमारे जातीय गद्य लेखन की ठोस परम्परा की पहचान रही है। हम समय को किस नज़रिये से देख रहे हैं- रोमानी नज़र से या अपनी जातीय लेखन की पैनी नज़र से आगे जाकर दिख रहे यथार्थ के पीछे छिपे सत्य को रूपायित कर देने वाली दृष्टि से। आज के कथा-लेखन के समक्ष एक बड़ी चुनौती इस तथ्य की है कि प्रस्तुत परम्परा में हमारा रचनात्मक योग क्या और कितना है? कहीं हम पीछे तो नहीं जा रहे या क़दमताल की मुद्रा में तो नहीं- इन्हीं सारे मुद्दों के मद्देनज़र इस विशेषांक की योजना बनी थी और हमारे मित्र युवा रचनाकार राकेश बिहारी ने इस दिशा में अतिथि सम्पादक के रूप में जो प्रस्तुत किया है- इसकी जाँच-परख तो पाठकों-लेखकों-आलोचकों की है। हमारा कार्य यहीं तक रहा, अब इन विद्वानों का काम शुरू होता है। बहरहाल, पृष्ठों की संख्या पूर्व निर्धारित थी लेकिन यह सीमा टूट गई तो पठनीयता को ध्यान में रखते हुए कहानी विशेषांक को हमने दो भागों में विभक्त किया है। उम्मीद ही नहीं, विश्वास है, हमारी यह प्रस्तुति आप सभी रचनाकारों- पाठकों को पसंद आएगी। हम तो इसे ताज़ भोपाली की नज़र से देख रहे हैं:

जितना खिलता है उतना खुलता है  
यह सरापा गुलाब जैसा है।

‘रचना समय’ का यह विशेषांक उन लेखकों के नाम जिन्होंने अपने सामाजिक सरोकारों से लैस होकर हमें सामाजिक चेतना से सतत् सम्पन्न किया।

-हरि भटनागर

## समाज और कहानी के लोकतांत्रिकरण की गवाहियाँ

कहानियाँ अपने समय से संवाद करती हुई सभ्यता की समीक्षा का इतिहास दर्ज करती हैं। कहानी और सभ्यता की समीक्षा की चर्चा के क्रम में कहानी की विकास यात्रा पर बात करना स्वाभाविक है। एक रचनात्मक विधा के रूप में कहानी का विकास कहानियों के जनतांत्रिकरण का इतिहास है। मैं जब भी कहानी के जनतांत्रिकरण की बात सोचता हूँ, मुझे हमेशा दो कविताओं की पंक्तियाँ याद आती हैं। एक मैथिलीशरण गुप्त की- ‘माँ कह एक कहानी, राजा था या रानी?’ और दूसरी नंदलाल पाठक की जिसे जगजीत सिंह की आवाज़ में खूब प्रसिद्धि मिली- ‘माँ सुनाओ मुझे वह कहानी, जिसमें राजा न हो न हो रानी। ‘राजा था या रानी’ से ‘राजा न हो न हो रानी’ तक का यह सफर सभ्यता, समाज और कहानी तीनों के लोकतांत्रिकरण का गवाह है। यहाँ राजा-रानी को उसके स्थूल अर्थों तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए। राजा-रानी के न जाने कितने प्रारूप और संस्करण देश और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग तरह से मौजूद रहे हैं। कहानी के विकास की यात्रा राजा-रानी की उन तमाम बहुपरतीय और विविधरूपीय अवधारणाओं से मुक्ति का अनवरत इतिहास है। कहानी की इस विकास यात्रा में सामाजिक संरचना में होने वाली टूट-फूट और विकासोन्मुख नवनिर्माण के साथ एक विधा के रूप में कहानी के अंतःपुर में घटित हो रहे रूप और कथ्य के बदलाव की अनुगूँजों को भी रेखांकित किया जा सकता है। रचना समय का यह विशेष आयोजन हिन्दी कहानी की इसी विकास यात्रा के अद्यतन पड़ाव को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास या उपक्रम है।

पिछले दस-पंद्रह वर्षों में कहानी को विधागत केन्द्रीयता की स्थिति-सी प्राप्त हुई है। इस दौरान मुख्य धारा की लगभग सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं ने अलग-अलग विशेषांकों के माध्यम से न सिर्फ कहानी की विधागत केन्द्रीयता को रेखांकित किया है बल्कि इस बीच कहानीकारों की एक नई पीढ़ी जिसे बहुधा ‘युवा पीढ़ी’ कहा गया और मैं जिसे ‘भूमंडलोत्तर कथा पीढ़ी’ कहता हूँ की स्थापना को भी स्वीकृति दी है। इस दौरान प्रकाशित हुये विभिन्न पत्रिकाओं के कहानी केन्द्रित विशेषांक अमूमन पीढ़ी, विमर्श या विषय विशेष पर केन्द्रित रहे हैं। पीढ़ी, विमर्श या विषय की चर्चा जरूरी है, लेकिन सिर्फ इन्हीं को केंद्र में रख कर विचार करने की प्रविधि की एक बड़ी सीमा यह होती है कि रचनात्मक विधा के तौर पर किसी कला पर समग्रता में विचार नहीं हो पाता है। इसलिए आज जब एक साथ चार से पाँच पीढ़ियाँ कथा-लेखन के क्षेत्र में अपनी सक्रिय भागीदारियाँ निभा रही हैं, समय, समाज और कहानी के अंतर्संबंधों को समझने के लिए इसे पीढ़ी, विमर्श और विषय विशेष के त्रिभुज से बाहर निकाल कर हर पीढ़ी और हर तरह की कहानियों पर एक साथ और समग्रता में बात किए जाने की जरूरत है। इस विशेषांक के समायोजन-प्रकाशन की योजना के मूल में यही अवधारणा थी।

गोकि नई कहानी आंदोलन के पूर्व प्रेमचंद और जैनेन्द्र के रूप में कहानी की दो अलग-अलग प्रवृत्तियों और आस्वादमूलकताओं को पाठकीय स्वीकृति मिल चुकी थी, लेकिन एक संगठित आंदोलन के रूप में नई कहानी हिन्दी कहानी का पहला सुचिन्तित आंदोलन है, जिसके अग्रणी कथाकारों ने न सिर्फ अपनी कहानियों को पूर्व की कहानियों से अलग कर के रेखांकित करने का प्रयास किया बल्कि अपनी कहानियों के लिए आलोचना की अलग कसौटियों की मांग भी की और खुद कथालोचनाएं भी लिखीं। बाद में जनवादी कथाकारों ने भी अपनी कहानियों को समझने के लिए एक नई समीक्षा-दृष्टि और सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

पर बल दिया। उनके अनुसार 'नई कहानी' और 'अकहानी' वाली दृष्टि उनकी कहानियों को खोलने के लिए अपर्याप्त थी। आज जब सूचना और सम्प्रेषण की क्रान्ति ने समय और समाज को नए सिरे से बदल डाला है, आज के कहानीकार भी कथालोचना के नए टूल्स विकसित किए जाने की जरूरत पर बात कर रहे हैं। कहानी के बदलते स्वरूप और आलोचना के नए उपकरण की मांग के बीच कभी तेज तो कभी मद्धम चाल में रुक-रुक कर चलती कथालोचना अपनी शक्ति और सीमाओं के साथ कहानियों को खोलने-खूँगालने का काम कर रही है। कुछ कथालोचकों ने कहानियों के अंबार में से सचमुच की अच्छी कहानियों को चुन-परख और खोज-बीन कर रेखांकित करने की बजाय कहानी विधा के लड़खड़ा कर गिर जाने की स्वयंभू घोषणाएँ तक कर डाली हैं। इस तरह बड़ी चतुराई से रचना के संकट को आलोचना में और आलोचना के संकट को रचना में खोजने का यह आसान-सा खेल लगातार चल रहा है। इस बीच बहुत ही दिलचस्प तरीके से पीढ़ी, परंपरा और कहानी की समझ से च्युत कुछ ऐसे बाज़ार-पोषित समीक्षक भी खर-पतवार की तरह उग आए हैं जो पाठकों की मांग और अभिरुचि की आड़ में गंभीर, बोधगम्य और 'पल्प' के बीच की दूरी को न सिर्फ पाट देना चाहते हैं बल्कि 'पल्प' को ही सर्वाधिक अनिवार्य और सशक्त की तरह रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं। यदि बाज़ार की शब्दावली में भी बात करें तो उन्हें यह नहीं मालूम कि 'सेल्स' और 'मार्केटिंग' के बीच एक बुनियादी और दृष्टिगत अंतर होता है। 'सेल्स' जहां उपभोक्ताओं की माँग के अनुरूप अपने उत्पादों की बिक्री को अपना लक्ष्य मानता है, वहीं 'मार्केटिंग' का काम अपने उत्पाद के लिए नए उपभोक्ता समूह का निर्माण भी होता है। 'सेल्स' को 'मार्केटिंग' में परिसीमित करना व्यावसायिक दृष्टि से भी तंगनिगाही का ही सूचक है। साहित्य या साहित्यिक विधा का काम तथाकथित पाठकीय भूख के हिसाब से खुद को ढालना नहीं, बल्कि अपनी बृहत्तर मानवीय दृष्टि और बड़े रचनात्मक मूल्यों और स्वप्नों के अनुरूप पाठकीय संस्कारों का निर्माण करना है। कहने की जरूरत नहीं कि यह तबतक संभव नहीं, जबतक लेखक अभिव्यक्ति से कहीं आगे सम्प्रेषण को अपना लक्ष्य माने। निश्चित तौर पर बोधगम्य होना उसकी पहली शर्त है। बोधगम्य रचनात्मकता की भूमिका इस अर्थ में दुहरी होती है कि जटिल अभिव्यक्ति की 'डिकोडिंग' के लिए भी पाठकों को तैयार करने का काम इसे ही करना होता है। यह वही विंदु है जहाँ, आलोचना भी रचना के रूप में उपस्थित होती है। मतलब यह कि कहानी को लेकर लेखक, पाठक, संपादक और आलोचकों की अलग-अलग कसौटियाँ हो सकती हैं, होती हैं। लेखक से किसी खास तरह की कहानियों की मांग हो या आलोचक से नए टूल्स आविष्कृत किए जाने की माँग या फिर पाठकों से उनके विकसित होने की अपेक्षाएँ ये सब उन्हीं अलग-अलग कसौटियों के द्वन्द्वों का परिणाम हैं। अच्छी कहानी किसे कहें, या कहानी को विश्लेषित करने के नए टूल्स विकसित किए जाएँ के संश्लिष्ट सूत्रों को आज खोलने की जरूरत है। इसी जरूरत को महसूस करते हुए प्रस्तुत अंक में लेखक, पाठक, आलोचक और संपादक की अलग-अलग कसौटियों पर विस्तार से बात करने की कोशिश की गई है। कथा-कसौटी पर इस बहुकोणीय विमर्श को और विस्तार देने की जरूरत है। शायद इस तरह कहानियों का एक मुकम्मल आलोचना-शास्त्र भी विकसित हो पाये।

अपनी भयावहता और खूबसूरती दोनों ही अर्थों में अभूतपूर्व होने के कारण पिछले दो दशकों के बीच फैले समय का भूगोल खासा जटिल है। तेज़ रफ़्तार चलते समय के विविधवर्णी और बहुपरतीय यथार्थ और उसकी विडंबनाओं को दर्ज करती आज की कहानियों से कहानी विधा लगातार समृद्ध हो रही है। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ कर, कहानी में बदलते समय की इस धमक को समवेत रूप में आलोचना ठीक-ठीक पकड़ने में सफल रही है यह उसी आश्वस्ति के साथ नहीं कहा जा सकता। उदारीकरण के पहले तक का समय जहां एक खास तरह के मूल्यों और मानदंडों की स्थापना का समय था वहीं उसके बाद का कालखंड उन मूल्यों और मान्यताओं के अतिक्रमण और विखंडन का काल है। नए दौर के इस विखंडन और अतिक्रमण में बहुत

तरह की पुनर्संरचना के बीज भी छिपे हैं जिसका सबसे बड़ा असर आज जाति, विवाह और परिवार की संस्था पर पड़ा है। अतिक्रमण और पुनर्गठन के इन्हीं द्वन्द्वों से टकराकर आलोचना के नए टूल्स विकसित होंगे। कई समर्थ कथाकार कथालोचना को कहानीकार का क्षेत्र बिलकुल ही नहीं मानते न ही इस सूत्र को खोलना चाहते हैं कि आज की कहानियों को समझने के लिए कथालोचना के क्या प्रतिमान और उपकरण होने चाहिए। रचना और आलोचना के बीच ऐसी दूरी कविता के क्षेत्र में नहीं है। हमेशा से कवियों के द्वारा आलोचना लिखी जाती रही है और वह आज भी जारी है। क्या कथालोचना के क्षेत्र में व्याप्त सुदीर्घ सत्राटे को तोड़ कर कहानी के नए प्रतिमान गढ़ने के लिए आज आलोचकों के साथ कहानीकारों को भी आगे नहीं आना चाहिए? आज इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किए जाने की जरूरत है।

इधर की कई कहानियों को पढ़ते हुये रूप और शिल्प के स्तर पर कहानी के ढांचे में बहुत बड़े बदलाव दृष्टिगोचर होते हैं। कहानी में कविता और कविता में कहानी की बात जैसे बहुत पीछे छूट गई है। अब तो कई बार कहानी, संस्मरण, रिपोर्ताज, खबर, सूचना, इतिहास, दर्शन आदि के बीच की लकीरें भी मिटती-टूटती दिखाई देने लगी हैं। आखिर यह क्या है- किस्सागोई की कोई नई प्रविधि या फिर कहानी की पकड़ से कथातत्व का छूटते जाना? आधुनिक समय के बहुकोणीय और जटिलतम यथार्थों के निरूपण का नया तरीका या फिर विधाओं की हदबंदी से मुक्ति की शुरुआत? प्रश्न यह भी उठता है कि क्या आज के जीवन की सूक्ष्म और बहुपरतीय संश्लिष्टताओं को किसी एक विधा के फ़ॉर्म में अभिव्यक्त करना मुश्किल या असंभव हुआ जा रहा है? 'कहानीपन' के टाट को जिंदा रखने की जरूरतों के बीच इन सवालों से जूझना भी आज इतना ही जरूरी है। प्रस्तुत अंक के दूसरे खंड में दी गई अर्चना वर्मा की रचना 'व्योम में वास है विचारों का' को इसी बहस की भूमिका की पूर्वपीठिका के रूप में देखा जाना चाहिए।

तकनीकी आविष्कारों और सूचना-सम्प्रेषण की क्रान्ति के बीच बनी हुई कहानी के कागज पर उतरने की प्रक्रिया (रचना-प्रक्रिया नहीं) की एक अपनी दास्तान है। रचनात्मक लेखन के लिए जहां कुछ लोग सिर्फ और सिर्फ हाथ से लिखे जाने के ही आग्रही रहे हैं तो लेखकों का एक बड़ा समूह अब सीधे कंप्यूटर पर लिखने लगा है। रचनात्मक लेखन, खास कर कहानी-लेखन के संदर्भ में इन बदलावों की क्या भूमिका रही है या आगे इस क्षेत्र में और कैसी संभावनाओं के बीज छुपे हैं, इसे जानना एक दिलचस्प अनुभव हो सकता है, जिसे टटोलने की एक शुरुआती कोशिश भी हमने यहाँ की है।

हमारी कोशिश है कि इस अंक के बहाने समकालीन कथा-परिदृश्य का एक समग्र और बृहत्तर चेहरा आपके सामने रख सकें। चंद्रकिशोर जायसवाल जैसे सिद्धहस्त और वरिष्ठ कथाकार से लेकर ममता सिंह जैसे नए कथाकारों और रोहिणी अग्रवाल जैसी प्रतिष्ठित आलोचक से लेकर अमिय विंदु जैसे अल्पज्ञात आलोचक तक की समान रूप से महत्वपूर्ण उपस्थिति के बीच यदि आप यहाँ सभ्यता, समाज और कहानी के जनतांत्रिकरण की कुछ प्रामाणिक छवियों से रूबरू हो पायें, जिनकी चर्चा मैंने इस टिप्पणी की शुरुआत में की है, तो मैं अपने इस लघु प्रयास को सार्थक समझूँगा। पत्रिका के नियमित संपादक होने के नाते हरि भटनागर अपनी कहानी नहीं देना चाहते थे। लेकिन, मेरे विशेष आग्रह पर इस खास आयोजन में, बतौर कथाकार वे भी शामिल हैं। बहरहाल, जैसा भी बन पड़ा है, रचना-समय का यह विशेष अंक एक चैतन्य उत्तरदायित्व-बोध के साथ आपको सौंप रहा हूँ। आपकी बेबाक प्रतिक्रियाओं का इंतज़ार रहेगा। रचनात्मक सहयोग देने के लिए अंक में शामिल सभी लेखकों और भरोसे के साथ अंक के सम्पादन का अवसर देने के लिए अग्रज कथाकार हरि भटनागर और रचना समय के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

- राकेश बिहारी

### कहानी

|                  |    |
|------------------|----|
| संजीव /          | 8  |
| जया जादवानी /    | 12 |
| तेजेंद्र शर्मा / | 19 |
| तरुण भटनागर /    | 25 |
| राकेश दुबे /     | 37 |
| उपासना /         | 46 |
| शेखर मल्लिक /    | 54 |
| पंकज सुबीर /     | 66 |
| मुकेश वर्मा /    | 78 |
| प्रज्ञा /        | 82 |
| सौमित्र /        | 91 |
| जकीया जुबैरी /   | 95 |

### बहसतलब

|                |     |
|----------------|-----|
| अर्चना वर्मा / | 100 |
|----------------|-----|

### सफरनामा

|               |     |
|---------------|-----|
| मृदुला गर्ग / | 111 |
| सूरज प्रकाश / | 115 |
| प्रियदर्शन /  | 120 |

### आलोचना

|                       |     |
|-----------------------|-----|
| विनोद तिवारी /        | 123 |
| प्रांजल धर /          | 140 |
| नीरज खरे /            | 149 |
| सुभाष चंद्र कुशवाहा / | 156 |
| टेकचंद /              | 166 |
| चन्द्रकला त्रिपाठी /  | 171 |



संजीव

## कोकिला व्रत

‘मिली?’ पचहत्तर वर्ष की बूआ उत्कंठा में उठ कर खड़ी हो गई। साथ ही किरपाल की आई, जुगल की ताई और दूसरी औरतें भी। ये सभी बुजुर्ग थीं; बाकी प्रौढ़ा और युवतियाँ।

‘नहीं।’ सत्तरह साल के भतीजे गुड्डू ने जवाब दिया।

‘घर में तो मिलने से रही।’ जुगल की ताई को थोड़ा तैश आ गया।

‘घर में ... ? क्या कहती हो ताई! अक्खा मुंबई छान मारा। जहां-जहां बूआ को ले जाया जा सकता था, सभी जगह।’

‘ठाणे के पहाड़ पर एक मंदिर है, वहाँ गए थे?’

‘वो शुक्ला जी का मंदिर? वहां बाघ आता है।’

‘तुमने चिड़ियाखाने में ढूंढा, माँ ने पूछा था? वहाँ तो मिलनी ही मिलनी थी।’

‘चिड़िया बेचनेवालों से भी पूछा- वे जो लालमुनिया, गौरैया, तोता, मैना, काकातुआ से मोर तक बेचते हैं, बोले, एक थी तो लेकिन सात दिनों पहले कोई सेठ ले गया।’

‘उस मुए सेठ को भी अभी ही ले जाना था!’ उदास हो गई बूआ।

ताई ने चिड़ियाखाने की बात को फिर उठाया, ‘और चिड़ियाखाना?’

‘मुंबई में चिड़ियाखाना कहाँ हैं, हमें नहीं पता।’

‘अक्खा मुंबई ही चिड़ियाखाना है। मुंबई ही क्यों अक्खा देश और दुनिया भी।’ यह गुड़िया थी जिसे छोड़कर सबने व्रत रखा था। सभी हँस पड़े।

‘और इस चिड़ियाखाने की तू रही कोकिला। मिल गई बूआ, मिल गई। उपवास तोड़ो।’ गुड़िया ने गुड़डू को मुंह बिराया, गुड़डू ने गुड़िया को।

बसंत बीतते न बीतते आ जाता है गर्मियों का मौसम। और फिर आता है कोकिला पर्व। पूरे अठारह बरस गिनने पड़ते हैं— एक-एक साल, एक-एक दिन, तब जाकर आता है यह कोकिला...’ आता है तो महीने भर रहता है। पेड़ों के नीचे घंटों खड़ी रहती हैं हम औरतें। पर मेरे जानते ऐसा तो कभी हुआ नहीं कि पर्व के समय कोयल दिखे ही नहीं।

‘पर यह कोयल ही क्यों बूआ?’ गुड़डू ने पूछा।

‘कोयल साक्षात् पार्वतीस्वरूपा है बेटी। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में सबको बुलाया पर अपने दामाद शिवजी को नहीं। न्योता न मिलने और पति के मना करने के बावजूद पार्वतीजी पिता के घर गईं। तभी पार्वतीजी जी ने यह कोकिला व्रत किया था। कोयल की तरह फरियाद करती रहीं— ‘क्यों, क्यों? क्यों? क्यों?’ यानी कोयल और पार्वती एक! पार्वतीजी के यज्ञ में जल मरने के बाद कोयल भी काली हो गई, झुलस कर। तबसे एक महीने तक व्रत के चलने का विधान है। दिन भर उपवास और शाम को कोयल की बोली सुनकर भोजन! इससे पति-पत्नी का प्यार अमर रहता है।’

‘तो इसका यह मतलब हुआ कि महीने भर कोयल ढूँढनी पड़ेगी?’

‘हाँ।’

‘महीने भर बाद?’

महीने भर बाद ब्राह्मण दंपति को को दान-दक्षिणा देकर भोजन कराकर इसका उद्घाटन!’

माने तपस्या हम करें महीने भर और दान-दक्षिणा-भोजन ब्राह्मण दंपति को?’

‘ऐसा नहीं बोलते बेटा, पाप लगता है।’

गुड़डू के भैया प्रदीप भी कोकिला-संधान में असफल होकर लौटे तो उन्होंने खीझ कर पूछा, ‘ये तो बताओ बूआ, आपको कोयल चाहिए या कोयल की बोली?’

‘बेटा कोयल होगी तभी तो बोलेगी?’

‘मादा हो या नर?’

‘व्रत का नाम कोकिला व्रत है। पार्वतीजी भी औरत थीं तो मादा ही ठहरी न!’

‘उहूँ! पहले बताओ कैसे बोलती है आपकी कोकिला?’

‘कुहू-कुहू’ एक साथ सारे विशेषज्ञों ने अपना ज्ञान पेश कर दिया। घर कुंज बन गया।

‘कोयल सी तेरी बोली... कुहू-कुहू! कुहू-कुहू... गुड़डू अनिल कपूर बन गया तो गुड़िया ने राग भोपाली में देखो कोयलिया बोले अमवा की डार पर’ के द्वारा गुड़डू को आम की डाल पर ही चढ़ा दिया। बूआ के चालीस वर्षीय भतीजे प्रदीप ने गंभीर होकर पूछा ‘तब बूआजी आप यह व्रत तोड़ दीजिये।’

‘क्यों बेटा?’ औरतों में खलबली मच गई।

‘अव्वल तो वह सुरीली बोली नर कोयल, माने कोकिल की होती है, मादा कोयल यानी कोकिला की नहीं। पार्वती वाली कथा में भी अनेक झोल हैं। थोपी हुई अज्ञानता को कब से ढोये जा रहे हैं हम? कथा गढ़ने में हमें कोई नहीं मात दे सकता। क्या कथा है! पार्वती जल मरीं और पार्वतीस्वरूपा माने गौरीरूपा कोयल अभी भी पिता से पूछे जा रही है क्यों? क्यों? क्यों? मगर बूआजी यह क्यों-क्यों या कुहू-कुहू तो कोकिल बोलता है, न कि कोकिला। अब अगर कोकिला ही गलत हो गया तो कहाँ सार्थक रह गया कोकिला व्रत?’

महफिल में एकदम से सन्नाटा छा गया। कुछ पलों बाद सन्नाटा टूटा तो महिलाएं कचर-मचर करने लगीं।

बूआ ने याचना भरे स्वर में कहा, ‘यह तर्क नहीं आस्था का प्रश्न है। मेरी वर्षों से जमी आस्था को झमेले में न फंसाओ बेटे! कोकिल हो या कोकिला वह जो भी हो, ले आओ, मेरा मतलब है खोजो।’

‘ओहो! बूआ तुम समझती क्यों नहीं, वह कोई पैसों पर बिकी गायिका नहीं जो तुम्हारी आस्था के सवाल या कथा सुनकर पिघल जाये। तुम हमारे साथ चलो, जहाँ भी मिले, जहाँ भी बोले, देख-सुन कर अपने व्रत की मर्यादा को बचा लो’

‘चलो।’

गाड़ी में दादी समेत पाँच जन बैठे। झाड़व प्रदीप कर रहे थे और गाड़ कर रहे थे गुड़ू और बूआ। गुड़ू अपनी कनपटी पर बराबर दस्तक दे रहा था। 'मैंने वाकई सुनी है कोयल की बोली। ऐसा करो, पवाई चलो, वहाँ लेक पर बहुत सारे पक्षी आते हैं।'

पवाई बीता, कोयल की बोली न सुनाई पड़ी।

'अब गोरे गाँव।' पेड़-पेड़ ढूँढा। कोयल न मिली।

'गोरे' ही नहीं न जाने कितने गाँव देखे जो कहने भर को गाँव थे। वहाँ कई-कई मंजिली इमारतें उन्हें डराने को खड़ी हो गई थीं।

'अब कहाँ चलें बूआ?' प्रदीप ने थके स्वर में पूछा।

बूआ खुद कन्स्यूज्ड थीं। कभी दायें बतातीं कभी बाएँ। अठारह साल पहले कोयल की बोली उन्होंने कहाँ सुनी थी? बूआ के लिए बैठी तो होगी नहीं, वह कोयल अबतक। अब आगे अरब सागर था।

'रुको, रुको!' अचानक बोल पड़ीं दादी, 'यहीं कहीं होना चाहिए। यहीं समंदर था। तुम्हारी दादी भी थीं मेरे साथ। यहीं से लौटे थे तब वो पड़ा था।'

'समुद्र तो जहाँ-तहाँ है मुंबई में।'

'उधर आगे था जंगल।'

'वहाँ तो बीस-बीस मंजिली बिल्डिंगें हैं।'

'वहीं किसी से पूछो, पता चल जाएगा।'

बूआ को कौन समझाये!

एक टावर के बूढ़े माली को बुलाकर पूछा तो वह हमें खासा मूर्ख समझ बैठा। 'आपलोग किसी निपट देहात से आए लगते हैं। अरे भई, अब कहाँ रहे जंगल! उन्हीं जंगलों को काट कर ही तो बिल्डरों ने ये टावर्स खड़े किए हैं।' वह तनिक रुका, फिर बोला, 'मगर आपको चाहिए क्या जंगल में?'

'कोयल! वो आज से व्रत शुरू हो रहा है न, कोकिला व्रत!' गुड़ू ने कहा।

'लेकिन यहाँ कहाँ मिलेगी कोयल?'

बूआ कहती हैं, अठारह साल पहले यहाँ के किसी जंगल में उन्होंने कोयल की बोली सुनी थी।

आसपास के कुछेक सेक्यूरिटी गार्ड वगैरह आ जुटे। हमारी स्थिति पर सभी को तरस आ रहा था। कुछ तो हमारी मूर्खता पर मुस्करा भी रहे थे।

'जलाल चाचा को बुला लाओ' एक ने कहा।

जलाल चाचा! अस्सी को छूती उम्र। थोड़ी देर तक सुनते रहे सहलाते हुये अपनी सफ़ेद दाढ़ी फिर बोले, 'आपकी बूआ गलत नहीं हैं।'

'माने?'

'माने यहाँ हुआ करती होगी कोयल।'

'होगी माने?'

'मैं तब यहाँ गाड़ी था। जंगल और पेड़ों को काट कर, झुगियों को पाटकर ये टावर खड़े हो रहे थे। मेरे देखते-देखते वे आबाद होते गए। अब लोग यहाँ देर रात दफ्तरों से लौटते। देर से सोते। देर तक सोते। एक दिन रात 3-4 बजे एक कोयल उधर वाले टावर पर आकर बोलने लगी। नींद में खलल पड़ी तो वहाँ से लोगों ने भगाया। वहाँ से भागी तो इस टावर पर आकर बोलने लगी। यहाँ से भगाई गई तो उड़ गई। यह वाकया दूसरे दिन भी हुआ तो मैंने खुद देखा वह जहाँ-तहाँ टकरा रही थी। वो टावर बन रहा था। जहाँ तहाँ रोड, जहाँ तहाँ बिजली के तार। कभी फड़फड़ाती हुई इधर, कभी टकरा कर उधर। बीच बीच में कूक-कहाँ-कहाँ। करंट खाकर मर गई या खुदकुशी कर ली, जो भी मान लो। मुमकिन है यहीं कहीं उसका पुराना आशियाना रहा हो।' जलाल की आवाज़ भारी हो रही थी। 'वह इस इलाके की आखिरी कोयल थी। उसके बाद फिर कभी किसी कोयल को कूकते हमने नहीं सुना यहाँ।'

'कैसे पत्थरदिल हैं यहाँ के लोग मियां जिन्हें कोयल की बोली भी नहीं सुहाती!' किरपाल की आई ने कहा।

'वो क्या है न बहिनी, देर रात थके-मांदे आते हैं लोग। सोयें या कोयल की बोली सुनें! अगले दिन फिर काम पर जाना है। शायरी नहीं करनी।' एक रोबीले दरबान ने हस्तक्षेप किया।

उदास बूआ को लेकर गाड़ी आगे बढ़ी। जिधर भी जाओ राह रोक कर खड़ी ठट्ठ की ठट्ठ वही ऊंची-ऊंची बिल्डिंगें और उनके बीच से लाखों गाड़ियों, ट्रेनों, वाहनों का हुजूम। आखिर में वे हीरानन्दानी भी गईं, जहाँ उनकी उम्मीदों

की आखिरी कोयल बसती थी। पर कहाँ! जलाला की उस आखिरी कोयल की तरह हर टावर से टकरा-टकरा कर घायल हो गई बूआ की नज़र!

‘घर चलें बूआ?’ प्रदीप ने पूछा, ‘शाम होनेवाली है।’

‘घर...?’ बूआ की आवाज़ कैसी तो भखरा गई थी। ‘उसे तुम घर कहते हो? वो पिंजरा है, पिंजरा। कंकरीट के पेड़ पर लटका हुआ एक पिंजरा। उस पिंजरे में कोयल या सुगो की तरह कैद हो तुम सब। रही शाम की बात, तो मेरी जिंदगी की शाम हो चुकी। अब और किस शाम से डरा कर उस पिंजरे में टाँगने की तसल्ली दे रहे हो तुम?’

घर हो या पिंजरा, जैसे तैसे उन्हें मना कर ले आया गया फ्लैट में।

पूड़ी-खीर, सब्जी, फल-फल की थाल सजा कर उनके सामने कर दिया गया। बाकी औरतों के भी।

‘मैं सिर्फ फल लूँगी। मेरा व्रत अधूरा है।’

‘नहीं, बूआजी नहीं,’ नारद मुनि की तरह ऐन वक्त पर प्रकट हो गए पंडित जी।

‘आप खुशी-खुशी उपवास तोड़ सकती हैं, बूआजी।’

‘मगर कोयल की बोली... और माटी का दीया?’

‘सारा इंतजाम हो गया है। वही नहीं, और भी बहुत कुछ। आपकी तपस्या का ही फल है कि टावर्स के बिल्डर्स की ओर से ग्यारह हजार रुपये भी आए हैं, कोकिला व्रत अनुष्ठान के लिए।’

बूआ तनिक अचकचायी तो पंडित जी ने स्पष्ट किया, ‘कोइलिया उन्हीं के बिजली के तार से करंट खा कर मरी थी न!’

‘उन्हें याद था?’

‘वो जलाल मियां ने बताया न!’

‘बड़े धर्मप्राण लोग हैं!’ सबकी आँखें विस्मय से फैल गईं।

‘अरे उन्हीं जैसे धर्मात्माओं के ऊपर तो देश टिका है। वो तो कहिए की टाइम न था नहीं तो सोने की कोयल बनवा कर बाकायदा कोई अनुष्ठान करते।’

पंडित जी ने ग्यारह हजार रुपयों का पैकेट थमाते हुये एक और राज की बात बताई, ‘अब जलाल मियां तो मियां ठहरे लेकिन उनको भी आपके इस व्रत ने हमारे रंग में रंग दिया। यह कम बड़ी जीत है!’

गुड़डा भागा-भागा आ रहा था। बोला, ‘बूआ। मीडिया वाले खड़े हैं बाहर। यह सबसे बड़ी जीत है। बड़ी से बड़ी घटना-दुर्घटना पर भी नहीं आते। वे आपके कोकिला व्रत को कवर करने आए हैं। आपलोग अपने-अपने लुक पर ध्यान रखना।’

थोड़ी देर में सारा इंतजाम पूरा हो चुका था।

छोटे से पिंजरे के अंदर से प्लास्टिक की कोयल झांक रही थी।

लैपटॉप में आभासीय प्रदीप झलमला रहे थे।

जिन्हें कोकिल-कोकिला का भेद तक नहीं मालूम वे पंडित जी मंत्र पढ़ रहे थे। प्रदीप जैसे इक्के-दुक्के लोगों को छोड़कर दूसरों को भी नहीं मालूम है। पर चल रही है पूजा। सवाल ज्ञान और तर्क का नहीं, आस्था का है। मीडिया पूरी निष्ठा से इस महत्त्वपूर्ण समाचार को कवर कर रहा था। इस तरह इस आस्थावान धर्मप्राण देश में यह कोकिला व्रत सम्पन्न हो रहा था... माने बूंदी का एक और नकली किला फतह किया जा रहा था। सबसे चाँड़ थी मोबाइल के रिंग टोन की पंचम स्वर में कूकते कोयल की टेर, मानो उसकी आत्मा ही फट कर बाहर आने को हो - ‘कुहू-कुहू! कुहू-कुहू!’

43 ए, न्यू डी डी ए जनता फ्लैट,  
चिल्ला, दिल्ली - 110 091  
मो- 08587832148

जया जादवानी

## क्या आपने हमें देखा है

क्या आपने उस भूरे-लम्बे बालों वाले लड़के को देखा है ? जिसे मैं कई दिनों से देख रही हूँ। जिसने हिप्पी स्टाइल में ढीले-ढाले कपड़े पहन रखे हैं...घिसी हुई जीन्स...सलवटों वाली टी शर्ट और खूब सारे जेबों वाली जैकेट। जेबें जो खाली झूलती रहती हैं तुम्हारी चाहनाओं की तरह। उसके चलने में एक लापरवाह किस्म की लापरवाही है जैसे वह कहीं नहीं पहुंचना चाहता। मुझे ऐसे लोग अच्छे लगते हैं जो कहीं नहीं पहुंचना चाहते। क्या आपने किसी को कहीं पहुँचते देखा है ? इअरफोन अपने कानों से लगाये वह शायद म्यूज़िक के साथ ही इस शहर को देखता है, म्यूज़िक बैकग्राउंड का काम करता होगा जैसे हम फिल्मों में देखते हैं बहुत सारी चीजें एक साथ पर जुड़ते उसी से हैं जिससे हमारी भीतर की तान मिल जाये। आप समझ रहे हैं न मैं क्या कह रही हूँ। जनाब ये शब्द अक्सर गलत समझे जाते हैं जब लिखे जा रहे हों तब भी, जब कहे जा रहे हों तब भी। सबसे बेहतर है मौन... रास्ता मुश्किल जरूर है पर आपको सही जगह पहुंचाता है। अगर आप दूर से इन न जाने किन-किन देशों-प्रदेशों से आये जवान लड़के-लड़कियों को देखें तो आप इनकी बाबत बहुत कुछ जान सकते हैं। जिस्म का ट्रांसमीटर बहुत पावरफुल होता है। गाता हुआ जिस्म तो बहुत साफ़ सुनाई देता ही है रोता हुआ भी। इन सबकी अलग-अलग कहानी और घर हैं। जिनसे ये ऊब और भागकर यहाँ आये होंगे। अगर मैं कोई लेखक होती तो जरूर इनके बारे में न जाने कितने किस्से आपको सुना देती और सब सच होते हालाँकि मैं इनमें से किसी को नहीं जानती। हर लेखक एक चलता-फिरता कब्रिस्तान होता है, जिस भी मुर्दे को आवाज़ देंगे वही उठकर आपको एक कहानी सुनाने लगेगा। देखिये जनाब, जब मैं बहका करूँ आप मुझे टोक दिया कीजिये।

हां, तो मैं कह रही थी एक ही दिन अलग-अलग चार जगहों पर मुझे वह लड़का दिखा...माउन्ट्रिंग इंस्टीट्यूट के घने इलाके में जब मैं सुबह की सैर से वापस आ रही थी, एक पत्थर पर बैठा अपनी मोबाईल पर झुका न जाने क्या कर रहा था... आहत

पाकर उसने क्षण भर को अपना सिर उठाया... एक सरसरी सी निगाह मुझे पर डाल वापस उसी मुद्रा में। नहीं-नहीं मुझे जरा भी बुरा नहीं लगा। जनाब, अब मेरी उम्र कोई इस तरह की बातों से बुरा मानने की तो है नहीं। हालाँकि न देखे जाने पर हर उम्र की औरत बुरा मानती है और बड़ी उम्र की औरतें तो थक जाती होंगी अपनी तरफ किसी चाहना से भरी निगाह की प्रतीक्षा में और उसी थकन में फिर वे गिर पड़ती होंगी अपनी पति की उतनी ही व्यस्त और त्रस्त गोद में। आपने सूखी पत्तियाँ चबाते जानवरों को देखा होगा। जब हमारे जीवन में रस नहीं रहता हम एक-दूसरे को बिल्कुल इसी तरह चबाने लगते हैं। ये आनंद है जनाब ...एक वीभत्स आनंद, अपनी जरूरत भर पूरी कर लेने का ...जानवरों से ऊपर उठने के पश्चात् भी जब-जब मनुष्य उनके लेवल पर आया है इसी वीभत्स आनंद को जीने। पर इस बात का यह अर्थ बिल्कुल न निकालियेगा कि अब मुझमें देखने को कुछ नहीं बचा। जनाब, ये तो मेरी मुरव्वत है। आप एक बार मिलकर तो देखिये, सोचने लगेंगे काश! मैं इसके साथ जरा सा चल पाता....जरा सा इसे छू पाता। खुद को तराशने का हुनर अगर बचपन में आपको किसी ने सिखाया न हो तो बड़ी यातना सहने के बाद आता है। इसके बाद तो इससे बड़ी खुशी कोई नहीं। आप बड़े मजे से अपने साथ रह लेते हैं जैसे मैं रह रही हूँ पिछले पैंतीस सालों से यह जानते और देखते हुये भी कि अभी भी न जाने कितनी आँखें और पैर मेरा पीछा कर रहे हैं। खैर, दूसरी बार उस छोटी सी बेकरी में बैठी जब मैं अपनी गर्म पिज़्जा का इंतज़ार कर रही थी, वह भी दूसरी मेज पर बैठा कांच के शोकेस में सजी ठंडी पेस्ट्रियों और केक को देख रहा था। जैसे कोई बच्चा देखता है ...उसने एक मैंगो पेस्ट्री मंगवाई और खाने लगा। इस बार मैं उसे देर तक देखती रही थी। गेहुंये रंगत वाला वह दुबला-पतला हिप्पी सा दिखता लड़का मुझे रूठे हुए बच्चे सा ही तो लगा था। जिसका खिलौना किसी ने छिपा दिया हो। हो सकता है... जिसके साथ आया हो या आना चाहता हो वह किसी दूसरे के साथ चली गयी हो। आजकल के लड़के-लड़कियाँ एक-दूसरे से बहुत जल्दी ऊब जाते हैं। उन्हें एक-दूसरे के भीतर उतरने की जितनी जल्दी रहती है, बाहर आने की उससे ज्यादा। एक-दूसरे को समझने की लम्बी-काली-अंधेरी सुरंग... कितना भी धीरे चलो हर बार पैर फिसलता है? यह संसार का सबसे मुश्किल रास्ता है जनाब ...बहुत कम लोग बहुत दूर तक जा पाते हैं। खैर, उसके लम्बे बाल इस वक्त पोनी की शक्ल में पीछे बंधे हैं। बड़ा सा माथा

चिकना ऐसा जान पड़ता है, जैसे ...मैं कुछ सोच ही रही थी कि ...उसकी नज़र घूमी, मुझे पर पड़ी और मुड़ गयी। इस बार मुझे सचमुच अच्छा नहीं लगा। मुझे इतना साधारण किसी ने महसूस नहीं कराया था। मैं मन ही मन हँस पड़ी और उठी एक निर्णय के साथ अपनी पिज़्जा खत्म किये बगैर। तीसरी बार वह उसी बस में बैठा था, जिसमें 'कोठी' जाने के लिए मैं बैठी थी। मुझे उम्मीद थी वह ऊपर 'कोठी' में भी जरूर दिखेगा अपनी मोबाईल से पहाड़ों और झरनों का कोई वीडियो बनाते हुये या अकेले में सिगरेट या बियर पीते हुए तो मैं उससे खुद बात करने की कोशिश करूँगी। पर वह वहाँ सचमुच नहीं दिखा। वापसी की आखिरी बस में सबसे आगे की सीट पर वह बैठा था। उस दिन ऊपर कोठी में मैंने उसे ढूँढने के सिवा कुछ और नहीं किया था। सारे नजारों ...सारी हरियाली को उस एक चेहरे ने ढँक लिया था। गनीमत है कि बादल अब तक अछूते थे। उन नीले बादलों पर किसी की परछाई नहीं थी। न उसके चेहरे की न मेरे विचारों की। इत्तफ़ाकों के ये कैसे सिलसिले थे, जो इतना तरतीबवार घट रहे थे। मनाली बस स्टैंड पर जब हम उतरे तो समूचा बाज़ार गुलज़ार था। लोग घूम-फिर कर वापस आ गए थे। सारी होटल्स और रेस्टॉरेंट ठसाठस भरे पड़े थे। मैंने उसे एक बार में घुसते देखा तो न जाने कब से दबी बियर पीने की तलब जोर मारने लगी। मैंने माल से बियर की दो बोतलें खरीदीं और अपने कमरे में वापस आ गयी।

उस रात मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं सीधी लेटी सफ़ेद छत को निहार रही थी...बाहर अँधेरा था ...और ठंडी हवा और निस्तब्ध खामोशी...रात के नीम अँधेरे में अपने साथ जागना एक विषादकारी अनुभव साबित होता है। कहते हैं अपने भीतर झाँकने का सबसे महत्वपूर्ण क्षण यही रात की घड़ी है, जब आपको अपनी नंगी-ठण्ड और अकेलेपन में कांपती आत्मा का तीव्र साक्षात्कार होता है। बहुत कठिन क्षणों में मैंने यह साक्षात्कार किया है। जब मेरा पति मेरे जिस्म के खिलौनों से खेल कर उन्हें तोड़कर थक कर सो जाता था....तब। कभी आपने टूटे हुये खिलौनों के रोने की आवाज़ सुनी है? कुछ औरतें ऐसे ही रोती हैं अपने उन टुकड़ों के लिये जो फिर उनसे कभी नहीं जुड़ पाते। आपमें से अधिकतर जानते होंगे औरतों के टूटने का सिलसिला अक्सर उनके बचपन से ही शुरू हो जाता है जब उन्हें साधारणता की बेड़ियों में जकड़ दिया जाता है जैसे मुझे जकड़ा गया था वर्जनाओं की बेड़ियों से। मेरे भाई को जितनी स्वतंत्रता थी

उससे आधी भी नहीं थी मेरे पास। और मेरा बाप ...मुझे नफरत है उससे ...बारह साल तक उसने मुझे ...और मेरी माँ चुप रहती थी ...ऐसी कौन सी विवशता होती है जनाब कि औरतें मुंह नहीं खोलतीं। बारह सालों के बाद मैंने मुंह खोला और मैं हास्टल भेज दी गयी। छुट्टियों में मैं अपने घर जाने की बजाय अपने किसी फ्रेंड के घर जाना ज्यादा पसंद करती थी। कालेज के बाद मेरी शादी कर दी गयी और फिर मेरा पति ...क्या सारे पुरुष एक जैसे होते हैं ? नहीं जनाब मैं यह बात मानने को तैयार नहीं हूँ ...पर पुरुष अकेलेपन को उस तरह नहीं जान सकता जिस तरह एक औरत जान सकती है। पुरुष औरत के पास जाता तो है ताकत बटोरने पर उसकी ताकत छीन लेना चाहता है। उससे उसका वजूद तक। वह नहीं चाहता कोई उसको चैलेन्ज करे। मैंने पहली राहत की सांस ली अपने डाइवोर्स के बाद। मैंने उन सबको अपनी जिन्दगी से निकाल बाहर फेंका जिन्हें मैं नहीं चाहती थी और मैं अकेली हो गयी। अकेलापन जो कभी वरदान की तरह लगता है ...कभी अभिशाप की तरह। इस वक्त मैंने देखा मेरे भीतर का अकेलापन न जाने कब बाहर चला आया था और चुपचाप मुझे घूर रहा था। आज यह आक्रामक नहीं है मैंने इस बात का फायदा उठाया और अपना कम्बल सिर तक खींच लिया।

दूसरे दिन न वह सुबह की सैर पर मिला, न बेकरी में, न बस स्टॉप पर मैं दिन भर माल पर भटकती रही, शाम को वन विहार में। और सात दिन यह लुका छिपी चलती रही। कभी नीला आसमान बादलों से ढँक जाता... कभी बादल पहाड़ों के उस पार चले जाते। मैं कभी अगस्त की बारीक बारिश में भीगती कभी भीतर के सूखे से लड़ती। फिर मैंने एक रात उसे ढूँढ़ लेने का निश्चय किया। जी हाँ ...आप बिल्कुल ठीक समझते हैं, मैं रात नौ बजे उस बार में जा पहुँची जहाँ मैंने उसे जाते देखा था। वह वहीं था।

इस वक्त जहाँ मैं हूँ, बहुत शोर है और इस शोर में भी मैं अपनी चेतावनी देती आँसुओं में डूबी आवाज सुन सकती हूँ... उठ भाग ...निकल यहाँ से ...ये तेरी जगह नहीं है। यहाँ कुछ नहीं मिलेगा... मैं उठती नहीं ...मेरा अपने साथ युद्ध है और मुझे जीतना ही है बिना अपना मस्तिष्क काटे। आप पूछ सकते हैं मैंने क्या किया... कुछ नहीं जनाब ...जबकि जी चाह रहा है इस समस्त बार को तोड़-फोड़ दूँ ...ये ग्लास ...प्लेट्स ...बाटलस ...सब ...सब कुछ ...नसों को तोड़ता -फोड़ता कोई तूफान है जो बाहर आना चाहता

है... मैं कस के दबाये बैठी हूँ। मैंने खुद को कभी इस बात की इजाजत नहीं दी कि अपने मन का कर सकूँ। जब छाती से रुदन फूटकर बाहर आना चाहता है मैं हँस रही होती हूँ। जब मेरी प्यास समंदर पी जाना चाहती है ...मैं तपती रेत पर चल रही होती हूँ... खुदाया! क्या मैं किसी को अपना वास्तविक रूप दिखा पाऊँगी ?

000

आपको क्या लगता है मैं नहीं जान पाया था। आप बहुत भोले हैं श्रीमान। औरतों के मामले में हम पुरुष बहुत दूर से सूँघ लेते हैं। और इस औरत में तो मुझे कायल करने के समस्त गुण हैं। कुछ खास है इसमें। इसके जिस्म में एक पुकार है ...आँखों में एक अनछुई सी रह-रह कर कांपती चाह ...भीतर की चाह कैसे जिस्म की त्वचा पर चमक जाती है यह तो खुद चाहने वाले को नहीं पता। यह जब दूर तक पसरे पहाड़ों पर बिछी बर्फ की तस्वीरें ले रही थी अपनी मोबाईल से ...मैं इसकी नाज़ुक उँगलियों और जीन्स और टॉप में फंसे तराशे जिस्म को देख रहा था... पहली नज़र में ही पूरी की पूरी छाप मेरे भीतर उतर गयी थी हालाँकि मैं न देखने का दिखावा करता रहा। औरतों का किस्सा बड़ा जानलेवा होता है श्रीमान। इनकी भीतर की भूलभुलैया में अगर आप उतर गए तो ये जहाँ ले जाकर आपको छोड़ेगी आपको वापसी का रास्ता भी न मिलेगा और अपनी चाहत की बात तो इन्हें भूल कर भी न बताइयेगा। औरतें उन्हीं को ज्यादा पसंद करती हैं जो उन्हें पसंद नहीं करता। तभी तो सभी खलनायकों की ढेर सारी प्रेमिकाएँ होती हैं। मैं भी यही चाहता हूँ श्रीमान मेरी ढेर सारी प्रेमिकाएँ हों। सब की सब मुझे पसंद करें ...मेरी बात मानती रहें। आप जानते हैं न श्रीमान, औरतें शासित होना पसंद करती हैं कहेँ चाहे कुछ भी....बस आपमें ये हुनर होना चाहिये। आप इन्हें अपने पीछे दौड़ाना चाहते हैं तो इनसे दूर रहिये। अपनी अकड़ में रहिये। जैसे मैं रहा और देखिये कैसे आई है सात दिनों के बाद आखिरकार। इन्हें 'मैं' चाहिये 'बच्चा' नहीं। हालाँकि मैं कोशिश करके भी उस तरह से खुरदुरा नहीं बन पाया तभी तो श्रीमान लड़कियाँ मुझे छोड़कर चली जाती हैं। इस बार मैं बेहद सावधान रहा। मैं उस दिन कोठी में भी उससे छुपता फिर रहा था और फिर वापस आने पर इस बार मैं घुस आया था। वैसे भी मुझे कुछ दिनों के लिए एक अंग्रेज लड़की मिल गयी थी और मेरी रातें बड़े मजे से गुजर रही थीं। क्या कहा ? मैं झूठ बोल रहा हूँ. नहीं श्रीमान। दरअसल मुझे इन जल्द

हासिल होने वाली औरतों से नफरत है पर यह भी सच है ये आपको वहां तक ले जाती हैं जहाँ आप इनके बिना नहीं पहुँच सकते। वर्जनाओं और डरों से दूर... इनके सामने आपको वे कपड़े पहनने की कोई जरूरत नहीं है जो आप हर वक्त पहने रहते हैं। आप नंग – धड़ंग इनके सामने विचर सकते हैं. कपड़े गिराते ही आपमें से बहुत कुछ गिर जाता है... और आप फूल से हलके हो जाते हैं. और श्रीमान सच तो यह है कोई औरत बाजारू नहीं होती। हम ही साले उसे बाजार में खड़ा कर देते हैं अपने लिए ...एक घर में ...एक बाजार में ...पर श्रीमान ये मामले इतने दोटूक नहीं होते कि आप कह कर समझा सकें... मैंने अपने पापा को देखा है... जब वे छिप – छिप कर नंगी औरतों की तस्वीरें देखते हैं। मुझे दया आती है उन पर. जब उन्हें दस रोटियों की भूख होती है, दो रोटियाँ मिलती हैं उन्हें... और सालों बाद इस तरह के लोग एक लम्बी भूख बन कर रह जाते हैं। हालाँकि शादी नाम की कैद बनाई ही इसलिये गई है कि कोई भूखा न रहे पर अधिकतर लोग भूखे रहते हैं और सड़क किनारे बनी दुकानों पर टूट पड़ते हैं। देखिये श्रीमान, मैं आपको भटका नहीं रहा. मैं चाहता हूँ आपको उस पाइंट पर खड़ा कर दूँ जहाँ से आप सब देख सकें। फिर भी ऐसा बहुत कुछ छूट जायेगा जिसे आप पकड़ नहीं सकेंगे। और अगर ऐसा हो तो यही समझियेगा मैं ठीक से अपनी बात समझा नहीं सका आपको। अब वह अन्दर आ गई है ...आप चुपचाप यहीं बैठे रहिये अपने गिलास के सामने और मुझे अपना काम करने दीजिये।

000

न देह, न रूह, किसी को देखकर आप यह अनुमान नहीं लगा सकते कि वह कितनी उजली या मैली है। हम देखते हैं त्वचा या बालों का रंग, आँखों की चमक, चेहरे की ताब और वह खामोश भाषा जो कहने – सुनने से परे अपना मायाजाल खुद रचती है।

मैं जानती हूँ आप क्या सोच रहे हैं मेरे बारे में ? क्या मुझे इससे कोई फ़र्क पड़ता है ? जिसके संबंधों का इतिहास आपको नहीं मालूम उसके बारे में किया गया कोई भी फैसला एक गलत फैसला होगा।

जैसे ही मैं उसके सामने बैठी उसने मुस्कुरा कर मुझे देखा...

‘प्लीज़ कम ...वेटिंग फॉर यू ...’

मेरी आँखें चौड़ी हो गईं.. ‘तुम मुझे देखते रहे हो...’

‘आफ़कोर्स यस .यू आर वेरी ब्यूटीफुल. एक जलती हुई लपट हैं आप, कोई भी भस्म होना चाहेगा.’

‘तो वह नाटक था कि तुम मुझे नहीं देख रहे.’

‘ऑफ़कोर्स ...आपको निकट लाने का...’

‘पुराना फार्मूला ?’ मुझे हँसी आ गई।

‘कुछ फार्मूले कभी पुराने नहीं पड़ते. कुछ रिश्ते भी कभी पुराने नहीं पड़ते... औरत – मर्द का रिश्ता। अगर आप उस दूसरे के बारे में सोच रहे हैं तो यकीन मानिये वह भी आपके बारे में सोच रहा है। आप तो मुझसे ज्यादा एक्सपीरियेंसड हैं।’

‘क्या तुम्हें नहीं लगता दुनिया इस पैंग की तरह होनी चाहिये ...आओ ...पियो और जाओ... एक्सपीरियेंस हमारे पाँव की बेड़ी बन जाता है। एक्सपीरियेंस के हिसाब से तो मुझे पुरुषों से नफरत होनी चाहिये...’ मैं आहिस्ता हँस पड़ती हूँ।

‘मुझसे मिलने के बाद आपको पुरुषों से प्यार हो जाएगा।’ उसने बेहद कोमल स्वर में कहा।

‘हा ...हा ...हा... अगर मैं सिर्फ़ तुम्हीं से प्यार कर सकूँ?’

‘अगर ऐसा हो जाये मुझे बता ज़रूर दीजियेगा...’ वह उसी तरह मुस्कराता रहा।

‘तुमसे मिलने वाली सारी लड़कियों की यही गति होती है क्या?’

‘नहीं ...पर मैं चाहता हूँ आपकी हो...’

और हम दोनों हँस पड़ते हैं। उसने वेटर को बुलाया और मेरे लिए वोदका ऑर्डर कर दी।

‘आपने सोचा नहीं यह अजनबी आवारा लड़का और मैं एक संभ्रांत महिला...’ उसने कहा।

‘मैं अपनी सोच से आगे जाना चाहती हूँ... और जिसे तुम सम्भ्रांत होना कहते हो वह बड़ी यातना सहने के बाद आता है...’ पता नहीं वह समझा या नहीं. पर मुझे उसका उत्साह से दमकता चेहरा अच्छा लगता है... मैंने शिद्दत से महसूस किया... जिस चीज़ की गुजर जाने के



बाद बेतहाशा तलब होती है वह है जवानी. जब सारी दुनिया तुम पर टूट पड़ना चाहती है तब तुम भागे - भागे फिरते हो। और जब तुम उन पर टूट पड़ना चाहते हो वे भागी - भागी फिरती हैं. मैं उससे बहुत सी चीजें कभी नहीं कहूँगी ...वह नहीं समझेगा... वह समझे मैं चाहती भी नहीं हूँ।

‘आप क्या करती हैं?’

‘मेरा एक बुटीक है जिसे मैंने पिछले पंद्रह सालों की अनथक मेहनत से खड़ा किया है। अपने डायवोर्स के बाद ...वे बड़े कठिन दिन थे। सच तो यह है अपने काम को अपना जीवन सौंपने के बाद आपके पास बहुत कुछ बचा नहीं रह जाता या अगर बचता भी होगा तो आपको पता नहीं चल पाता...और आप चाहते भी नहीं हैं आपको पता चले। तुम्हें पता है हम सबसे ज्यादा किससे डरते हैं ...खुद से...’

‘इंट्रसटिंग...’ उसने कहा।

‘मैं भी खुद से डरती थी. अपनी मांगों से ...अपनी चाहनाओं से...’

‘और अब आपने खुद से डरना छोड़ दिया है?’

‘मैं खुद को दिखा देना चाहती हूँ कि मैं तुमसे नहीं डरती।’ मैंने मुस्करा कर कहा तो वह बहुत ज़ोर से हँस पड़ा। मैं उसकी हँसी देखती रही।

वह मुझे गौर से देखता अपनी वोदका पी रहा है। बहुत आहिस्ता -आहिस्ता हम एक-दूसरे की तरफ बढ़ रहे थे। शुरू में तो वह मुझसे ‘मैम....मैम...’ कहकर बात करता रहा. आखिर मैं कमजकम उससे दस साल बड़ी थी...फिर धीरे-धीरे हम खुलते चले गए। उसने बताया कि अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वह एक ऐसे जॉब की तलाश में है जो उसके पांव की बेड़ी न बने। उसके पहले वह यूँ ही एक आवारा किस्म की ज़िन्दगी जीना चाहता है। ‘आवारा किस्म की ज़िन्दगी’ ...इन शब्दों को मैं एक -एक घूँट की तरह पीती रही। क्या यह सिर्फ पुरुषों के भाग्य में है?

‘इसके पहले कि तुम्हें शादी के खूँटे से बाँध दिया जाये...?’

‘इस खूँटे से तो मैं बंधने से रहा. आपको बताने में कोई हर्ज नहीं है मैं दो साल लिव इन रिलेशन में रहा हूँ।’

‘फिर?’

‘फिर क्या? सब ख़त्म... वह चली गयी।’

‘उसका अहसान मानो कि वक्त रहते उसने तुम्हें छोड़ दिया और अब तुम दोनों स्वतंत्र हो...’

‘आप मुझे मेरे गिल्ट से निकाल रही हैं...’

‘एक बात अच्छी तरह समझ लो। ऐसा कोई नहीं जो अनंतकाल तक आपके साथ चलने को राजी हो सके। ऐसी मांग, ऐसी चाह ही पागलपन है। लोग आते हैं अपना रोल प्ले कर चले जाते हैं। हम क्यों उन्हें रोककर रखना चाहते हैं? उनका और अपना जीवन नरक बनाने के लिए? और फिर हर दोस्त हमारे अन्दर एक नया संसार पैदा करता है, यह संसार हममें ही छुपा रहता है जब तक वह आकर इसे अनावृत नहीं कर देता।’

‘इस तरह तो आपके भीतर बहुत से संसार अनावृत हो गए होंगे?’

‘और बहुत से अभी नहीं हुए हैं...’ मैं मुस्कराती रही। जिस क्षण गलत समझे जाने का भय आपके भीतर से निकल जाता है उस क्षण के बाद अपना सच जीने का हुनर आपको आ जाता है।

वह ध्यान से सुन रहा है... उसकी आँखें सिकुड़ गयी हैं. पता नहीं कितना समझा।

‘तो आपने किसी को रोकने की कोशिश नहीं की?’

‘नहीं ...सब चले गए क्योंकि सब चले जाते हैं.’

दो पैग के बाद मैं खुलती चली गयी। शराब कुछ देर के लिए ज़िन्दगी के मामूली मसलों से तुम्हें ऊपर उठा देती है... खुद से ऊपर उठा देती है। पिछले कुछ सालों से वक्त का गुजरते जाना मैं बिलकुल साफ़ -साफ़ महसूस कर पा रही हूँ ...क्यों चाहती हूँ मैं इसका साथ? अपने अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए? मुझे उस नशे में एक तीव्र अहसास हुआ... पिछले न जाने कितने सालों से मैं अपनी स्वतंत्रता में भी अकेलेपन की पीड़ा भोग रही हूँ। हम स्त्रियों का जीवन एक अजीब सी दुश्चिन्ता और डर में बीतता है। डर ...असुरक्षा का, लोगों का, भूत-भविष्य का, पुरुषों का और इस बात का कि ये डर कोई देख न ले। हम अपने मन का नहीं जी पाते तो सोचते हैं क्यों नहीं? जी लेते हैं तो सोचते हैं क्यों?

आप कहेंगे, बेवकूफ औरत! जरूर कहिये जनाब... ये हमें बहुत बाद में पता चलता है एक लम्बी उम्र गुजारने

के बाद कि दरअसल हम खुद पर बोझ हैं। हम खुद को किसी को दे देना चाहते हैं। क्या आपको लगता है अकेलेपन की पीड़ा से छुटकारा पाने का कोई दूसरा रास्ता भी है ?

हम दोनों के हाथ में तीसरा पैग है ...मैं उसकी आँखों में अचानक पैदा हुई लपट साफ़ देख पा रही हूँ ...वह कभी आगे बढ़ता कभी पीछे हटता जान पड़ता है... मुझे हँसी आ रही है ...देह और मन का यह द्वंद मेरे लिए कितना जाना-पहचाना और यातनादायी है। ये दोनों कभी एक-दूसरे से हाथ नहीं मिलाते। देह नैसर्गिक होना चाहती है, मन उसे बाँध कर रखना चाहता है। मैंने उसे कुछ नहीं कहा। उसने चौथा पैग बना दिया और इसके बाद मुझे सिर्फ़ इतना याद है कि उसके कंधे का सहारा लेकर मैं बाहर आई थी। ऑटो में बेसुध बैठी थी और उसके बाद अपने कमरे में...

वह मेरे पास बैठा है ...धीरे -धीरे मुझे खोलता और खुलता... परत दर परत...

‘तुम सोचते होगे ये औरत मेरी मां की उम्र की है और...’

‘शटअप... मैं इस तरह नहीं सोचता...’

‘डज़ इट मेक एनी डिफरेंस ?’

‘इट डज़... लिसन ...आय वांट यू ...आय नीड यू...’

‘बट यू डोंट लव मी.’

‘हा ....हा.....हा.....यू नो ...औरतें कभी बड़ी नहीं हो पातीं ...न कभी प्रेक्टिकल हो पाती हैं ...तुम अभी भी इस शब्द के पीछे भाग रही हो ? मेरी गर्लफ्रेंड भी मुझसे हमेशा यही पूछती थी ....डू यू लव मी ? मैं हमेशा कहता था ..यस। क्योंकि इसके अलावा कोई कुछ सुनना ही नहीं चाहता। कुछ शब्द बनाये ही गए हैं दूसरों को बेवकूफ बनाने के लिए ...लव ...गॉड ...आस्था ...विश्वास... ये शब्द सुनने में अच्छे लगते हैं पर हकीकत से इनका कोई वास्ता नहीं होता।’

‘तुम इस उम्र में इतने प्रेक्टिकल कैसे हो ?’

‘लड़कियां बना देती हैं पर अफ़सोस वे खुद नहीं बन पातीं।’ वह फिर हँसा।

‘मुझमें आओ... हम एक सांस लेंगे और एक हो जायेंगे... आपको इतना और इस तरह का प्यार किसी ने नहीं

किया होगा। यू आर थर्स्टी....वाटर इन मी... तूफान हूँ मैं... नष्ट हो जाऊंगा. नष्ट कर दूंगा।’

और वह मुझ पर टूट पड़ा...

वह एक आदिम जिप्सी नृत्य था ...वह जितनी बार मुझे पकड़ता मैं छूट-छूट जाती थी ...मुझे वहां मत दूँढो जहाँ मैं नहीं हूँ... नाभि के नीचे नहीं..... नाभि के ऊपर है रहस्य ...पर्वतों के बीच उदित होता है वहीं सूर्य ...आओ ...उसे देखें ...उसके आने से आती है हरीतिमा. समस्त कायनात खिल उठती है. आओ ...आकाश से इसे झपक लें। पी लें इसे ...रुको -रुको सुनो ..उडो ऊपर ...और ऊपर ...और ऊपर ...तुम्हारे पंख कितने बेचैन हैं ? और ये बादल हमें कहाँ उड़ाये लिये जा रहे हैं ? ये उड़ान... ओह... और ऊपर... और ऊपर ...इन बादलों के पार ...यह भूरा कोमल अहसास ...ये हरे रंग ...आओ ...प्रकृति ने एक गीत गाया है ? हम इस धुन पर नृत्य करें ...ये फूल से हलके पैर ...मुझे उठा लो...ओह ...ओह...एक आवारा चीख कमरे में बिखर गयी।

000

आज आपके मैं एक कन्फेशन करना चाहता हूँ... मैंने आपको बताया था न मुझे इस तरह की जल्द हासिल होने वाली औरतों से सख्त नफ़रत है...हालाँकि जब मैं इससे मिला यह मुझे बिल्कुल अलग लगी. आप जानते हैं न यह मेरे लिए पहली बार नहीं है पर आज मैं भूल गया कि मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ ? यह मुझे बहा ले गयी. मैं समंदर में तैरने का अभ्यास कर रहा था....मुझे उस पार पहुंचना था जो न जाने कहाँ था ? मुझे लगा मेरी नाव पलट गयी है और मैं डूब रहा हूँ...वह डूबने का अद्भुत सुख और फिर उस नाव के एक पट्टे को पकड़ कर तैरते हुए ऊपर आना...निढाल जिस्म को किनारे पर ढहा देना...लहरों ने जब हमें किनारे पर फेंका ...हम उसी तरह पड़े रहे ...एक-दूसरे में गुंथे...

इस रात के बाद हम अपनी अपनी दुनियाओं में वापस चले जायेंगे... पर मैं इसे कभी नहीं भूल पाऊँगा...

मैं इससे वह सब नहीं कह पाया जो मैं कहना चाहता था...पर जो भी मैंने कहा, वह चुपचाप सुनती रही फिर सो गयी। मैं उसे सोते हुये देख रहा हूँ... मैं उसकी नींद नहीं तोड़ना चाहता।

कुछ देर बाद उसने आँखें खोली और मुझे देखा  
...उसकी आँखों में हैरानी उतर आई ..मैं अब तक वहाँ था ?

‘सुनो ...’ मैंने उसे पुकारा ... ‘आय लव यू  
...रियली...’

‘सुनो ...क्या तुम थोड़ा सा मुझे देख सके?’ उसकी  
वह आवाज़ मेरे आर-पार निकल गयी।

000

दूसरे दिन मैंने आईने में खुद को देखा और हैरान  
रह गयी। न जाने कितने बरस मेरे जिस्म से झर गए थे...  
शायद दस ...शायद बीस...मुझे सचमुच नहीं पता...पर मैं  
नई सी हो गयी थी। नई सी नहीं, नई। मानो मैं अपनी बेटी  
हूँ... और मैं पीड़ा और प्रसन्नता से पुलकित हो उठी। जानती  
हूँ आप दुनियादार लोगों को लगता है वक्त और परिस्थितियों  
के साथ औरत को खुद को मार देना चाहिये और हम मार  
देते हैं क्योंकि आप लोग ऐसा चाहते हैं। एक बात बताइये  
आप लोगों को औरत की स्वतंत्रता से इतना डर क्यों लगता  
है ? हमें बाँध नहीं पाते इसलिये ? औरत को खुद को मारने

की तरकीबें आप उन्हें उनके बचपन में ही सिखा देते हो।  
मैंने भी मार दिया था खुद को अपने जाहिल पति से डाइवोर्स  
के बाद। फेंक दिया था खुद को खुद के अन्दर पर क्या करें ?  
सालों बाद जब ढक्कन उठाकर भीतर झाँकते हैं तो अपनी  
साँसें चलती हुई पाते हैं, अपने अनजाने में जिन्दा थी और ये  
जो आईने के सामने खुद को निहार रही है ...वही है। यकीन  
नहीं आता आपको ? तो इसकी आँखों में देखिये ...इन्हीं  
आँखों के अन्दर नीचे उतरने वाली सीढ़ियाँ हैं...क्या कहा...  
आपका इससे कोई परिचय नहीं है ...जानती हूँ जनाब, ऐसी  
औरतों को आप घरों में रहने कहाँ देते हैं ? घरों में तो वो क्या  
कहते हैं पालतू मुर्दा औरतें रहती हैं ...जो किसी रोबोट की  
तरह आपके बताये काम करती हैं ...घरों में ‘ये जिंदा औरतें’  
नहीं रहती ‘ये’ अपने अन्दर छिप कर बैठी रहती हैं और  
आप उनसे कभी मिल नहीं पाते... कभी इनसे मिलने की  
ख्वाहिश हो तो जरा संभल कर ये सीढ़ियाँ उतरियेगा ...अपना  
हाथ छूटा तो खुद को कभी ढूँढ न पाएंगे।

---

बी-136, वी.आई.पी.  
एस्टेट, विधान सभा मार्ग,  
रायपुर (छत्तीसगढ़)  
मो. - 9827947480

तेजेन्द्र शर्मा

## बुशी का भूत...

फ़िल एस्टन को एकाएक विश्वास नहीं हुआ। भला अचानक यह कैसे हो सकता है ? क्या किसी को पैसे से भी एलर्जी हो सकती है ?

वह पिछले दो सप्ताह से बीमारी की छुट्टी पर है। उसे वॉटफ़र्ड जनरल अस्पताल में न जाने कितने टेस्ट करवाने पड़े हैं। उसके हाथ की उंगलियों में एक अजीब सी एलर्जी उत्पन्न हो गई है। उसे सिक्के गिनने में बहुत कठिनाई होने लगी है और कई बार तो नोट गिनते गिनते उसकी उंगलियों में कट लग जाता था और लहू की पतली सी लकीर निकलने लगती थी। उसकी एलर्जी का नाम भी खासा ग्लैमरस था – निकल एलर्जी... यानि की निकल से बनी किसी भी वस्तु से एलर्जी....

फ़िल पिछले बीस वर्षों से बुकिंग ऑफ़िस में काम कर रहा है। उसे कभी बुकिंग क्लर्क कहा जाता था तो कभी टिकट ऑफ़िस क्लर्क। फिर ब्रिटिश रेल का निजीकरण हो गया और रेल्वे निजी कंपनियों में बंट गई। उसकी रेल्वे को सिल्वरलिंक कहा जाने लगा। अब उसे कस्टमर होस्ट कहते हैं। फ़िल का पूरा नाम फ़िलिप है मगर बुशी का हर यात्री उसे फ़िल के नाम से ही पुकारता है।

बीस साल में फ़िल ने कभी एक बार भी 'सिक रिपोर्ट' नहीं की... यानि कि वह कभी बीमार नहीं हुआ। जब कभी उससे इसका राज़ पूछते तो हँसते हुए कह देता है, “शादी नहीं की न...!”

फ़िल बुशी स्टेशन को केवल स्टेशन नहीं मानता। उसे स्टेशन की एक एक ईंट से प्यार है। मैं उसे देखता रहता। उसे समझने का प्रयास करता। कभी कभी जी चाहता कि उसका मज़ाक उड़ाऊँ फिर अचानक दिल उसका सम्मान करने लगता। कभी कभी सनकी भी तो लगता है। उसे बुशी के बारे में सब कुछ मालूम है। वह बताने को आतुर

रहता है कि बुशी स्टेशन 1841 में बना था यहां 1917 से 1982 तक बेकरलू लाइन की अण्डरग्राउण्ड ट्रेन चला करती थी। पहले इस स्टेशन को बुशी और ऑक्सी कहते थे... वह ये बातें बार बार दोहरा सकता है। कभी थकता नहीं है।

उसकी वरिष्ठता को देखते हुए अधिकतर नये प्रशिक्षार्थी उसके पास ही भेज दिये जाते हैं। और वह बार बार लगातार अपने ज्ञान को उन नये कर्मचारियों में खुशी-खुशी बांटता रहता है।

मैं जब पहली बार उसे मिला तो बस देखता ही रह गया। उसने मुझे कोई तव्वजो नहीं दी। जब मैंने अपना नाम बताया तो भी उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। मेरे मैनेजर ने उसे बताया कि दो दिन तक फ़िल की देखरेख में मुझे काम सीखना है। उसने मैनेजर की किसी बात की तरफ़ ध्यान नहीं दिया और अपना काम करता रहा। मेरी भारतीय मानसिकता परेशान हो रही थी कि यह आदमी अपने मैनेजर का अपमान कर रहा है। शाम तक सस्पेंड हो जाएगा। वैसे उसके व्यवहार को देख कर यह भी सोचने लगा था कि साला पूरा रेसिस्ट है... मुझे मेरी औकात बताने की कोशिश कर रहा है... मगर नहीं फ़िल को समझने के लिए फ़िल को जानना बहुत ज़रूरी है।

बुशी स्टेशन और फ़िल – एक दूसरे के पर्यायवाची। सुबह की शिफ्ट में फ़िल सुबह चार बजे पचास मिनट तक स्टेशन पर पहुंच जाता है। सबसे पहले यात्री सूचना पट पर आज की तारीख़ लिखता है सुबह का समय लिखता है और गुड सर्विस के स्टिकर लगता है। बुशी में छः प्लैटफ़ॉर्म हैं। हर प्लैटफ़ॉर्म के पूरे चक्कर लगाता है; एक एक लाइट चेक करता है; देखता है कि हर प्लैटफ़ॉर्म यात्रियों के लिये सुरक्षित है या नहीं... हेल्पलाइन के बटन दबा कर बात करता... उसे हर चीज़ चेक करने की ख़ब्त सी है।

उसका साथी कर्मचारी साढ़े छः बजे काम शुरू करता है। उसके आने तक साइकिल स्टैंड खोल देता है और अपडेट-बोर्ड पर ताज़ा सूचनाएं लिख देता है। बोर्ड के नीचे अपने यात्रियों के लिये कोई न कोई संदेश लिखना नहीं भूलता। ज़रूरी समझता है कि उसके और यात्रियों के बीच एक संवाद बना रहे। हैरानी होती है कि इसने तो बचपन में अमूल मक्खन नहीं खाया और न ही अमूल के विज्ञापन देखे हैं, फिर भला कैसे इतने हाज़िर जवाब संदेश लिखता है।

स्टेशन का चक्कर तो वह लगाता ही है, स्टेशन के साथ सटे कार पार्क की ख़बर लेना भी नहीं भूलता। सोच पूरी तरह से कर्तव्यनिष्ठ है। यदि कार पार्क में किसी यात्री के साथ कोई हादसा हो जाए तो कौन ज़िम्मेदार होगा। कार पार्क रेल्वे का है तो उसकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी तो उसी की होगी न।

स्टेशन पर बनी न्यूज़ एजेंट की दुकान की ज़रूरतों का भी ख़्याल रखता है। दुकान को हमेशा रेज़गारी की ज़रूरत बनी रहती है। खुद ही दो दिन बाद पूछ लेता है।... मगर बोलता बहुत कम है। जब तक ज़रूरत न हो एक शब्द फ़िज़ूल का नहीं।

उसकी एक आदत से हम सब परेशान रहे हैं। वह चाहता है कि सभी उस पर विश्वास करें मगर वह स्वयं किसी पर विश्वास नहीं करता। हर काम स्वयं ही पूरा करना चाहता है। यहां तक कि जब वह काम पर होता है तो उसका प्रयास यही रहता कि वह किसी को भी उस सेफ़ को हाथ न लगाने दे जिस में कैश रखा होता है। वह हमेशा कैश सेफ़ के साथ वाली खिड़की पर ही काम करना पसन्द करता है। दूसरी खिड़की हम सबके लिये छोड़ता है।

यात्रियों के टिकट ख़रीदने के लिये लग्गी टी.वी.एम. मशीनें भी खुद ही खाली करता है... अब अचानक ऐसे आदमी को हो गई निकल एलर्जी।

फ़िल के दिल में, शरीर में, आत्मा में हर जगह केवल और केवल बुशी स्टेशन बसता है। उसका बस नहीं चलता वरना वह बुशी स्टेशन से शादी कर लेता। उसे ख़ासा जोर का झटका लगा जब रेल्वे के डॉक्टर ने उसे चेक करने के बाद अपनी चिट्ठी भेजी कि वह अब बुकिंग ऑफ़िस में काम करने के लिये फ़िट नहीं है। उसे कोई दूसरा काम दे दिया जाए।

फ़िल उस चिट्ठी को देखे जा रहा था... उसके टेस्ट तो वॉटफ़र्ड जनरल अस्पताल में ही हुए थे। मगर इस देश में टेस्ट के नतीजे सीधे डॉक्टर के पास भेज दिये जाते हैं। मरीज़ को डॉक्टर ही दिखाता है और आगे की कार्यवाही निश्चित करता है।... रेल्वे के डॉक्टर ने उसके सामने ही कम्प्यूटर के स्क्रीन पर उसके टेस्ट के नतीजे पढ़ते हुए बताया था, “फ़िल, यह निकल एलर्जी भी कमाल की चीज़ होती है। हम कहते तो इसे निकल एलर्जी हैं मगर यह बहुत से मेटल्स से हो जाती है। ज्यूलरी, सेल फ़ोन, सिक्के, बेल्ट

का बक्कल, पेन्ट की ज़िप यानि कि किसी भी मेटल से हो सकती है।”

फ़िल को इतने विवरण में शायद रुचि नहीं थी। उसे केवल एक बात जाननी थी- क्या वह वापिस काम पर जा सकता है ?

“देखो फ़िल, अब तुम ऐसा कोई काम तो नहीं कर पाओगे जिसमें तुम्हें सिक्के गिनने पड़ें। यानि कि अब तुम्हें नित्यानवे के फेर में पड़ने की ज़रूरत नहीं।” फ़िल को डॉक्टर के इस बेवक़्त के मज़ाक में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह लगभग सन्नाटे में बैठा था। सोच रहा था कि भविष्य ने उसके साथ वर्तमान में क्या मज़ाक कर डाला है... वह उम्र के जिस पड़ाव पर पहुँच गया है उसके बाद तो आदमी रिटायरमेण्ट के बारे में सोचने लगता है। और उसे इस उम्र में एक नयी नौकरी शुरू करनी होगी... चाहे अपनी ही कम्पनी में...

एक डर और सताए जा रहा था... कहीं मुझे ज़बरदस्ती रिटायर तो नहीं कर देंगे। सीधा यूनिन के प्रतिनिधि के पास पहुँच गया। धीमे धीमे और धीरे धीरे उसने अपनी बात लॉरेंस के सामने रख दी। लॉरेंस गंभीरता से बात सुनता रहा, “देखो फ़िल, तुम्हें नौकरी से कोई निकाल नहीं सकता। तुम तो वैसे भी ब्रिटिश रेल के दिनों के कर्मचारी हो। प्राइवेटाइज़ेशन से पहले के। तुम तो प्रोटेक्टिड स्टाफ़ हो। मैं यह तो वादा कर सकता हूँ कि तुम्हें कोई न कोई नौकरी तो ज़रूर दी जाएगी। मगर वो तुम्हारी पसन्द की हो... इसका ज़िम्मा मैं नहीं ले सकता। हाँ, इस बात का ज़िम्मा ले सकता हूँ कि तुम्हें नौकरी कोई भी मिले, तुम्हारी पगार कम नहीं की जाएगी।” यानि कि भविष्य अभी भी अनिश्चित ही था।

मैं उसे देख रहा था। उसकी बेबसी को समझ रहा था... मगर उसके लिये कुछ कर नहीं पा रहा था। मैं जानता हूँ कि बिना बुशी स्टेशन के उसका जीवन लगभग निरर्थक हो जाने वाला है।... मैं अपने जीवन में कभी किसी को नहीं कह पाया कि भगवान सब ठीक करेंगे... अगर उनको ठीक ही करना होता तो पहले बिगाड़ते ही क्यों। मेरा दिमाग़ चला, “फ़िल, हम दोनों अपने अपने लेवल पर गूगल सर्च करते हैं कि आखिर यह निकल एलर्जी होती क्या है। मुझे याद है मेरी भाँजी को भी यही एलर्जी थी मगर उसे तो नकली ज्यूली पहनने से हो जाती थी। वह केवल बाइस कैरट सोने के गहने ही पहन सकती थी।”

गूगल बाबा ने हमें बहुत से वैब-पेज दिखाए... निकल एलर्जी का एक्सपर्ट बना दिया। अब अगर कोई कहता तो हम निकल एलर्जी पर पूरा लेक्चर दे सकते थे। मगर हमारी सारी मेहनत कोई रंग नहीं ला पा रही थी। फ़िल की उंगलियों और हथेलियों पर लाल लाल धब्बे, फफोले और खुजली... कुछ नहीं रुक पा रहे थे। कभी कभी तो पपड़ियाँ उतरने लगतीं। फ़िल को अपनी दर्द, असुविधा और कष्ट से अधिक यह ख्याल सता रहा था कि अब वह इस पोस्ट से हटा दिया जाएगा।... किसी भी अन्य स्टेशन पर जा कर काम करने का ख्याल ही उसे बेचैन किये जा रहा था।

सोच बार बार एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती है, “क्या हमारा जीवन किसी प्रारब्ध से जुड़ा है ? क्या भाग्य के सामने मनुष्य बौना हो जाता है ? तो फिर कर्म क्या है ? फ़िल तो अपना कर्म किये जा रहा था। उससे ऐसी क्या ग़लती हो गई कि उसे निकल एलर्जी हो गई ? क्या गीता, कुरान या बाइबल के लेखकों को निकल एलर्जी की जानकारी रही होगी ? क्या किसी भी धार्मिक किताब में इसका इलाज लिखा होगा ?... क्या हमारी ज़िन्दगी एक पी.डी.एफ़ डॉक्युमेण्ट है जिसमें एडिटिंग की कोई गुंजाइश नहीं ?”

फ़िल जीवन के उस मुकाम पर खड़ा है जहाँ वह अकेला है निपट अकेला... विवाह किया नहीं... मां की पिछले ही साल मृत्यु हो गई... भाई बहन कोई है नहीं... इस उम्र का अकेलापन भी तो अधिक ज़ालिम होता है। दोस्तों के नाम पर घर की दीवारों और छत... बस घूरते रहो और देखते रहो टी.वी... वैसे अंग्रेज़ होने का एक फ़ायदा है कि उसे भारतीय चैनलों के घटिया सीरियल नहीं देखने पड़ते। क्या उम्र के इस पड़ाव पर उसे दोबारा संघर्ष शुरू करना होगा ?

एक दिक्कत यह भी है कि फ़िल को कोई शौक नहीं... उसे किसी भी सृजनात्मक काम में रुचि नहीं है। रेल्वे ही उसका जीवन है। बुशी उसके जीवन का केन्द्र है और बुशी के यात्री उसके रिश्तेदार। उसे रेल्वे से बहुत शिकायत है वह यात्रियों को ग्राहक मानने से साफ़ इन्कार करता है। यात्री एक मेहमान है और उसे एक मेज़बान की तरह उनका ध्यान रखना चाहिये। विश्व में बढ़ते हुए ग्लोबलाइज़ेशन और बाज़ारवाद ने यात्री का रुतबा कम करके उसे ग्राहक बना दिया है। फ़िल का बस चले तो वह अपने यात्रियों के लिये बिछ जाए। वह अपने यात्रियों के कभी किसी भी काम के लिये मना नहीं करता।

कभी कभी तो वह इस मामले में अपनी हदें भी लांघ जाता। जैसे बुशी से वैम्बले सेन्ट्रल की टिकट महंगी पड़ती है मगर यही टिकट अगर बुशी से तीन स्टेशन पहले बॉटफ़र्ड नॉर्थ से ले ली जाए तो करीब चार पाउण्ड सस्ती हो जाती है। बस हो गया निर्णय। कभी भी किसी भी यात्री को बुशी से वैम्बले सेन्ट्रल की टिकट नहीं बेचता था। और ख़ास तौर पर जब फ़ुटबॉल का मैच हो तो लोगों को ग्रुप डिस्काउण्ट का अलग लाभ देता था।

दिवकत हम जैसे सीधी सादे काम करने वालों की होती... यात्री कहता कि फ़िल ने तो सात पाउण्ड की टिकट दी थी फिर आप भला ग्यारह पाउण्ड की टिकट क्यों दे रहे हैं। हम परेशान... डेनिस बेचारा तो यह पहली हल नहीं कर पाता कि बुशी से वैम्बली भला सात पाउण्ड की टिकट दे तो कैसे दे...

डेनिस, फ़िल और मैं... तीन ही तो काम करने वाले थे बुशी स्टेशन पर... अलग अलग शिफ्टों में काम करते थे। सुबह की शिफ्ट में दो लोग और दोपहर की शिफ्ट में एक अकेला।... मैं समझता था कि फ़िल के तौर तरीकों से सहमति हो या न हो, उससे सीखने का मौक़ा हाथ से नहीं जाने देना चाहिये था। उसे बुकिंग ऑफ़िस के काम की बारीकियों की पूरी जानकारी थी। “नरेन, याद रखो, अगर अच्छा वर्कर बनना है तो जो काम करने हैं वो तो इम्पोर्टेंट हैं हीं मगर उतने ही इम्पोर्टेंट हैं जो काम नहीं करने हैं।... नो शॉर्टकट... जो सिस्टम बनाया गया है उसको पूरी तरह फ़ॉलो करो।... इस नौकरी में ग़लती का कोई स्कोप नहीं है। जब तुम अच्छा काम करते हो तो कम्पनी कहती है कि तुम्हें नौकरी इसीलिये दी गई है क्योंकि तुम्हें अच्छा काम करना है। जहाँ ग़लती हुई तो कम्पनी पकड़ लेती है कि ग़लती करने को कहाँ कहा था। एक वक़्त पर बस एक ही काम करो... एकाग्रता और फ़ोकस - बस यही हैं सफलता के दो रहस्य...”

उसे मज़ा आता था सिखाने में। जैसे एक जन्मजात अध्यापक था। सच तो यह है कि डेनिस और मुझे कहीं न कहीं जलन भी होती थी कि हम फ़िल की तरह लोकप्रिय क्यों नहीं हैं। कैसे फ़िल सभी यात्रियों के नाम याद रख लेता है। यात्रियों को भी अच्छा लगता है अपने पहले नाम से पुकारा जाना।... मैं उन्हें सर या मैम कहता और डेनिस ‘मेट’... मगर इन शब्दों में फ़िल वाला जादू कहाँ।

जादू टूट गया और फ़िल को अगली मीटिंग में बता

दिया गया, “देखो फ़िल, हम तुम्हारी सेहत को ले कर चिन्तित हैं। अब तुम टिकट विण्डो पर काम नहीं कर सकते। हमने एक नई पोस्ट बनाई है- कस्टमर केयर एम्बैसेडर। हमें लगता है कि तुम जैसे कर्मठ कर्मचारियों के लिये ही यह पोस्ट बनाई गई है। तुम्हारा काम केवल ग्राहकों के आराम का ख़्याल रखना होगा।... लाउड स्पीकर तुम्हारे हाथ में होगा। तुम उन्हें सूचनाएं दोगे... और निरंतर वार्तालाप करते रहोगे।... और हाँ, इस पोस्ट में अधिकतर वही लोग होंगे जो किसी कारण अपनी पोस्ट पर किन्हीं कारणों से काम नहीं कर पा रहे हैं या जिन्हें फ़ालतू घोषित कर दिया गया है। इसलिये तुम्हारी पगार पर कोई असर नहीं पड़ेगा। तुम्हारे बैंक में हर महीने उतनी ही पगार जाएगी जितनी आज जाती है।... हाँ, तुम्हें अलग अलग स्टेशनों पर भेजा जा सकता है... फ़िलहाल तुम्हें विलज़्डन जंक्शन पर रखा जाएगा।”

विलज़्डन जंक्शन से कितनी यादें जुड़ी हैं मेरी... मैं वहाँ से बुशी आया था और फ़िल यहाँ से वहाँ जा रहा है... फ़िल को उतना ही दर्द बुशी से वहाँ जाने में हो रहा है जितना कि मुझे वहाँ से यहाँ आने में हुआ था।... यही संवाद मेरे साथ भी हुए थे।

फ़िल के लिये दर्दनाक पल थे... उसे अपना बुशी का लॉकर ख़ाली करना था। आंखें कुछ नम हो आई थीं। मुझे अपने मित्र की लिखी कविता याद आने लगी... “ये आंसू भी कितने अजीब होते हैं। दिल के बोझ को बूंदों में ढोते हैं। भावनाओं के गुबार को पानी से धोते हैं, फिर गीली पलकों से, नाज़ुक हथेलियों से जाने कहाँ ग़ायब हो जाते हैं।” आंसू उस दिन फ़िल के व्यक्तित्व का हिस्सा बन गये थे... न बाहर आ रहे थे और न ही भीतर रह पा रहे थे... बस आंखों की दहलीज़ पर आ कर खड़े हो गये थे।

जब मैनेजर ने उससे स्टेशन की चाबी वापिस मांगी तो आंसुओं की सबसे कठिन परीक्षा होने लगी। फ़िल को पहली बार बड़ी हुई दाढ़ी के साथ देखा था। साफ़ सुथरा पाको रबां कोलोन लगाने वाला फ़िल मुझाया, उलझा परेशान था। शायद बेटी की विदाई के समय भी इतना दर्द पिता नहीं महसूस करता होगा जितना कि फ़िल को चाबी वापिस करते हुए हो रहा था। एक रिश्ते का अन्त... एक अनिश्चित भविष्य की तरफ़ पहला क़दम।

अब बुशी स्टेशन से फ़िल की उंगलियों के निशान आहिस्ता आहिस्ता मिटना शुरू कर देंगे... मगर फ़िल का

दिल तो यहीं अटका हुआ है... मैं एक दिन चुपके चुपके विल्लज्डन जंक्शन गया... जानना चाहता था कि फ़िल नए काम के साथ कैसा महसूस कर रहा है। फ़िल को घोषणाएं करने का शौक तो बुशी में भी बहुत था... “लेडीज़ अण्ड जेण्टलमेन लंदन यूस्टन जाने वाली आपकी अगली गाड़ी प्लैटफ़ॉर्म नम्बर छः पर तीन मिनट में पहुंचने वाली है। इस गाड़ी में आठ डिब्बे होंगे। आपकी यात्रा सुखद रहे।”... हर दस पंद्रह मिनट में एक घोषणा हो जाती। फ़िल की आवाज़ बुशी से गाड़ियों के आवागमन की पहचान...

फ़िल ने विल्लज्डन जंक्शन पर भी अपने लाउड स्पीकर का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। उसके भीतर का रेल्वे-मैन यहां भी सक्रिय है। मगर आवाज़ में अपनापन कहीं गायब हो गया लगता है... आवाज़ सधी हुई और प्रोफ़ेशनल... बुशी में लगता था कि वह अपने मेहमानों से बात कर रहा है... यहां अपने ग्राहकों को सूचना दे रहा है... उसकी यात्रा मेहमानों से ग्राहक तक की हो गई थी। जब वह कस्टमर होस्ट था तो ग्राहक यात्री थे अब वह कस्टमर सेवा दूत है तो यात्री ग्राहक बन गये हैं।

मेज़बान से दूत तक की यात्रा बहुत आसान नहीं रही। बुशी के फ़ोन की घंटी बजी, “नमस्कार, बुशी स्टेशन!”

“हैलो नरेन, मैं फ़िल। लन्दन मिडलैण्ड के पोस्टर बदलने की तारीख़ तुम्हें पता है न? प्लैटफ़ॉर्म नंबर पांच पर भी पोस्टर फ़्रेम हैं। उनको ख़ाली मत छोड़ देना। स्टेशन पर साइकल की अनुमति नहीं है... वो वाला ए-फ़्रेम सुबह सुबह स्टेशन के दोनों प्रवेश द्वारों पर लगाना होता है...”

फ़िल के लिये यह स्वीकार कर पाना आसान नहीं था कि अब वह बुशी स्टेशन का हिस्सा नहीं रहा। उसे यह ग़म खाए जा रहा था कि नया स्टेशन, नये यात्री, नये साथी... सब कैसे होंगे... सच तो यह है कि यात्री भी उसे याद करते थे... “फ़िल नहीं दिखाई देता आजकल?... उसको कहना कि हम उसे याद करते हैं... मिस करते हैं...! यह चॉकलेट का पैकेट फ़िल के लिये...”

एक समस्या यह भी है कि अब वो सारे काम मुझे और डेनिस को ही करने होते हैं जो हम आसानी से फ़िल के लिये छोड़ देते थे। स्टेशन के लिये सिक्कों का ऑर्डर करना; पोस्टर और लीफ़लेट मंगवाना; सी.सी.टी.वी. को लगातार चेक करना; हर दस मिनट के बाद उद्घोषणाएं करना... ये सब फ़िल स्वयं करता था... उसे हम पर विश्वास ही नहीं

था। हम भी खुश रहते कि चलो हमें यह सब नहीं करना पड़ेगा।

फ़िल को कुछ ऐसी आशा थी कि बुशी स्टेशन उसके बिना चल नहीं पाएगा। उसे भूल गया था कि चर्चिल और थैचर के बिना भी देश चल रहा है... किसी के मरने पर दुनिया नहीं रुकती। जीवन नदी है, बादल है, सूर्य है, धरती है... किसी के आने जाने से जीवन पर कोई असर नहीं होता... सूर्य निकलता है ढलता है... बादल आते हैं बरसते हैं चले जाते हैं... धरती अपने गर्भ में रहस्य छिपाए सूर्य के इर्द गिर्द घूमती जा रही है... नदी की धार बहे आगे, मुड़ के न देखे... फ़िल बार बार मुड़ मुड़ कर देख रहा था।

कुछ लोगों का कहना है कि फ़िल रात को उस समय आकर स्टेशन पर चक्कर लगाता है जब बुकिंग ऑफ़िस बन्द हो जाता है... कुछ रहस्यमयी बातें सुनने को मिलती हैं फ़िल के बारे में... लगता है किंवदन्तियां ऐसे ही बनती होंगी... सुबह पांच बजे बुकिंग ऑफ़िस खोलते हुए लगता है कि जैसे अभी अभी फ़िल यहां से गया है... फ़िल के जिस्म की खुशबू बुशी स्टेशन के बुकिंग ऑफ़िस का हिस्सा बन कर रह गई है... हैरानी तब होती है कि न तो डेनिस ने पोस्टर बदला होता है और न ही मैंने... मगर अगले दिन ठीक समय पर बदला हुआ पोस्टर दिखाई दे जाता है...

फ़िल बुशी को नहीं छोड़ सकता... कम से कम मैं तो यही सोचता रहा... डेनिस कभी कोई टिप्पणी फ़िल के बारे में नहीं करता। वह आगे बढ़ने में विश्वास रखता है। कभी कभी चिड़चिड़ा हो जाता है जब यात्री बार बार फ़िल के द्वारा जारी किये गये टिकटों की मांग उससे करते हैं। उसे लगता है कि फ़िल बुशी का भूत बन कर उसके दिमाग़ पर छाया जा रहा है...

फ़िल लाउड स्पीकर पर विल्लज्डन जंक्शन पर घोषणा करता है और उसका असर बुशी में बैठे डेनिस पर होता है... डेनिस अपनी परेशानी ज़ाहिर किये बिना रह नहीं पाता, “नरेन, मुझे समझ नहीं आता यह फ़िल आखिर अपने घर क्यों नहीं जाता... माना उसने शादी नहीं की मगर हमारे सिर पर क्यों भूत की तरह सवार रहता है?”

मुझ में एक बदलाव आना शुरू हो गया है... मैं आहिस्ता आहिस्ता फ़िल बनता जा रहा हूं।... स्टेशन के लिये सिक्कों का ऑर्डर करना; पोस्टर और लीफ़लेट मंगवाना; सी.सी.टी.वी. को लगातार चेक करना; हर दस मिनट के



बाद उद्घोषणाएं करना... ये सब मेरे चरित्र का हिस्सा बनते जा रहे हैं... अब मैं बुशी को अपना घर समझने लगा हूं... फ़िल तो अपनी मां के साथ रहता था... मैं तो निपट अकेला रहता हूं... बच्चे बड़े हो गये हैं... पत्नी के नाम पर सिर्फ़... बस मैं, मेरे घर की दीवारें, छत और टीवी... फ़िल मुझे ज़िम्मेदार बना गया है...

परसों ही एक लिफ़ाफ़ा पोस्ट से बुशी स्टेशन के पते पर पहुंचा है। उस पर मेरा नाम लिखा है। मैं दो दिन के रेस्ट

के बाद बुशी आया हूं... उस लिफ़ाफ़े को खोलता हूं... लिफ़ाफ़े के अन्दर एक कार्ड रखा है - सादर बुलाया है... फ़िल शादी कर रहा है... फ़िलिप और एलिसन... शादी अगले रविवार की है... मुझे ख़ास तौर पर आने के लिये कहा है... लगता है अब बुशी स्टेशन की मुक्ति होने वाली है...

---

33-A, Spencer Road,  
Harrow & Wealdstone, Middlesex,  
HA3-7AN (United Kingdom).  
Mobile: 07400313433,  
Email: kahanikar@gmail.com

तरुण भटनागर

## प्रथम पुरुष

लिंगो पेन जंगल का देव हुआ। वह इंसान था।

कहते हैं वह अठारह वाद्य यंत्र बजाता था। जंगल में कोई कितनी भी बढ़िया किंदरी बजा ले, तोहेली, डुमरी या रामबाजा बजाये, चाहे कितना भी डूबकर मादरको पीटे और आकाश को लक्ष्य बनाकर तुरही की प्रतिध्वनियाँ गुँजाता रहे, कितना ही मदमस्त होकर और लंबी तान के साथ भोंगा बजाये, कितना भी गाये जंगल को कंपाता, किसी धुन को गुने चुप्पा-चुप्पा... पर जिन लोगों ने लिंगो को सुना था, वे मानते थे, कि वह सबसे बेहतर था।

...बस्तर के जंगलों में वारंगल के राजा को आने में अभी देर थी। हजारों बरसों की देर। तब दूर-दूर तक यह बात न थी कि कभी कोई राजा आयेगा। जंगल के खयालों में राजा नाम का शब्द भी न था। तब भाषा न थी, न थे भाषा के शब्द ही। संबोधन थे, आवाजें थीं, इशारे थे, चेहरे पर खिंच आने वाली रेखायें थीं, चित्र थे, रंग थे, एक दूसरे की समझ थी, बहुत सारा खाली समय था, कोई चिंता न थी, दुनिया से कोई शिकायत न थी, पर स्वप्न थे, नृत्य थे, रहने को घर न थे, चूल्हे न थे, खाली समय के बाद भी न था एकाकीपन... बस नहीं थी तो एक भाषा ही, न थे तो बस शब्द ही। वह आज से हजारों साल पहले का समय था। जंगल बस इतना आगे बढ़ पाया था कि वह जंगल से लाकर आग जला लेता था। पर वह खेती करना नहीं जानता था। कहते हैं तब उसने पहली बार आग भी नहीं जलाई थी। वह जंगल के दावानल से आग लाता था। आग थी, पर अपने हाथों से उसे जलाने का हुनर नहीं था। पर तब भी स्मृतियाँ थीं और स्वप्न आते थे और इस तरह यह कथा आज तक चली आई।

लिंगो पेन आठों भाइयों में सबसे छोटा था। यद्यपि उस समय भाइयों जैसा संबोधन नहीं था। भाइयों जैसे संबंध भी नहीं थे। वे आठों बस एक ही जगह एक ही गर्भ

से पैदा हुए थे। वे एक साथ पले बढ़े और यूँ पास-पास रहते थे। वहाँ कोई और बस्ती न थी। तब बस्तियाँ भी नहीं होती थीं। लोगों की एक दूसरे को जरूरत सामुहिक शिकार के लिए इकट्ठा होने तक रहती थी, उससे ज्यादा नहीं। आज उस कथा में यह बताया जाता है कि लिंगो उन आठों में सबसे सुन्दर और बलिष्ठ था। पता नहीं तब सौंदर्य की कोई चेतना जंगल में इस तरह से विकसित हुई भी थी या नहीं। मालूम नहीं देखने में किस तरह के लोग अच्छे लगते थे। कहते हैं समय के साथ-साथ यह बताया गया कि किस तरह से दीखने को सुँदर माना जाय। पर उस युग में क्या ऐसा कोई कोई भेद रहा होगा? कहते हैं कि उस दौर में इंसानी सौंदर्य की कोई चेतना न थी। हो सकता है जंगल में भी न रही हो और बाद में कह दिया गया हो कि लिंगो ही सबसे सुंदर था। यह कथा प्रक्षप्तियों से भरी लगती है। जब अतीत को याद करते हैं, तो उसकी प्रक्षप्ति बनती है। जंगल ने ऐसी बहुत सी प्रक्षप्तियों को इस कथा में बहुत आत्मीयता से जोड़ा है। बहुत से झूठ जो स्मृतियों का हिस्सा हो गये और इस तरह कथा पूरी हुई। आज भी अबूझमाड़ का दण्डामी माँझी आँखें बंद कर इसे सुनाता है। छाती पर हाथ रख, गुनगुनाते हुए, धीरे-धीरे...। कभी गाता है, कभी एकदम चुप हो जाता है, कभी धीरे-धीरे कहता है मानो कोई मंत्र पढ़ रहा हो, कभी आँखें खोल सामने जंगलों को निहारता इस तरह कथा कहता है मानो खुद से बतिया रहा हो, कभी तर्जनी उठाता हाथों से इशारा करता लगातार बेबाक कहता जाता है बिना रुके... इस तरह शताब्दियों का झूठ सच बनता जाता है। झूठ पर अविश्वास एक धोखा लगता है। आँखों में छलछला आने वाला झूठ, छाती पर हाथ रख गुनगुनाने वाला असत्य, जंगल के सनातन मौन में धीरे-धीरे पकता झूठ... कथा का झूठ जो जुड़ा और इस तरह पूरी होती गई कायनात।

लिंगो अकेले में कोई वाद्ययंत्र बजाता था। जंगल के बहुत भीतर। कहीं किसी नदी के किनारे। तब किसी ने बाजा बजाना नहीं जाना था। कहते हैं, लिंगो ने कई वाद्य यंत्र बनाये। उनकी थापों को, ध्वनियों को बरसों तक गुना। वह खुले कण्ठ से गाता और थाप देता। जंगल के लोग बेतरतीब और क्रम से सुनाई देने वाली आवाजों के भेद को जानते थे। जंगल में तरह-तरह की आवाजें थीं। सूखे पत्तों की सरसराहट से लेकर जंगली जानवरों की आवाजों तक बहुत सारी विचित्र और रोज की आवाजें वहाँ थीं। उनमें से कुछ आवाजें तरतीब से एक क्रम में चलती थीं। वे एक चक्र पूरा करतीं। वे जहाँ से शुरू होतीं लौटकर फिर वहीं आतीं।

फिर से शुरू होतीं और फिर वापस वहीं आतीं जहाँ से शुरू होतीं। उनका क्रम था। चक्र था। बारिश की बूँदों की आवाजें जो एक क्रम में टिपटिपातीं और फिर वापस उसी क्रम में फिर से टिपटिपाना शुरू कर देतीं। बारिश में पत्तों के कोनों से गिरने वाला टिपकता, धार से गिरता, फिर से टिपकता पानी या पोखर में कमल के पत्तों पर लगातार एक धुन से टपटपाती बूँदें या ध्यान से सुनने पर देर रात को सुनाई देने वाली पहाड़ी नाले की छलछलाती लय... हर जगह ध्वनियों की एक क्रमबद्धता होती, एक तरह से एक से क्रम में लगातार चलने वाली क्रमबद्धता। रात के एकांत में सुनाई देने वाली झींगुरों की लयात्मक किरकिराती ध्वनियाँ या मेंढकों का भिन्न-भिन्न सुरों में टरना जिसमें निश्चित समय अंतराल के बाद एक अगली ध्वनि और फिर से पुरानी और फिर वही ध्वनि क्रम से सुनाई देतीं। इन आवाजों में लय थी। एक तरह की तालबद्धता। जंगल का इंसान इसे बार-बार सुनना चाहता। वह इंसान जिसके पास रहने को घर न था, चूल्हा न था, जो खेत-खलिहान नहीं जानता था, जिसके पास कपड़े नहीं थे, नहीं थी भाषा, न बोलचाल, न गीत... वही आदमी संगीत को समझता था, सुनता था, गाता था, बजाता था। वह ऐसी आवाज बनाना चाहता जो टुकड़ों-टुकड़ों में हो और एक क्रम से चले और फिर वहीं लौटकर जहाँ से वह शुरू हुई अपना चक्र पूरा करे और फिर उसी क्रम में चल पड़े चक्र को पूरा करने। यूँ वे एक से स्वर में आवाजें निकालते। उन तालों पर थिरकते। पुरुष या स्त्री की आवाज में मानव स्वरों की वह बहुत पुरानी दुनिया थी। पर तब तक आदिम आवाजों के साथ वाद्य यंत्र नहीं जुड़े थे।

कहते हैं लकड़ी के खोखल पर हिरण का चमड़ा माढ़कर उसने सबसे पहला मादर बनाया। उसे भान था कि खोखल में से आवाज उठेगी। कहा तो यह भी जाता है कि उसे स्वप्न आया था। पर हकीकत यह है कि उसने इसे गढ़ा था। बनाया था। उसने एक तरह से इसकी तलाश की थी। किसी खोखल पर हाथ मारने से वह भंभाती सी आवाज करता था। यह आवाज उसे अच्छी लगती। वह जंगल में ऐसे खोखल ढूँढता। उसके एक खुले भाग को हाथ से ढँकता और दूसरे पर हाथ मारता। इसी से उसे खयाल आया कि हाथ रखने की बजाय अगर वह उसे बंद ही कर दे तो ठीक रहेगा। बंद कर देने से आवाज गूँजती थी। वह खोखल के भीतर कैद होकर उछल-कूद करती, खोखल की दीवार से टकराती, गूँजती, झनझनाती, भंभाती... इस तरह ताल और थाप के लिए आवाज बनती। उसने हिरण के चमड़े से खोखल को

बंद किया था। बहुत सालों के बाद उसे धीरे-धीरे समझ आया था, कि इसी खोखल को अगर एक तरफ से फूँका जाये तो कई ध्वनियाँ और आवाजें निकल सकती हैं। जंगल में बहती हवा से उठते स्वर को वह बहुत गौर से सुनता। बाँस के झुरमुटों से गुजरने वाली हवा की सीटी बजाती आवाज को वह बहुत पास से सुनता। जब तक तेज हवा बहती वह बाँस के झुरमुट के पास बैठा रहता। उस पर कान दिये रहता। उसे गौर से देखता। उसने कई तरह से बाँस के टुकड़ों को हवा में घुमाकर और फूँककर हवा से आवाजें पैदा कीं। वह दो तरह के वाद्य यंत्र बना पाया था। पीटकर बजाये जाने वाले, याने थाप वाले बाजे और फूँककर बजाये जाने वाले याने सुषुर वाद्य।

...संसार के किसी भी वाद्य यंत्र को खोजने के इतिहास में लिंगो का नाम नहीं आता। दुनिया शायद ही कभी जान पाये कि आज से सैकड़ों सालों पहले जब इंसान के कण्ठ अकेले थे, तब उसी ने सबसे पहले वाद्य यंत्रों की बात सोची थी। तब वारंगल का राजा बस्तर नहीं आया था। जो था वह सिर्फ जंगल का था। जंगल की कहानी थी। जंगल की ही स्मृति। तब जंगल को पता नहीं था, कि कभी उससे उसकी यादें भी हिरा सकती हैं।

जंगल के सरसराते पेड़ों और बाँसों के झुरमुटों से सीटी बजाकर बहती हवा की तान के साथ वह बरसों तक गाता रहा। वह हवा की दिशा और बल के अनुपात में अपने कण्ठ से आवाजें निकालता और वे आवाजें जंगल से आने वाली ताल और सुषुर ध्वनियों के साथ संगत करने लगतीं।

वह सारा दिन यही सब करता। उसके सातों भाई शिकार पर चले जाते। वह अकेला रह जाता। वह कभी शिकार पर नहीं गया। उसने संगीत को अपना काम बना लिया। संगीत याने जंगल से जानवर मार लाना। गाना और ताल देना याने जलती लकड़ी पर मांस पकाना। वाद्य यंत्रों के साथ जुगलबन्दी याने आग में पकते माँस से टपकती चर्बी। उसके पास एक वाजिब काम था। उसे काम पर नहीं जाना था। असुनी आवाजें और अनगढ़ धुनों को ढूँढने वाला वह पहला इंसान था। उसका काम आवाजों और धुनों का काम था। दुनिया में तब तक यह कोई काम नहीं था। तब दुनिया बहुत पुरानी थी। पर आज भी यह कोई काम नहीं माना जाता। गाने को, बजाने को, काम न मानने की रवायत तब से चली आई बे रोक टोक। लिंगो को नहीं पता था, कि

हजारों साल बीतने के बाद भी उसके इस काम को काम कहलवाने में समय लगेगा। लोग मानेंगे कि भला आवाजों और धुनों का काम भी कोई काम होता है। लोग लिंगो को पूजेंगे। उसे तर्पण करेंगे। वह सर्वप्रमुख हो जायेगा। पर उसका काम...लोग हजारों साल बाद भी कहेंगे भला यह भी कोई काम हुआ। पर तब यह चेतना भी न थी, कि इस तरह का कोई खयाल आता। तब एक तरह की दीवानगी थी, झक थी, कौतूहल था... खयाल न था।

भाई जब काम पर जाते तब भाइयों की औरतें अकेली घर में रहतीं। पता नहीं भाई की पत्नी के लिए तब क्या सम्बोधन रहा होगा। तब न तो पत्नियां होती थीं और न भाभियां। तब वे औरतें थीं। सिर्फ औरतें, न कि पत्नि या भाभी। तब पुरुष भी पति या देवर न थे। वे सिर्फ आदमी थे। औरतें अक्सर लिंगो को सुनतीं और हँसतीं। दिन बीतते गये और जुगलबन्दी दुरुस्त होती गई। वह मादर बजाता और गाता। बाँस की तुरही को फूँकता।

सबसे पहले तीसरे नम्बर वाली औरत ने वह आवाज और धुन सुनी थी। वह एक धुन थी, जिसके साथ कोई गा रहा था। कथा में इसे भाभी बताया गया है। पर आदिम समय में ऐसा कुछ नहीं होता था। तब परिवार का ढाँचा बन रहा था। संबंधों की समझ नहीं थी, 'भाभी' जैसे संबोधन तो हो भी नहीं सकते थे। एक सी चढ़ती उतरती आवाज में वह धुन और उसके साथ ताल मिलाती मादर की आवाज कहीं आसपास से ही आ रही थी। वह चुपके से उसे सुनने गई थी। यह लय, यह गान उसने पहली बार सुना था। इसलिए वह थोड़ा डरी हुई भी थी। वह झाड़ियों में छिपकर लिंगो को गाता देखती रही। उसे नहीं पता था कि वह संसार का सबसे पहला संगीत सुन रही है। वह उस संगीत से डर रही थी। पर एक कौतूहल भी था, जो डर के पीछे दुबका हुआ था। बाद में दो औरतें और आ गई थीं। तीनों ने खुद में डूबे गाते-बजाते लिंगो को सुना। छिपकर उसे देखा। नदी किनारे की रेत पर वह बेतरह गा रहा था। उसकी आँखें बंद थीं। मादर की काँपती आवाज से नदी का पानी काँप रहा था। हवा में एक अजीब सा कंपन था। जंगल में एक बेतरह सी स्थिरता। लिंगो को कुछ भी पता नहीं था। उसे न तो भूख लगती थी और न नींद आती थी। वह पूरी रात, पूरा दिन गाता-बजाता रहता। औरतें झाड़ियों की ओट में बैठकर उसे देखतीं। उसे सुनतीं।

औरतों के आदमी लौटते और रहवास में उन्हें बुझी हुई आग मिलती। उन्हें खाली सूनी ओट और दूर तक पेड़ों के नीचे फैली रिक्तता मिलती। तब यह तय नहीं था, कि कौन माँस पकायेगा। पर एक आदत बन गई थी। वे आते और उन्हें आग के चारों ओर बैठी औरतें मिलतीं। जो अक्सर आग पर माँस पका रही होतीं। उनके आने पर वे खुश होतीं। पर कुछ दिनों से ऐसा नहीं हो रहा था। वे औरतों को आसपास ढूँढते। औरतें वहाँ नहीं होतीं। वे बहुत देर तक उनका इन्तज़ार करते। औरतें बहुत बाद में लौटतीं। आदमी उन्हें हँसते चहकते लौटते हुए देखते। आदमी हतप्रभ होते। औरतें हँसतीं। आदमी अचरज से उन्हें घूरते, वे कुछ गातीं। आदमी उन्हें अजीब तरह से ताकते, वे बेफिक्र चहकतीं। आदमियों को अजीब लगता। यह उनके जीवन में खलल डाल रहा था। रोज की एक सी दिनचर्या टूट रही थी। तब तक आदमियों ने औरतों पर गुस्सा करना नहीं सीखा था। बस उनकी दिनचर्या टूटती थी। एक अनहोनी घट रही थी। वे चकित से थे। वे नहीं जान पा रहे थे कि इस पर कैसे रिएक्ट करें। पर वे ऐसी किसी चीज को नहीं चाहते थे जो उन्हें चौंका दे, जो अब तक न हुई हो, जिसको वे न जानते हों... इस तरह वे इसे रोकना चाहते थे।

आदमियों को पता नहीं था कि यह क्या हो रहा है? तब तक दुनिया में किसी को भी संगीत का कहाँ पता था? कहाँ पता था, कि आवाजें सिर्फ आवाजें नहीं हैं, वे कोई धुन भी हो सकती हैं। एक दिन आदमियों ने सोचा वे जंगल में छुपकर देखेंगे कि क्या होता है। क्या है जो दुनिया को बदल रहा है? कुछ तो है, जिसने सीधे सरल जीवन में खलल डाली है? क्या है? क्यों है? वे शिकार पर नहीं गये और उन्होंने छिपकर देखा।

...तब तक लिंगो को औरतों का पता चल चुका था।

...उस दिन वे सब एक साथ गा-बजा रहे थे। एक स्त्री मादर को थाप दे रही थी। दूसरी बाँस की तुरही बजा रही थी। वे उसी तरह बजाने की कोशिश कर रही थीं, जिस तरह लिंगो बजाता था। वे उसकी नकल कर बजा रही थीं। पर फिर भी उनकी लय और ताल टूट रही थी। उस समय तक वाद्य यंत्रों को ठीक से पहचाना नहीं गया था। यह जानना मुश्किल था कि वह मादर है और यह रामबाजा। तब सिर्फ ध्वनियों के भेद थे। किसी ध्वनि को सुनकर यह बताया जा सकता था, कि वह किस वाद्य यंत्र का है। इशारा करके

वाद्य यंत्र को चिह्नित किया जा सकता था। उनके नाम न थे। उनके लिए कोई संबोधन न था। लिंगो और स्त्रियाँ नाच-गा रहे थे। क्षत-विक्षत, बेतरतीब, नग्न...। एक स्त्री ने लिंगो को अपनी बाँहों में जकड़ लिया। वह उससे प्यार करने लगी। उसके होंठ उसके होंठ में थे। वह गीत का वह भाग था, जहाँ सिर्फ वाद्य यंत्रों की आवाज़ होती है और इंसान की आवाज़ गुम जाती है। पुरुष झाड़ियों में छिपे यह सब देख रहे थे। फिर वे धीरे-धीरे बाहर निकल आये।

स्त्रियाँ चाहती थीं कि वे भी उनके साथ नाचें-गायें। पर पुरुषों के तेवर कुछ और ही थे। वे अचंभित थे। वे घबराये हुए भी थे। वे बस इतना ही चाहते थे, कि औरतें लिंगो को छोड़कर उनके साथ चली चले। जैसा कि बताया गया कि वह आदिम समय था और शुक्र था कि तब तक स्त्री को लेकर पुरुष के क्रोध की शुरुआत नहीं हुई थी।

तय हुआ लिंगो साथ नहीं रहेगा। लिंगो के रहने से दिनचर्या टूटती है। उसके रहने से कुछ ऐसा होता है, जो पहले नहीं हुआ। यह तय करना कठिन है कि जो हो रहा है, वह दुरुस्त है या नहीं? जो हो रहा है वह अचरज में डालता है। डराता है। वह पुरुषों को डराता है। पर यह पता नहीं कि यह ठीक है या नहीं। संगीत आकर्षित करता है। पर पता नहीं इस तरह संगीत रत हो जाने से क्या हो? क्या पता यह ठीक है या नहीं? पुरुषों के सामने दुनिया का पहला संगीत अचानक आकर खड़ा हो गया था। वे हतप्रभ थे। वे एकदूसरे को ताकते। उनके चेहरों पर एक साथ किर्कतव्यविमूढ़ता और भय दोनों दीखता। जब लिंगो का संगीत उठता, वे चौंककर एकदूसरे को देखते। उनकी आँखें उस हिरण की आँखों की तरह हो जातीं जो आसपास किसी खूँखार जानवर को महसूस कर हो जाती हैं। यंत्रवत, क्षण भर को जड़। वे संगीत को सुनकर सतर्क हो जाते। चौंक जाते। औरतों को घूरते मानो देखना चाहते हों कि उन पर संगीत का क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने तय किया कि लिंगो यहाँ नहीं रहेगा। उनमें से तीन आदमियों ने लिंगो के रहवास के सामने बड़ा सा पत्थर रख दिया ताकि वह अपने रहवास में घुस न पाये और यहाँ से चला जाये।

पर स्त्रियाँ अड़ी रहीं। तय हुआ लिंगो को जाना ही होगा। स्त्रियों ने कहा वे भी चली जायेंगी। तय हुआ... कि एक गुप्त योजना बनायी जाये। तय हुआ लिंगो यहीं रहे, पर यह भी कि एक दिन इसे खत्म कर ही दिया जाये। जो स्त्रियों को वशीभूत कर ले उसे खत्म करना ही होगा। जो खोजे नई

आवाजें और तानें उसे समाप्त करना ही होगा। जो बनाये नया गीत और पैदा कर दे जीवन में कोई कौतुक। जो खोजे नई ध्वनियाँ। उसे। हाँ, उसे खत्म करना ही होगा। आदिम दुनिया को आगे बढ़ना था। आगे बढ़ने के लिए लिंगो का खत्म होना जरूरी था। आज की ही तरह तब भी दुनिया इसी तरह आगे बढ़ रही थी। हर नये को खत्म करके।

‘शिकार पर चल।’

पहले पुरुष ने धूल भरी ज़मीन पर खरटे भरते लिंगो को पैर से काँचा। लिंगो ने घर के सामने रखी विशाल चट्टान को देख लिया था। औरतों ने उसे इतना सरका दिया था, कि वहाँ जगह छूट गई थी। रहवास का प्रवेश थोड़ा खुल गया था। इतना कि एक अकेला आदमी भीतर जा सकता था। पर लिंगो बाहर ही लेट गया। उसे लगा कि अगर वह भीतर चला गया तो हो सकता है फिर वे सब आकर चट्टान रख दें और वह अपने रहवास में कैद हो जाये। सो वह बाहर ही जमीन पर पसर गया।

‘चल।’

‘न।’

‘आज चल कल भले न जाना।’

जो उससे कहा गया उसके तात्पर्य यही थे। लिंगो नहीं जाना चाहता था। उसे उन लोगों के साथ नहीं जाना था, जो उसके रहवास के सामने चट्टान रख गये थे। पर उसे यह भी लगा कि ये लोग शायद दोस्ती करना चाहते हैं। इनके साथ चलने से शायद मामला खत्म हो जाये। उस आदिम समय में भी यह चेतना थी, कि कौन गुस्से में है और कौन दोस्ती करना चाहता है। इस बात में शिकार को फंसाने जैसा कुछ भी नहीं लगता था। लिंगो उठकर खड़ा हो गया। उसने उन सातों को इस तरह देखा मानो कह रहा हो ‘ठीक है।’

तभी एक बेरचे (गिलहरी जैसा एक जंगली जंतु) वहाँ से भागा। एक पुरुष ने उस पर सटाक से तीर छोड़ा। बेरचे भाग गया। पुरुष लिंगो को देखकर मुस्कराया।

‘तू क्या करेगा शिकार। तू तो ढोल पीट।’

(तब ढोल नाम का शब्द नहीं था, शायद ये संवाद भी इसी तरह न हुए हों। बोलने का तरीका ठीक-ठीक इजाद न था। फिर जैसा कि पता है कि कथा में बहुत सी प्रक्षप्तियाँ जुड़ीं। यह यहाँ भी हुआ। कहा गया कि संवाद हुआ था,

जबकि तब तो भाषा भी न थी और इंसान ने बोलना नहीं सीखा था। कथा बार-बार कहती है सातों ने लिंगो को यह कहा, वह कहा। पर संवाद नहीं था। सिर्फ मतलब थे। आवाजों और कहन के अनगढ़ मतलब। आशय भले यही थे, पर यह किसी और तरह से जतलाया गया था।)

लिंगो ने पुरुष के तीर धनुष को देखा। उसके हाथ से धनुष और तीर ले लिया और तीर को धनुष पर चढ़ाकर उसी तरफ़ निशाना साधे चलने लगा, जिस तरफ़ बेरचे गया था। तीर धनुष पकड़ने के उसके तरीके पर पुरुष हँस पड़े। मादर बजाते और बाँस की तुरही फूँकते वह बरसों पहले ही तीर चलाना भूल गया था। सातों ने उसे अपने शिकार के समूह से अलग कर दिया था। वे सात इकट्ठा शिकार करने जाते। शिकार के लिए लिंगो को वे भूल चुके थे। उन आदिम दिनों में वे लोग तीर धनुष अलग तरह से चलाते थे। वे उसे कंधे के पास प्रत्यंचा खींचकर नहीं चलाते थे। बल्कि ठीक सामने रखते। दोनों हाथों को तानकर सामने रखते। धनुष को ठीक सामने खींचकर रखते और उसमें तीर फंसाये रहते। फिर शिकार की आहट पाकर या नदी में से मछली के ऊपर आने पर उस पर सटाक से एक झटके में छोड़ते। कभी शिकार के पीछे धनुष को इसी तरह खींचे-खींचे दौड़ते और सही मौका पाते ही शिकार पर तीर छोड़ते। तीर छोड़ते समय खुद भी आगे को लपकते। कूदकर आगे को छलांग लगाते। मानो इस तरह छलांग लगाने से तीर और तेज जायेगा। जबकि ऐसा करने से अक्सर निशाना चूक जाता था। शिकार को मार डालने की उत्तेजना में वे ऐसा करते। पर यह तरीका बन गया था। अभी इंसान को सभ्य होने में हजारों साल बचे थे। तीर धनुष चलाने के तरीके के बदलने में भी हजारों साल लगने थे। लिंगो धनुष को खड़ा पकड़ने की बजाय आड़ा पकड़े था, जिसे देखकर सब हँस पड़े थे। पर लिंगो को कोई अंतर न पड़ा। वह बेरचे के पीछे उसी तरह तीर धनुष ताने दौड़ पड़ा।

तब तक दूसरे पुरुष भी आ गये। सब लिंगो के पीछे चल दिये। उन्होंने लिंगो का खूब मज़ाक बनाया। लिंगो मन ही मन गुस्से में था। रहवास के सामने चट्टान रखने वाली बात और फिर उस चट्टान को हटाने के समय हुए बवाल वाली बात जो उसे औरतों ने बताई थी, को जानकर वह गुस्से से भर गया था। वह यह मानता था कि उन औरतों पर उन पुरुषों से ज्यादा उसका अधिकार है। वह उन औरतों को अपना जानता था। सारा दिन वे उसके साथ रहती थीं, उसके

साथ नाचती गाती थीं, उससे प्यार करती थीं। वे उसकी ही थीं। पर वह जानता था, कि पुरुष सात हैं और वह अकेला। उन दिनों यह चेतना थी, कि किससे लड़ा जा सकता है और किससे नहीं। यह इस बात पर निर्भर करता था कि कौन शक्तिशाली है और कौन नहीं। पुरुष लिंगो को चिढ़ा रहे थे। उस पर हँस रहे थे। लिंगो का गुस्सा और बढ़ रहा था। पर चूँकी वह लड़ नहीं सकता था सो उसे किसी और तरह से प्रतिकार करना था। एकबारगी उसने सोचा कि आज वह दिखा देगा कि वह भी शिकार कर सकता है। उसे पुरुषों के ताने और हँसी सुनाई दे रही थी और वह तीर धनुष ताने बेरछे के पीछे भागा जा रहा था। पुरुष उसके पीछे भाग रहे थे। वह एकबारगी उस बेरछे को मारकर टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहता था। पर वह झाड़ियों में छिपकर भागता हुआ, घास के मैदान में आ गया था और सरपट भागा जा रहा था। क्रोध के मारे लिंगो के हाथ काँप रहे थे। उसने दो तीन बार तीर छोड़ा जो सटाक से जमीन से टकराकर खड़ा हो गया। तभी वह बेरचे झाड़ियों में दुबकता हुआ दिखा। लिंगो ने फिर उसी तरफ तानकर तीन मारा। तीर ज़मीन में जाकर गड़ गया। बेरचे भाग गया।

पुरुष जोर से हँस पड़े। लिंगो बेरचे के पीछे सरपट दौड़ा। बेरचे झाड़-झंखाड़, पत्थर, टीला... सरपटाता, कूदता-फाँदता भागता गया और लिंगो उसके पीछे-पीछे दौड़ता गया। लिंगो के पीछे हाँफते-दौड़ते पुरुष दौड़ रहे थे। उन पुरुषों ने लिंगो को मारने की योजना बनाई थी। बेरचे के पीछे दौड़ते लिंगो को पता नहीं था कि वह एक संकट में फँसता जा रहा है। वह गुस्से के मारे दौड़ता जा रहा था। आदिम दुनिया में हत्या एक आम बात थी। वे इसी तरह समझते थे, कि अगर कोई जानवर हल्ला करे तो उसे तीर मार दो। अगर कोई इंसान बेहूदगी करे तो उसे खत्म कर दो। बस वे इतना समझ गये थे, कि लिंगो को औरतों के सामने मारना ठीक नहीं है। वे जानते थे, उनकी आदिम चेतना समझती थी, कि अगर कोई किसी से प्यार करता है, तो उसे उसके सामने नहीं मारा जा सकता है। इसलिए यह युक्ति बनाई गई। युक्ति भी क्या थी, बस एक सरल सा बहाना था, कि किस तरह लिंगो को औरतों से दूर रखा जाय और मौका ताड़ते ही मार दिया जाय।

बेरछे बीजा के एक पेड़ पर चढ़ गया। उसके पीछे-पीछे पीठ पर तीर धनुष लटकाये लिंगो भी बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ गया। उन दिनों पेड़ पर चढ़ना आसान था। हर कोई बंदर की तरह पेड़ पर चढ़ जाता था। पेड़ बहुत ऊँचा

और घना था। इतना ऊँचा कि वहाँ से दूर के पहाड़ और नदियाँ भी दिखाई देती थीं। इतना ऊँचा कि पंछी उस पेड़ के नीचे तक ही उड़कर आ पाते थे। यह भी बताया गया कि वह इतना ऊँचा था कि उसका ऊपरी हिस्सा बादलों से भी ऊपर था। हो सकता है इसका कोई मतलब हो। पेड़ को इतना ऊँचा बताने का कोई मतलब। कोई निष्कर्ष निकलता हो। जैसे नूह की नाव और मनु की नाव वाली कहानी से यह निष्कर्ष निकला कि मध्य एशिया में जिस जगह आर्य लोग रहते थे वहाँ कभी कोई बाढ़ आई होगी और इस तरह एक साथ एशिया माइनर और भारत के सप्त सैंधव के इलाकों में एक सी कथा सुनाई दी। ऐसा ही कोई सरल सा अर्थ होगा, उस पेड़ के इतना बड़े होने में कि वह बादलों के पार तक ऊँचा उठा था।... दण्डामी माझी उस पेड़ के बारे में बताते हुए कोई माड़िया गीत गाता है। उसका कोई मतलब है, जो समझ नहीं आता। झूठ का गीत... जो किसी बेखयाली में आया होगा, क्रमबद्ध और बेचैन, इस तरह इस कथा में जुड़ा होगा... दण्डामी माझी एक सी लय में गाता है, एक से शब्दों को बार-बार दुहराता है, जो लोग उसके गीत को समझते हैं, मानते हैं कि पेड़ सचमुच इतना ऊँचा रहा होगा कि वह बदलों के पार हो गया...। भागते बेरछे के पीछे भागते लिंगो की इस कथा में इतिहास का कोई तथ्य है और इस तरह वह पेड़ इतना ऊँचा है कि वह बादलों को भेदकर आकाश तक है। यह सिर्फ कल्पना भर नहीं। जैसे मनु की नाव सिर्फ कल्पना भर नहीं। जैसे दण्डामी माझी का गीत जो समझ नहीं आता, समय के किसी ठहराव पर वह कथा से इस तरह जुड़ गया कि उसका हिस्सा हो गया है। बेरछे पेड़ पर चढ़ता गया। सरपट, बेतहाशा। उसके पीछे लिंगो भी पेड़ पर चढ़ गया। पेड़ के तने पर अपने दोनों पैर मोड़कर उकड़ू, दोनों हाथों से बीजा के पेड़ के तने को थामे वह कूदता सा ऊपर चढ़ता गया। हर कूद के साथ ऊपर उठता हुआ। बेरछे इतना ऊपर चला गया कि वह दीखता न था। वह वहाँ तक पहुँच गया था जहाँ से जमीन पर खड़े पुरुष चींटी जैसे छोटे-छोटे दीख रहे थे और लिंगो अभी बहुत नीचे था, वह तने को पकड़े उस पर कूदता सा ऊपर चढ़ा आ रहा था। पुरुष नीचे खड़े थे। यही मौका था। एक ऐसा समय जब लिंगो को खत्म किया जा सकता था। उन्होंने उसी तरफ तीर चलाये जिस तरफ लिंगो पेड़ में घुसा था। पर उनका अंदाज गलत था। सरपट कूदता सा ऊपर चढ़ता लिंगो बहुत ऊपर जा चुका था। वे अंदाज से ताबड़तोड़ तीर मार रहे थे। ज्यादातर तीर बीजा के पेड़ के तने में घुस गये। तीरों के वार से तने की

छाल उधड़ गई। डालियाँ टूट गई। कुछ जगहों पर तने के खरपच्चे उड़ गये। तने पर जगह-जगह से बीजा का लाख और रस बहने लगा। गहरे लाल रंग का यह रस बहकर तने के सहारे नीचे आने लगा। बीजा का रक्ताभ द्रव पहले तो बहुत धीरे-धीरे बह रहा था। पर फिर उसकी कई सारी धारें तने पर बहने लगीं। द्रव्य बहकर पेड़ के तने के सहारे-सहारे नीचे तक आने लगा। पेड़ का तना लाल द्रव से नहा गया। उस रक्ताभ द्रव को देखकर लिंगो के सातों भाई खुश हुए और उछलते-कूदते चले गये।

...पुरुषों ने घर में जश्न मनाया। औरतें उदास थीं। औरतों की आँखों में खुश होते पुरुष का एक ही दृश्य था। अक्सर कई दिनों के बाद, अपने कंधे पर लकड़ी के लट्टे से लटकाये किसी मरे हुए शिकार को लेकर, सुबह, दोपहर, शाम या रात, कभी भी वे जब आते थे, तब वे अजीब-अजीब आवाजें बनाते हँसते-मुस्कराते थे। वे आज भी हँस-मुस्कुरा रहे थे, पर कहीं कोई शिकार नहीं था। लिंगो नहीं लौटा था। औरतें लिंगो को बाहर तक देख आईं। वह नहीं था। पुरुषों ने लिंगो के रहवास को तोड़ दिया। उसकी छानी और लकड़ी को उखाड़कर फेंक दिया। औरतें दूर से यह सब देखती रहीं।

लिंगो बेरछे को ढूँढ़ता रहा। पर बेरछे बादलों के पार पेड़ की सबसे ऊपर की फुनगी से थोड़ा नीचे पत्तों के झुरमुट में छिपा था। मेरे एक मित्र का मानना है कि पेड़ इसलिए बड़ा था क्योंकि लिंगो देवता माना गया और फिर भी वह बेरछे को नहीं मार पाया था, इसलिए पेड़ को इतना ऊँचा बताया गया। हो सकता है यह जंगल के लोगों का लिंगो से प्यार हो कि वे उसके हार की कोई वाजिब वहज गढ़ना चाहते हों। क्योंकि जिसने संगीत ढूँढ़ा, जीवन को एक नया मायने दिया वह इतना कमजोर कि एक बेरछे को नहीं पकड़ पाया। उसकी हार सिर्फ उसकी हार भी नहीं, वह सबकी हार है। अगर वह नहीं कर पाया तो इसकी कोई वजह होगी ही। तभी वह पेड़ इतना बड़ा था, कि फिर कभी नहीं हुआ, सिर्फ इस कथा के अलावा।

पेड़ से उतरते समय उसने तनों पर गड़े असंख्य तीरों को देखा। टूटी डालियों, उधड़े तनों, लटकती छालों, पत्तों के झुरमुटों में फंसे कई तीरों को उसने देखा। तने पर नीचे तक बहते रक्ताभ द्रव को देखा, जो कुछ जगहों पर जमकर चिकना और कड़ा हो गया था। देर शाम जब वह पेड़ से उतरा तो वहाँ किसी को न पाकर उसे कोई अचरज न हुआ।

उसका मन कड़वाहट से भर गया। पर वह जुझारू था। एक-एक वाद्य यंत्र को उसने बरसों तक भिड़े रहने के बाद बनाया था। लकड़ी के खोखल पर हिरण का चमड़ा चढ़ाने में उसे पाँच साल लगे। पहले वह सिर्फ खोखल को हाथ से पीटता था। उसमें से भाँय-भाँय सी आवाज आती थी। फिर एक दिन वह रहवास के सामने से हिरण का चमड़ा उठा लाया। पुरुषों ने हिरण का शिकार किया था। माँस खाकर खाल फेंक दी थी। लिंगो ने उसे उस खोखल पर लपेटकर बाँध दिया। उसी रस्सी से, जो बटी हुई हुई होती थी और जिससे पुरुष लट्टे पर मरे हुए जानवर को बाँधकर लटकाकर लाते थे। यह रस्सी औरतें बटती थीं। उन दिनों समय को नापने की कोई युक्ति नहीं थी, पर जंगल की कथा में है कि पूरे पाँच साल लगे तो यह मान लेते हैं, कि पाँच साल लगे। वह भिड़ा रहा। उसने हार नहीं मानी। उसे इस तरह भिड़ा रहना कभी भी बेतुका नहीं लगा। जब वह हिरण के चमड़े को लाया था, तो पुरुषों ने उसे हिकारत से देखा था। मानो वह कोई जंगली जानवर हो। पर उसे कोई अंतर नहीं पड़ता था। वह आवाज के जादू में था। उसे पता नहीं था कि वह आवाज के जादू में है।

देर रात रहवास के पास आग जलती। जंगल में जब दावानल भड़कता पुरुष वहाँ से कोई जलती लकड़ी ले आते। औरतें कुछ और लकड़ी इकट्ठा कर उस जलती लकड़ी की आग को बढ़ा लेतीं। वह आग जलती रहती। सुबह-शाम पूरे समय। उसके बुझने का मतलब था फिर से दावानल का इंतजार ताकि फिर से आग जलाई जा सके। कभी बारिश हो जाती और आग बुझ जाती। औरतें उदास हो जातीं। पुरुष फिर किसी दावानल का इंतजार करते। वे आग के चारों ओर बैठकर माँस पकाते, खाते। लिंगो उनसे बहुत दूर होता। भूखा और जागता हुआ। वह जोर-जोर से कुछ गाता। एक से सुर में गाता। मादर बजाता। अपनी भूख को भुलाने की कोशिश करता। वह भिड़ा रहता।

लोग आग दावानल से लाते थे, जबकि रहते रहवास में थे। लगता है यह रहवास वाली बात बाद में आई होगी। लट्ठों और टहनियों से बना रहवास आदिम झोंपड़ियों से पुरानी चीज थी। सभ्यता शायद तब तक इतना नहीं बढ़ी रही होगी। मित्र की बात मानें तो यह दुनिया की सबसे पुरानी कथा है और पच्चीस हजार साल पुरानी है। हो सकता है तब से अब तक आते-आते उसमें बहुत सारी बातें जुड़ गई हों। फिर इंसान की चेतना भी इतनी सक्षम कहाँ कि वह झूठ को



पकड़ पाये। ऐसी दुनिया की कल्पना कर पाये जिसमें घर, चूल्हा, कपड़े कुछ भी न हों, यहाँ तक कि भाषा भी नहीं। जब खेती नहीं थी, जब लोग गुफाओं में रहते थे, तब या तो वे शिकार करते थे, सहवास करते थे, खाते थे, सोते थे, गाते थे, नाचते थे और चित्र बनाते थे। वे नग्न थे, पर वे चित्र बनाते थे। वे गुफाओं में रहते थे, पर नाचते थे। वे गाते थे, पर तब भाषा न थी, शब्द भी न थे, पर वे गाते थे...। ऐसे में किसी लिंगो के किये को जान पाना कितना कठिन था। उसकी कथा को वैसा ही बता पाना जैसे यही बताना कि शब्द नहीं थे पर गीत था या यही कि चूल्हा नहीं था, भूख का इंतजाम न था, घर न था, कपड़े न थे, ...पर तब भी रंग थे, स्कैच थे, चित्रांकन था। वे आदिम लोग जिन लोगों ने भीमबैठिका, बुर्जहोम... और न जाने दुनिया की कितनी असंख्य गुफाओं में चित्र बनाये, उनमें रंग भरे... उनकी दुनिया देसी ही तो थी। लिंगो की कथा ऐसे ही दौर की कथा है, जब वह सब था जो लगता है शायद नहीं था। इसलिए वह तमाम ऐसी कथाओं से भर गया जो सच नहीं थी। वह उन स्मृतियों की गिरफ्त में आ गया जो उसकी दुनिया को समझने में नाकाबिल थीं। लिंगो की कथा ऐसी ही नाकाबिल स्मृतियों से भर गई लगता है।

वह पूरी रात चलता रहा। अगली सुबह वह फिर उस जंगली रहवास के पास पहुँच गया, जो अब ध्वस्त कर दिया गया था। उस ध्वस्त रहवास के पास वह उकड़ू बैठ गया। यह पक्का था कि वह लड़ नहीं सकता था। वे सात थे और वह अकेला। अब उसे लड़ना निरर्थक लग रहा था। उसे गाने-बजाने का मन कर रहा था। उसे अभी और गाना बजाना था और इस तरह उसे लड़ने का खयाल बेतुका लग रहा था। मामला सिर्फ सात विरुद्ध एक का भर नहीं था। वह जीना चाहता था। क्योंकि उसे गाना था, उसे आवाजों से खेलना था। उसे लगा वह इस सबसे कहीं दूर चला जाये, कहीं जहाँ कोई न हो। वह औरतों को भी छोड़ देगा। गाने बजाने के लिए वह सबकुछ छोड़ सकता है। उसे ज़िन्दा आता देख पुरुषों को घोर अचरज हुआ। औरतें भी अचरज में पड़ गईं। औरतों को पता चल गया था कि पुरुषों ने उसे मार दिया है। एक औरत यह जानकर खूब रोई कि वह मर गया है। कुछ और औरतें उदास हो गईं। पर उसको वापस आता देखकर वे सब एक किस्म के आश्चर्य मिश्रित खुशी से चहक उठीं। पता नहीं कैसे, पर कहते हैं कि औरतें पुरुषों को यह समझा पाई कि लिंगो को मारना ठीक नहीं है। अगर उसका संगीत छुड़ाना है और स्त्रियों से उसके संसर्ग पर लगाम लगानी है तो

इसका एक और तरीका है। वह यह कि लिंगो के लिए भी एक स्त्री ले आई जाये। स्त्री, जो सिर्फ लिंगो की स्त्री हो। जैसे पुरुष अपनी-अपनी स्त्रियों पर दावा करते हैं, उसी तरह एक स्त्री पर लिंगो का दावा हो। पुरुषों की घबराहट तब तक कम हो चुकी थी। वे यह भी मान चुके थे कि लिंगो शिकार कर सकता है। बेरछे के पीछे दौड़ते और तीर चलाते लिंगो को देखकर वे यकीन करने लगे कि वह बेहतरीन शिकारी हो सकता है। रोज के खाने के जुगाड़ में उसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। औरतें शायद ठीक कहती हैं कि, उसे मारना ठीक नहीं। जो लाभदायक हो उसे क्यों मारना ?

लिंगो के लिए एक औरत लाई गई। वह दूर पार कहीं कुछ और लोगों के साथ रहती थी। पुरुष उसे लिंगो के लिए ले आये थे। जबरदस्ती लाये थे। उन्हें पता था वहाँ दूर कुछ लोग रहते हैं। वे वहीं भटकते रहे थे और एक दिन उन्हें वह औरत वहाँ मिल गई थी। थोड़ा समय लगा पर फिर वह औरत लिंगो के साथ रहने लगी। कुछ दिनों बाद वह लिंगो के साथ घूमती। उसका गाना बजाना सुनती। फिर वह भी कुछ-कुछ गाने बजाने लगी। लिंगो कभी शिकार पर नहीं गया। पुरुषों की उम्मीद पर उसने पानी फेर दिया। शिकार के पीछे कूदते-फांदते लिंगो को देखकर पुरुष उत्साह से भर गये थे। वे लिंगो को शिकार पर चलने के लिए बार-बार कहते। पर वह नहीं गया। कहानी फिर वहीं पहुँचकर अटक गई। वही गाना बजाना, वही तफरी। वही दुनिया के बिगड़ने का खतरा। वही औरतों का भटकना। फिर से पुरुषों ने लिंगो से मुक्ति पाने की तरकीब सोची। वे यह जानते थे कि अगर उन्होंने लिंगो की औरत को भगा दिया तो उसे भी भागना पड़ेगा। पुरुषों ने एक दिन औरतों से कह दिया कह दिया कि लिंगो की औरत एक जादूगरनी है। एक टोनही।

लिंगो की औरत को बेदखल कर दिया गया। लिंगो भी उसके साथ बेदखल हो गया। जब वे दोनों जा रहे थे, तब पुरुष उन पर खूब हँसे। इस बार औरतें भी लिंगो के साथ नहीं थीं। लिंगो अब उनकी ओर ध्यान न देता था, बल्कि उसे अब अपनी औरत ही सबसे प्यारी लगती थी। फिर उसे यह भी भान था कि इन औरतों के कारण ही पुरुषों ने उसकी हत्या की योजना बनाई थी। वह किसी भी झंझट में नहीं पड़ना चाहता था। इसलिए भी वह अपनी औरत के साथ ही रहता था। जब उसकी औरत के टोनही होने वाली बात पुरुषों ने फैलाई तो औरतों ने भी उनका साथ दिया। वे भी चाहती थीं कि वे सब वहाँ से चले जायें। लिंगो की औरत आगे-आगे थी

और लिंगो उसके पीछे। पुरुष लिंगो पर हँसे। लिंगो पहला पुरुष था, जो अपनी औरत के बेदखल होने से बेदखल हुआ था। जो अपनी डायन से प्यार करता था।

पुरुष जानते थे कि दोनों जंगल में भटक-भटक कर एक दिन खत्म हो जायेंगे। जो शिकार नहीं करता उसका खत्म होना तय है। जो भटकता है, जो खोजता है, जो फितूरी है, जो कुछ नया और अबूझ करता है, जो दीवानों की तरह किसी अदेखे- अनजाने काम में लगा रहता है, जो आवाज और धुन का दीवाना है, औरतें जिसकी दीवानी हैं, जो जाने किस चीज का तो दीवाना है...उसका खत्म होना तय है। पर फिर भी उन्होंने जाते वक्त उसे लोहे की धातु का एक 'यू' आकार का टुकड़ा दे दिया। पर लगता है यह टुकड़ा उन्होंने नहीं दिया होगा। क्योंकि जिस दौर में आग भी जंगल से लाई जाती थी उस दौर में लोहा कहाँ होता होगा। कुछ लोग यह भी कहते हैं, कि लोहे का यह टुकड़ा उसे जंगल के बाहर मिला था। वहाँ सभ्यता थोड़ा आग बढ़ चुकी थी। पूरे दस हजार साल से भी ज्यादा आगे। याने जंगल के भीतर और जंगल के बाहर पूरे दस हजार सालों का अंतर था। बाहर के लोग खेती जान चुके थे और लोहे से परिचित थे। तो यह उसे वहीं मिला था, जंगल के बाहर किसी खेत के पास। आज के बस्तर के जनजातीय समाज में यह 'मोहर' कहलाता है। इसी पर लोहे का हल टिकता है। यह धुरी की तरह है। लिंगो को तो शिकार का ही ठीक-ठीक पता नहीं था। वह भला मोहर का क्या करता? पर उसे पाकर वह चमत्कृत था। उसने इससे पहले ऐसी कोई चीज न देखी थी।

लिंगो और औरत जंगल में भटकते रहे। बहुत से खरहे, हिरण, तीतर, बटेर... उनके सामने से दौड़कर निकलते, लिंगो और औरत उसे पकड़ने को लपकते। लिंगो तीर से निशाना साधता। पर उसका निशाना न लगता। उस दिन भी अगर वह गुस्से से भरा हुआ न होता तो बेरछे के शिकार का वह कौशल न दिखा पाता। वह उसकी क्षमता न थी, बल्कि सिर्फ एक उत्तेजना थी कि वह बेरछे के पीछे भागा गया। वह कभी शिकार कर ही नहीं सकता था। जब भूख सताती लिंगो किसी जंगली जानवर को पकड़ने तीर धनुष छोड़ बेतहाशा दौड़ता। पर परिणाम सिफर। लिंगो और औरत भूखे पेट जानवरों को पकड़ने दौड़ते। उन्होंने पत्ते खाये और कुछ कन्द भी, जिन्हें औरत जानती थी। औरत को कुछ अनाज का भी पता था, जो घास के साथ उगता था और जिसके बीज झाड़कर खाया जा सकता था। तब सागौन और बीजा के उस

घनघोर जंगल में मांस के अलावा कुछ और था भी नहीं खाने को। सैंकड़ों बरसों बाद इंसान ने महुआ, तेंदू और इमली को खूब लगाया, ताड़ी, सल्फ्री और छिन्द के पेड़ उगाये। पर उस समय कुछ भी तो नहीं था। वे कई दिनों तक भूखे भटकते रहे और फिर एक दिन जंगल के बाहर फैले एक मैदान में निकल आये।

वह एक अगल दुनिया थी। जंगल के बाहर की दुनिया। वहाँ झोंपड़ियाँ थीं। ऐसे रहवास उन दोनों ने कभी नहीं देखे थे। जंगल में छिपकर वे यह सब देखते रहे थे। झोपड़ियों के चारों ओर खेत थे, मैदान थे। ये खेत और मैदान जंगल को काटकर, साफ कर वहाँ रहने वाले लोगों ने तैय्यार किये थे, जो जंगल के लोगों से बहुत दूर उस बाहरी दुनिया में रहते थे और जहाँ कई दिनों से भटकते वे दोनों निकल आये थे। उस मैदान के इर्द-गिर्द 'वलेक' के पेड़ थे। वलेक याने सेमल। चारों ओर सेमल के पेड़। एक गोलाई में उगे हुए। उनके बीच एक विशाल खाली जगह थी। एक रात वे जंगल से बाहर निकलकर उस मैदान तक आ गये। वहाँ अन्न निकालने के बाद पड़े पुआल का ढेर था। वे पुआल के ढेर के पीछे छिप गये। पुआल में कहीं-कहीं कुछ अन्न के दाने लटक रहे थे। लिंगो की औरत को पता था, कि इस पुआल में दाने होते हैं। घास के साथ उग आने वाले इस पौधे को वह जानती थी। जो बरसात के पहले उगता था और ठण्ड आते-आते पक जाता था। दूधिया सा इसका बीज खाने में स्वादिष्ट था। तब उसका कोई नाम नहीं था, बाहर की दुनिया में उसे धान कहा गया बहुत बाद में, बहुत बहुत बाद में।

तभी एक आदमी वहाँ आ गया। उसे देख वे दोनों थोड़ा डर गये। पर भूख बहुत तेज थी। उसने उस बाहरी आदमी से पूछा। उसे नहीं पता था कि उस बाहरी आदमी को बाहर की दुनिया में किसान कहते हैं। उसे किसान के बारे में नहीं पता था, किसान ही क्या उसे तो खेती के बारे में भी नहीं पता था। उसने किसान से पूछा कि क्या वह उस अन्न के दानों को निकाल सकता है। किसान उसकी बात समझ नहीं पा रहा था। पर जब कुछ समझ आया तो उसने अपनी गरदन हिला दी। मतलब 'हाँ'। लिंगो उस 'मोहर' से उस पैरे के ढेर को पीटने लगा। भूख से बेहाल स्त्री उससे कुछ दूर ज़मीन पर निढाल होकर बैठी थी। वह अपनी औरत को देखता और उतनी ही जोर से पैरे की ढेर पर 'मोहर' को मारता। अन्न के दाने टूट-टूटकर गिरने लगे। वे झड़ते गये, लगातार। इतना झड़े कि अनाज का एक ढेर सा लग गया। किसान अचरज में

था। उसने पहली बार देखा था कि कोई इतना अनाज भी निकाल सकता है, वह भी सूख गये पैरों से। कहानी में यून है कि अन्न के दानों को पता था, कि यह लिंगो है और यह मुहर है। कि इससे खेती होगी। कि इससे ही भूख का नाश होगा, इसलिए वे खूब झड़े इतना कि किसान की आँखें अचरज से फैल गईं। दण्डामी माझी जब कथा के इस भाग को कहता है, तो जोर-जोर से कहता है, हर शब्द पर जोर देता। पर अब हम जानते हैं, कि यह ठीक-ठीक ऐसा नहीं हुआ था। वहाँ भूख थी, वहाँ खेती की चेतना नहीं थी, वहाँ अनाज को पा लेने की भयावह आतुरता थी...वह जादुई नहीं था, वह बहुत कठिन और दारुण था।

लिंगो और स्त्री ने वह अनाज खाया। चारों ओर गहन अँधेरा था। दूर एक किसान बैठा उनको देख रहा था। वह खुश था। वह अचरज में था। उसे यकीन नहीं नहीं हुआ, कि धातु के एक टुकड़े से इतना अनाज झर सकता है। कथा में कहा गया है कि, उसने बड़े आत्मीय और सम्मान के भाव से लिंगो को देखा। उसने अचरज से जरूर देखा था। उसे वे किसी दूसरी दुनिया के बेहद अलग लोग लगे थे, जो लगातार पैरों को पीटकर अनाज झड़ा सकते थे। किसान को भूख का तो पता था, पर ऐसी किसी अनिश्चित भूख का पता न था, जिसके बुझने का कोई समय तय न हो...जो कई-कई दिनों तक चले...जो बेहद आदिम युग में थी, किसी दीवानगी में, धुन और लय की दीवानगी के साथ जिस भूख ने पसराये थे अपने पैर...शिकार पर न जाने सद्विच्छा और ज़िद ने जिस भूख को पैदा किया...जो अज्ञात थी, अबूझ सी, जिसका कोई इतिहास नहीं हुआ...जिसकी कथा में जुड़ती गयी अज्ञान से भरी स्मृतियाँ, झूठ के आख्यान...जिस पर लिखे गये असत्य भाष्य...जो उपजी थी आवाजों को तरतीब देने के असह्य लालच में...जो नकार थी इंसान के तारतम्य से भरी ज़िंदगी का...। फिर कहीं ऐसी भी भूख...ऐसी भूख जिसके लिए कोई चूल्हा नहीं होता। कोई खेत नहीं होता। ऐसी भूख जिसके लिए कहीं कोई रोटी नहीं होती। अनाज नहीं होता। दस हजार साल पीछे छूट चुकी भूख, जिसकी कोई तरतीब नहीं, कोई इबादत नहीं, कोई किस्सा नहीं...जो जंगलों में जानवरों से लड़ते-भिड़ते इंसानों के पुरखों ने गुजारी, कभी खुद शिकार बनते और कभी शिकार करते। जंगल की कितनी पुरानी भूख, जो हमारे पुरखों के चेतना में थी। इतिहास के गर्त में..।

...बस्तर में एक गाँव है, जिसका नाम है सेमर गाँव। वहाँ जंगल खत्म होता है। सेमल के छितर पेड़ों का एक

विशाल जंगल है। उस जंगल के बीच एक खाली छूटी जगह है। उसमें दूर तक फैले कुछ खेत हैं। कुछ बहुत पुराने खेत। कहते हैं लिंगो इसी जगह पर आया था और उसने अपनी डायन औरत के साथ भूख मिटाई थी।

...बरसों बाद जंगल के लोगों को लिंगो का पता चला। पता चला कि उसने अब गाना बजाना छोड़ सा दिया है। वह अब नया कुछ करना चाहता है। कहते हैं वह घास के पौधों से अन्न झड़ाता रहता है। उसके पास कुछ है, कुछ अजीब सी चीज जिसे वह सूखे घास के ढेर पर मारता है। वह बहुत से ऐसे पौधे उगाना चाहता है जिसमें से अनाज झरता है। पर कैसे? वह नहीं जानता। उसने बाहर की उस दुनिया में देखा था, कि वे पौधे एक साथ एक जगह पर उगे थे। वह आदमी उनकी ओर इशारा करके उसे 'खेत' कह रहा था। वह जानना चाहता था, कि कैसे खेत बनता है? कैसे उगते हैं पौधे एक साथ? पर उसे नहीं पता था, कि उसके और उस आदमी के बीच दस हजार साल का अंतर था, वह उसकी बात नहीं समझ सकता था और वह उसकी दुनिया पर अर्चभित होने के अलावा कुछ और नहीं सोच सकता था।

....कुछ दिनों बाद लिंगो वापस आ गया। कई दिनों की बहुत लंबी यात्रा के बाद। उसी जगह जहाँ से वह चला था। मालूम हुआ अब सिर्फ पाँच पुरुष ही रह गये थे। दो को जंगली जानवर खा गये थे। एक औरत बीमार हो गई थी। वह रात दिन गाना गाती और जमीन पर लकड़ी पीट-पीटकर ताल देती। पाँचों पुरुषों ने पाया कि लिंगो उस डायन औरत को बहुत प्यार करता है। उन्होंने कहा कि उस डायन का जादू अब लिंगो के शरीर में उतर आया है। अभी एक औरत बीमार हुई है कल को सारी औरतें बीमार हो जायेंगी। लिंगो के भाइयों ने औरतों को बताया था, कि जिस पुरुष में स्त्री का टोनहा आ जाये वह पूरे जंगल, पूरे आकाश का संहार कर सकता है। वह नई सृष्टि गढ़ सकता है। वह सर्वनाश कर सकता है। वे लिंगो को खत्म कर देना चाहते थे। उनके अनुसार वह अब सारी दुनिया के लिए खतरा बन गया था।

‘एक बार काले आकाश के नीचे लेटी डायन औरत उदास थी। उन दिनों आकाश में चाँद तारे न थे। आकाश काला था, निपट काला, बेरौनक और बेरौशनी। लिंगो ने उसके लिए एक चाँद बना दिया, जो अक्सर रात उस डायन औरत के चाहने पर आकाश में उतर आता। उसने बहुत से तारे बनाये और उनको आकाश में छोड़ दिया।’

दण्डामी माझी लगातार कह रहा था। मुझे लगा मुझे उसे टोकना चाहिए। बताना चाहिए कि मूल कथा बदल दी गई है। बहुत पहले ही। इस तरह कि पता भी नहीं चलता कि वह लिंगो की ही कथा।

‘चाँद तारे बनने की कहानी अगल है। वह यह कहानी नहीं है।’

मैंने एकदम से कहा था। दण्डामी चुप हो गया। दो और लोग भी वहाँ थे, वे मुझे घूरने लगे। दण्डामी चुप रहा फिर धीरे से कहने लगा।

‘...जो नई बात करता है, वही गढ़ता है वही बनाता है, वह भूख पर भी शिकार को नहीं जा पाता, वह बनाता रहता है और इस तरह दुनिया बनती है। हम पढ़े लिखे नहीं हैं, इसलिए नहीं मानते कि जिसने आग ढूँढ़ी, संगीत ढूँढ़ा, खेती ढूँढ़ी...उसके अलावा कोई और है जिसने दुनिया को बनाया। यह जो दुनिया है, यह लिंगो की है, क्योंकि उसने इसकी शुरुआत की...। आप यकीन करो यह चाँद-तारे उसी ने बनाये।’

मुझे लगा कि कभी दण्डामी को बताऊँगा, सत्य और असत्य के भेद को...प्रक्षप्तियों के झूठ को, टीकाओं के छल को...उस असत्य को जो भरमाता है यादों को, गढ़ता है बेतुकी स्मृतियाँ...कभी बताऊँगा चाँद-तारे बनने के सच्चे किस्से को...बिग-बैंग को...आज के विकास के कौतुहल को। पर यह तो जंगल में रहता है। इसके गाँव तक कोई रास्ता नहीं आता। अबूझमाड़ के धुर अंतरतम में, दुनिया से बेवफा, जहाँ इंतजार भी बेमानी है, ‘आस’ एक खत्म हो चुकी दुनिया का शब्द है जहाँ...वहाँ खुद से इतना आश्वस्त और संजीदा... इसे कैसे समझाऊँगा कि एक दुनिया है, बहुत आगे बढ़ चुकी दुनिया, जो नहीं मानती कि जो पहला है, भूख और जीवन से जुदा...भटकता है अपनी धुन में पागलों की तरह, ढूँढ़ लाने कोई नई बात, कोई नई धुन...वही रचयिता है एक नई सृष्टि का, नहीं मानती कि जिसने ढूँढ़ा उसने ही शुरुआत की...अंततः उसी ने...। अबूझमाड़ के इस बियाबान में तुम्हारी यह सोच कितनी तो अकेली है दण्डामी। यह खयाल, यह स्वप्न कितना तो जुदा है...। तुम किस दुनिया के बाशिंदे हो दण्डामी? क्या तुम्हें नहीं लगता कि लिंगो की इस कथा के साथ तुम अकेले छूट गये हो? इस निर्जन बियाबान में बिल्कुल अकेले। जब उस अकेले, हम दो चार लोगों को वह सुनाते हो अपनी छाती पर हाथ रख, किसी

गीत से बताते हो उस झूठ के मर्म को, उस खयाल को, उस स्वप्न को जो आता रहा होगा पुरखों के युग से एक सा...तब लगता है पता नहीं कितने लोग होंगे जो जान पायें तुमको...।

‘...जब वह गाता, तब बारिश होती। भरी गर्मी में महुआ के फूल बेतरह टपक-टपक कर पानी में गिरते। उसमें सड़ते और एक अजीब-सी मदमस्त खुशबू जंगल-जंगल दौड़ती। लिंगो और औरत सड़े महुआ का वह पानी पीते। छककर। नशे में निढाल वे रात-दिन नाचते, उत्सव मनाते, संभोग करते। उन्हें नहीं पता था, कि बरसों बाद दुनिया इस पेय को एक नाम देगी... ‘शराब’ और उसे पता भी नहीं होगा कि, एक लिंगो था और एक उसकी स्त्री।’

दण्डामी डूबकर कहता है। मानो पहली बार कह रहा हो, मानो हर बार यह कहानी बदल जाती हो। वह कहता है कि सिर्फ लिंगो ने गढ़ी यह दुनिया। भले लोग न मानें, न जानें पर वह लिंगो ही था। मैं उससे पूछना चाहता हूँ कि क्या वह ईश्वर के बारे में जानता है? या यही कि क्या वह उसके बारे में जानना चाहता है? क्या वह कुछ और जानना चाहता है, इस बारे में कि यह दुनिया कैसे बनी? जैसे यही कि ग्रीस में कोई ज्युपिटर था, हमारे यहाँ ब्रम्हा, कि कोई रा था इजिप्ट में... लाखों दावे, लाखों किस्से कि किसने बनाई दुनिया...क्या वह जानना चाहता है?

फिर एक दिन लिंगो को उन पुरुषों ने पकड़ लिया। लिंगो रोज कुछ न कुछ नया बनाता जा रहा था। वे मानते थे कि जो नया बनाता है, वह अनुपयुक्त है। जो नई बात करता है वह घातक है। जो नया सोचता है, नया ढूँढ़ता है दुनिया को उसकी जरूरत नहीं। जिस तरह संगीत को खोजकर उसने उनकी दुनिया में संकट पैदा किये वैसे ही और उससे भी भयानक संकट वह पैदा कर सकता है। वह खोज सकता है कोई नया स्वप्न, बोलने-बतियाने का कोई नया तरीका, कोई कविता, कोई अनहोनी सी वस्तु, वह सोच सकता है आकाश में उड़ने के बारे में, समुद्र में बहुत गहरे उतरने के बारे में, वह सोच सकता है चाँद पर जाने के बारे में...दुनिया के लिए कितना तो बेतुका होगा ऐसा इंसान। वे सोचते रहे हजारों बरसों तक। इस तरह वे पाँचों लिंगो को सृष्टि का विनाशकर्ता मानते थे। एक दिन उन्हें लिंगो मिल गया। डरे घबराये उन पाँचों ने लिंगो को पकड़ लिया। उसको आग में जला दिया। ‘...जंगल में जो आग जलती है, उसमें से आज भी अठारह वाद्य यंत्रों की आवाज सुनाई देती है। उसमें हवा की सरसराहट और सीटी से अपना गला मिलाती एक धुन सुनाई देती है।

उसमें प्यार की एक लय है। उस आग से शराब की एक मादक गंध उठती है, आज भी।’

दण्डामी कहता है। अटकता हुआ। संभलता हुआ। चुप होता हुआ। वह नहीं जानता अबूझमाड़ में होने का मतलब। उसे नहीं वास्ता अकेले पड़ जाने की किसी बात से। कभी कुछ लोग आते हैं। कई-कई महीनों के बाद। कभी कोई उससे किस्सा सुनना चाहता है। कभी उसका मन होता है। कभी उसका मन नहीं होता है। कभी वह सुनाता है। कभी वह सुनने आने वालों को भगा देता है। उसे यकीन है। अबूझमाड़ की निपट निर्जनता और अकेलेपन के बाद भी, घने बियाबान

में खुद को कभी बेहद अनजान और बेतुका महसूस करने के बाद भी...कि वह सही है, बाकी सब गलत।

उसे यह बताना आसान नहीं कि बहुत पहले कभी बस्तर में आया था वारंगल का राजा। वह अपने साथ बहुत से देवी-देवता लाया था। धीरे-धीरे वे देवी-देवता ही मान लिये गये। बीतते इतिहास के साथ-साथ जंगल के देवता हारते गये। उनके किस्से मिथकों में बदल गये। उनका सच एक आदिम गप्प हो गया।

---

35, रेसकोर्स रोड,  
ग्वालियर 474002 (म. प्र.)  
मो.-09425191559

राकेश दुबे

## कउने खोतवा में लुकइलू....

वंशी काका आजकल दिन में तीन चार बार मोहन के घर जाकर यह जरूर पूछते हैं कि वह शहर से कब आएगा। उनके इस बेचैनी का रहस्य मोहन के घर वाले बखूबी जानते हैं। वे ही क्या पूरा गाँव जानता है कि उनके इस तरह से बेचैन होने का क्या मतलब है। मोहन के घर वाले मुस्कराते हैं 'काका इस बार तो मोहन महीने भर बाद ही घर आएगा।'

उनके इस जवाब पर तड़प उठते हैं काका 'लेकिन वह तो हर शनिवार को घर आता है।'

'आता तो है लेकिन इस बार परीक्षा की वजह से नहीं आएगा।'

'अरे कौन सी कलेक्टरी की परीक्षा है जो एक दिन घर आने से खराब हो जाएगी।' झल्लाते हैं वंशी काका। काका की झल्लाहट का मतलब साफ है। मोहन शहर जाते समय जरूर उनको छूकर चला गया होगा। अब जब तक वे भी मोहन को छू नहीं लेंगे ऐसे ही बेचैन रहेंगे।

वर्षों हो गये यदि कोई वंशी काका को छू ले तो जब तक वे उसे दुबारा छू न लें चैन नहीं आता उन्हें। वे ऐसा क्यों करते हैं किसी को इसका ठीक ठीक कारण नहीं पता है लेकिन अनुमान सबके पास है। किसी के लिए यह मानसिक बीमारी है तो किसी के लिए भूत प्रेत का साया। कारण चाहे जो भी हो पर काका की इस आदत ने बच्चों को मनोरंजन का एक नया साधन दे दिया है। वे काका को छूकर भाग जाते हैं काका उन्हें छूने के लिए उनके पीछे जी जान से दौड़ लगा देते हैं। कई बार उन बच्चों को न छू पाने की कातरता उनकी आँखों से आंसुओं के रूप में दिखने लगती है। बच्चे जल्दी ही सबकुछ भूल दूसरे काम में लग जाते। उन्हें आश्चर्य तब होता जब दो चार दिन बाद अचानक

काका उन्हें छूकर धीरे से मुस्करा उठते 'देखा। मैंने तुम्हें छू लिया। तुम उस दिन मुझे छूकर भाग गये थे।' उस समय उनके चेहरे की खुशी देखने लायक होती। धीरे धीरे पूरा गाँव उनकी इस आदत से परिचित हो गया। अब तो नात रिश्तेदार भी जान गये हैं। बच्चों के साथ साथ बड़े बूढ़े भी अब मजे लेकर उनकी इस आदत का जिक्र करते हैं।

उनकी इस आदत के अलावा बच्चे उन्हें एक और बात के लिए तंग करते हैं। जब भी वे उन्हें एकांत में पाते हैं घेर कर खड़े हो जाते हैं 'काका। गाना सुनाइए न।'

'चुप ससुर नहीं तो। गाना सुनाइए। अपने बाप से क्यों नहीं कहते गाना सुनाने को।' काका डपट देते।

'काका अगर गाना नहीं सुनाओगे तो हम तुम्हें छूकर भाग जाएंगे।' बच्चे अपना आखिरी और सबसे मजबूत दांव आजमाते।

इस दाँव पर काका हमेशा ही हथियार डाल देते हैं। वे तुरंत पालथी मार कर बैठ जाते हैं जैसे पूजा की तैयारी कर रहे हों। बच्चे भी उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ जाते हैं। सभी यह जानते हैं कि बाबा वही गीत सुनाएंगे फिर भी सब दम साधे रहते हैं। अनगिनत बार वे यह गीत सुन चुके हैं लेकिन जब भी काका यह गीत सुनाते हैं गाँव का उद्दंड से उद्दंड बच्चा भी भाव विभोर हो उठता है। बाबा की आवाज वातावरण को बेध उठती है।

'कउने खोतवा में लुकइलू अहि रे बालम चिरई।' वर्षों से बाबा केवल यही गीत गाते हैं। एक अजीब सी तड़प होती है उनकी आवाज में। कभी कभी तो रात के बारह बजे जब पूरा गाँव दिन भर की मेहनत के बाद गहरी नींद सो रहा होता है काका की तड़पती टेर न जाने कितने कलेजों में कसक पैदा कर जाती।

लेकिन गाँव के बुजुर्ग बताते हैं कि वंशी कभी और भी गाने गाते थे। वे उनकी उठानी के दिन थे। बहुत जल्दी ही उनकी आवाज का जादू गाँव जवार के सर चढ़कर बोलने लगा। वे देखते देखते ही गाँव की कीर्तन मंडली की शान बन गये। कसा हुआ सलोना शरीर कंठ में साक्षात् सुरसती का वास। वे जब भी कहीं बाहर गाने जाने को तैयार होते माँ सर और गले पर काजल का टीका जरूर लगातीं। वंशी कई बार झल्ला उठते 'अब मैं कोई छोटा बच्चा नहीं हूँ जो किसी की नजर लग जाएगी।'

माँ मुस्कराती 'तुम कितने भी बड़े हो जाओ लेकिन मेरे लिए तो बच्चे ही रहोगे। तुम्हें क्या पता है एक से एक जादूगरनियाँ हैं एक नजर से ही ऐसा गला बांध देती हैं कि सांस नहीं निकलती।' वंशी चुप होकर हौले से मुस्कराने लगते। जब वे गाँव के शिवाले पर ढोल और मजीरे की थाप पर 'तुहरे सरनियाँ में बानी सुन हे भोला अवढर दानी' का आलाप लेते तो बड़ी बूढ़ी औरतों के तमाम पहरे के बावजूद अनगिनत खिड़कियाँ खुलने की जिद कर बैठतीं।

गाँव वालों को अब होली का बेसब्री से इन्तजार है। इस बार होली पर फाग का मुकाबला पड़ोस के गाँव बीरपुर में होना है। इन दोनों गाँवों का सम्बन्ध भारत पाक सम्बन्धों की याद दिलाता है। खेल हो संगीत हो या मेड़ डांड का मसला हो हर जगह एक दूसरे को नीचा दिखाने का कोई भी मौका कोई नहीं छोड़ना चाहता है। होली के दिन फाग के मुकाबले की परंपरा वर्षों पुरानी है जो एक साल इस गाँव में तो दूसरे साल बीरपुर में होता है। फाग के रूप में बकायदा जंग। साल भर गवइयों की टोली केवल इसी दिन के लिए रियाज करती है। विजेता की औपचारिक घोषणा न होने के बावजूद यह पता चल ही जाता है कि कौन बीस रहा। प्रतिद्वंद्विता के बावजूद श्रेष्ठता पर वाह वाह करने का कलेजा गाँव की विशिष्टता है। गाँव के लोग मन ही मन यह स्वीकार करते हैं कि बीरपुर वाली टोली अच्छा गाती है। लेकिन इस बार वंशी की गायकी देखकर उनके मन में उत्साह है। वंशी जैसा गवैया उनकी टोली में नहीं है। वह अकेले पूरे गाँव पर भारी पड़ेगा। माना कि मुकाबला उनके गाँव में है लेकिन अच्छी गायकी का वे भी सम्मान करते हैं। प्रधान जी ने ऐलान कर दिया है 'अगर बीरपुर में झण्डा गड़ गया तो पूरी टोली को पंचायत की ओर से दावत।'

वंशी भी उत्साहित है। नहा धोकर सबरे ही काली माई के चौर पर कपूर जला आया 'माई लाज रखना। मर्द की जान भले ही चली जाए लेकिन शान नहीं जानी चाहिए। पानीदार मरद का जीवन शान के बिना मृतक के समान होता है। पगड़ी की लाज रखना माई।'

पेट्रोमैक्स की रोशनी में समूचा बीरपुर नहाया हुआ है। बुजुर्ग चारपाई पर तो बच्चे और जवान नीचे ही बैठकर मुकाबले का मजा ले रहे हैं। एक किनारे औरतों की मण्डली भी जमी हुयी है। मुकाबला अब तक बराबरी का ही चल रहा है।

वंशी के उठते ही माहौल में गरमी आ गयी। उसकी गायकी की खबर बीरपुर में भी पहुँच चुकी है। वे जानते हैं कि यह मुकाबले का निर्णायक दौर है। वंशी ने मन ही मन काली माई का सुमिरन किया फिर भीड़ का जायजा लेना शुरू कर दिया। आचानक उसकी नजर औरतों की टोली में ठहर गयी। एक चेहरे ने मानो उसे बांध ही लिया। उसने कोशिश किया वापस आने का लेकिन सफलता नहीं मिली। भीड़ का उत्साह चरम पर था। वंशी को चुहलबाजी सूझी। नजरों से ही पूछ लिया 'का गुइयां। साथ दोगी।'

नजरें मुस्कराई 'गाँव से दगा नहीं कर सकती।'

वंशी के होठ फड़के 'लड़की का असली गाँव तो ससुराल का होता है न।'

उधर भी होठ बुदबुदाए 'इतनी जल्दी। पहले जीतो तब सोचेंगे।'

दिल धड़क उठा वंशी का 'तो इसे स्वयंवर समझो। तुम हार जाओगी।'

धड़कन ही इटलाई 'देखेंगे।'

वंशी ने खुद को संयत किया, सुर का। संभाला और आलाप लिया।

'तुहरे झुलनी के कोर कटारी जान हति डारी।

कि झुलनी तू नइहर पवलू कि पवलू ससुरारी।

कि झुलनी कोई यार गढ़ावत कि कइलू सोनरवा से यारी जान हति डारी।''

गाँव के लोगों ने वंशी को कंधे पर उठा लिया। काली माई की जय महावीर स्वामी की जय से वातावरण गूँज उठा। वंशी ने मैदान मार लिया। बीरपुर के लोगों ने भी खुले मन से बधाई देना शुरू कर दिया। लेकिन भीड़ में घिरा वंशी किसी और को ही तलाश रहा था।

जाते जाते चेहरे ने पलट कर देखा। वंशी मुस्कराया 'वादा याद रखना गुइयां। तुम हार गई।'

चेहराया मुस्कराया 'तुम सचमुच जीत गये।'

पूरा गाँव इस जीत से उत्साहित है। वर्षों बाद पड़ोसी गाँव के सामने सर ऊँचा करके चलने का मौका आया है। पंचायत की ओर से कीर्तन मंडली को दावत दी गयी। वंशी

के लिए तो प्रधान जी विशेष रूप से शहर जाकर जींस की पैंट और टी शर्ट लाए। वंशी गाँव का नया हीरो हो गया है लेकिन यह केवल वंशी को पता है कि वह हार गया है। उसे ऐसा लग रहा है जैसे वह उस रात वापस ही नहीं आ पाया। रात को जब भी सोना चाहता है दो उदास आँखें सामने खड़ी हो जाती हैं 'हमने तो तुम्हें अपना मान लिया है। कहीं तुम वादा भूल तो नहीं जाओगे।'

वंशी करवट बदलता है 'तुम्हें भूल ही तो नहीं पा रहा हूँ गुइयां। पर तुम्हें ढूँढे भी कहां। नाम तो तुमने बताया ही नहीं अपना।'

'बुद्धू तुमने पूछा भी कब।'

'पूछता कैसे। तुम इतनी भीड़ में जो थी।'

वंशी बेचैन हो उठता। यह बेचैनी हर दिन बढ़ रही थी। मंडली वाले साफ महसूस कर रहे थे कि बीरपुर से आने के बाद वंशी बेमन हैं। अब वे श्रृंगार में भी विरह का आलाप लेने लगे हैं। घर के किसी काम में मन नहीं लगता। लोग सोच में हैं। क्या यह वही वंशी है जो मिलने पर घंटों इधर उधर की बातें करता। कई बार तो लोग झुंझला उठते 'अरे भाई तुमको तो कोई काम धाम है नहीं हमें बहुत काम करना है।'

वंशी मुस्कराकर कहता 'कभी हम भी काम करेंगे।' आज वही सामने से इस तरह निकल जाता है जैसे देखा ही न हो। आजकल उसका अधिकांश समय बीरपुर के सिवान पर ही बीतता है। अकेले सिवान पर बैठे बैठे वह बीरपुर की ओर न जाने क्या एकटक निहारता रहता है। कई बार अकेले ही बड़बड़ाता है 'यह तुमने क्या किया वंशी। कहां दिल लगा बैठे। न नाम पूछा न पता। पता नहीं उसे तुम्हारी परवाह भी है या नहीं। कहां परवाह है। परवाह होती तो इस तरह से आराम से घर में थोड़े ही बैठी होती। जरूर किसी न किसी माध्यम से खबर भेजती। लेकिन खबर भेजती भी तो कैसे। जब वह मर्द होकर खबर नहीं भेज पाया तो वह बेचारी। वंशी आलाप लेते हैं

'मंदिर से मस्जिद ले ढूँढली गिरिजा से गुरुद्वारा  
काशी से मथुरा ले ढूँढलीं ढूँढलीं तीरथ सारा  
पंडित से मुल्ला ले ढूँढलीं ढूँढलीं घरे कसाई

सगरी उमरिया छछनत जियरा कंहवा तुहके पाई  
कवने बतिया पर कोंहइलू अहि रे बालम चिरई।''



राप्ती की बाढ़ सचमुच इस साल कहर ढाने पर आमादा है। हर तरफ पानी ही पानी। सारी फसल बर्बाद। गाँव के लोग बिल्कुल खाली। जब फसल ही नहीं तो काम क्या करेंगे। कल तो पानी गाँव में भी प्रवेश कर गया। पांडे चाचा बताते हैं कि पिछले 25 सालों में यह पहला मौका है जब राप्ती का पानी गाँव में पहुँचा है। सभी बंधे पर शरण लिए हैं। बाढ़ ने समाजवाद ला दिया है। वंशी मन ही मन मुस्कराता है। जय हो राप्ती मइया। तुम्हारी लीला अपरंपार है। एक झटके में दूबे चौबे यादव हरिजन सबको बराबर कर दिया। थोड़े से जगह में पूरा गाँव। किसी के छूने से किसी का धरम नहीं बिगड़ रहा है।

वंशी के खुश होने का एक और भी कारण है जिसे वह किसी से भी जाहिर नहीं करता। बाढ़ के कारण बीरपुर के लोग भी इसी बंधे पर आ गए हैं। और वे जाते भी कहां। जीवन की चाह सभी मान सम्मान पर भारी पड़ती है और जीवन फिलहाल इसी बंधे पर है। वंशी उत्साहित है। यही मौका है उसे ढूँढ़ने का। ढूँढ़ लो अपनी गुड़ियां को।

पूरे बंधे पर केवल प्लास्टिक के तंबू नजर आ रहे हैं जैसे विशाल जलराशि में तमाम नौकाएं तैर रही हों। औरतें बच्चे बूढ़े सभी उसी बरसाती में। दोनों गाँवों के बीच की दीवारें भी तमाम चीजों के साथ इसी जल में विलीन हो गयी हैं। वर्षों बाद यह देखने को मिला है जब दोनों गाँवों के लोग एक साथ मिलकर राप्ती मइया की प्रार्थना कर रहे हैं 'हम वर्षों से तुम्हारी छांव में जीवन बसर करते रहे हैं। तुमने हमेशा हमें माँ की तरह प्यार दिया है अब हमसे कौन सी ऐसी गलती हो गयी है जो तुम इस तरह से नाराज हो गयी हो।'

बनवारी यादव खांसते खांसते बोल उठते हैं 'धरती पर जितना ही अधरम बढ़ेगा उसका यही परिणाम होगा। परलय आखिर इसी को तो कहते हैं।'

सुदामा समर्थन करते हैं 'ठीक कहते हो बनवारी भाई। जहां देखो वहीं झूठ फरेब और मक्कारी। आदमी आदमी का गला काटने में लगा हुआ है। यह तो केवल चेतावनी भर है आगे आगे देखो होता क्या है।'

तमाम पेशानियों के बावजूद नौजवान खुश हैं। कोई काम नहीं सिर्फ दिन भर की तफरी। सबेरे से ही बोरियां बिछाकर ताश की अलग अलग टोलियां जम जाती हैं। मजीद

मास्टर का हृदय परिवर्तन उन्हें आश्चर्यचकित कर रहा है। नाव पर सवार होकर कस्बे से गुटखा लाते हैं। आम दिनों में अपने बाप को भी उधार देने से मना करने वाले मास्टर आजकल किसी को भी मना नहीं कर रहे हैं। जिसके पास नहीं भी पैसा है उसे भी। पूछने पर मुस्करा देते हैं 'अब इसमें क्या हिसाब रखना। जो बचेगा वह जोड़ेगा। कोई लेकर थोड़े ही जा पाएगा।' मजे की बात यह कि आम दिनों में उधार न देने पर मास्टर को गालियाँ देने वाले आजकल उधार लेने से बच रहे हैं 'कौन जाने जिन्दा भी रहें या नहीं। फिर किसी का उधार खाकर क्या मरना।'

ताश और गुटखे की जुगलबन्दी। मजा यह कि कोई टोकने वाला भी नहीं। और दिन होता तो गालियों से कान पक जाते 'ससुरे आवारा हो गये हैं। न कोई काम न धाम। जब देखो तब ताश। इन नशेडियों ने गाँव का माहौल खराब करके रख दिया है।' शिवपूजन मिसिर का यह रटा रटाया जुमला है जिसे सुनने की आदत हर नौजवान को है। आजकल वही शिवपूजन मिसिर अक्सर कहते सुने जाते हैं 'लड़के भी बेचारे क्या करें। अब कोई काम धाम भी तो नहीं रह गया है। अब ताश भी न खेलें तो कहां जाएं।'

सूरज के मगन होने के अपने कारण हैं। वह रोज राप्ती मइया का धन्यवाद देता है 'हे मइया। पूरे महीने ऐसे ही कृपा रखना। कहां रंधिया से मिलने के लिए दिन रात जुगत भिड़ानी पड़ती थी कई कई दिन चक्कर लगाने के बाद भी देखना नसीब नहीं हो पाता था और आजकल राप्ती मइया की कृपा से बिल्कुल बगल में ही उसकी बरसाती है। रंधिया इतनी नजदीक है कि वह रात को उसकी धड़कन को भी साफ साफ महसूस कर सकता है। गाँव के तमाम प्रेमी प्रेमिकाओं की आजकल चांदी है।'

शाम होते ही कीर्तन मंडली जम जाती है। समय जो काटना है। दोनों गाँवों के लोगों को एक साथ गाते हुए देखना सबको सुखद लगता है। देर रात तक ढोल मजीरों की थाप पर जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी को ठेंगा दिखाते देखना किसी के लिए भी आश्चर्यजनक हो सकता है पर यहां के लोगों के लिए यह स्वाभाविक सा ही है। वंशी की कमी जरूर सबको खलती है। उसे पता नहीं आजकल क्या हो गया है मंडली में शामिल ही नहीं होता। बहुत कहने सुनने के बाद यदि आता भी है तो बस चुपचाप बैठा रहता है। उसे तो आजकल समाजसेवा का धुन सवार है। दिन भर समाजसेवी

संस्थाओं की गाड़ियों की बाट जोहता रहता है। खाने के पैकेट दवाइयाँ कपड़े इकट्ठा करता है फिर शाम को घर घर घूम कर बांटता है। बड़े बूढ़े उसकी इस लगन से गदगद् हैं 'वंशी बहुत समझदार और संवेदनशील लड़का है। जब गाँव पर इस तरह की विपत्ति आयी हो तो भला गाना बजाना कैसे किया जा सकता है। गीत गवर्नई तो उछाह का मामला है। उन्हें इस बात का थोड़ा जरूर मलाल रहता है कि वंशी अपने गाँव से अधिक बीरपुर का खयाल रखता है।

'तुम वंशी हो ना।' छोटी बच्ची के इस सवाल पर वंशी अचकचा गया।

'हाँ लेकिन तुम्हें कैसे पता।'

'क्योंकि मुझे सोना दीदी ने बताया था।'

'अच्छा। लेकिन तुम्हारी सोना दीदी मुझे कैसे जानती हैं।'

'क्योंकि तुम चोर हो।'

'क्या तुम्हारी सोना दीदी पुलिस हैं।'

'नहीं।'

'फिर वह मुझे कैसे जानती हैं।'

'क्योंकि तुमने उनका कुछ चुरा लिया है।'

'अच्छा। क्या चुराया है मैंने तुम्हारी सोना दीदी का।'

'यह तो मुझे नहीं पता लेकिन वह जरूर कोई कीमती चीज ही होगी।'

'तुम्हें कैसे पता।'

'वह इतना उदास जो रहती है आजकल।'

'अच्छा। लेकिन तुम्हारी सोना दीदी रहती कहाँ हैं।'

बच्ची ने एक बरसाती की ओर इशारा किया।

वंशी मुस्कराया 'और क्या बताया तुम्हारी सोना दीदी ने मेरे बारे में।'

'यही कि शायद आजकल तुम भी कुछ उदास रहते हो।' है।'

'यह कैसे पता चला तुम्हारी दीदी को।'

'आजकल तुम गाना जो नहीं गाते हो।'

वंशी का मन कर रहा था कि वह उस बच्ची से खूब बातें करे लेकिन बच्ची तो भाग गयी। वंशी मुस्कराया 'अब तो गाना ही पड़ेगा गुड़ियाँ।'

उस रात वंशी का अलाप चरम पर था

'जब रात रही बाकी कुछहूँ छिप जाई अंजोरिया आ जइह।

वोही जगहा पर मिलब हम बनि ठनि के गुजरिया आ जइह।

कहीं वादा कइल तू भुलइह ना आवे के बेर लजइह ना

बड़ा दिन भइल देखला तुहके देखब भरि नजरिया आ जइह...।

कोई कितना भी गा ले लेकिन वंशी की बात ही और है। वह कलेजे से जो गाता है।

चारों तरफ राप्ती का पानी। आकाश में अलसाता हुआ चन्द्रमा और हर ओर निस्तब्धता। केवल दो जोड़ी आँखें थीं जिनमें जीवन की सबसे गहरी चमक थी। आज अगर नींद आ गयी तो पूरे जीवन सोना मुश्किल हो जाएगा।

'ऐसे क्या देख रहे हो।'

'देख रहा हूँ कि इतनी सुन्दर होकर भी तुम इतना निर्दयी कैसे हो सकती हो।'

'अच्छा। अब हमीं निर्दयी भी हो गये। तुम्हें तो हमारी इतने दिनों तक याद भी नहीं आयी।'

'हम तुम्हें भूले ही कहाँ थे जो याद करते।'

'बातें बनाना तो कोई तुमसे सीखे।'

'तुम्हारी कसम गुंड्या।'

'हम नहीं मानते। इतना ही प्रेम था तो आ न जाते।'

'मैं तो रोज सिवान पर तुम्हारी राह देखता था।'

'ससुराल के सिवान में ऐसे ही थोड़ी आया जाता

'अब तो आओगी न।'

'देखेंगे।'

‘क्या तुम्हें हमारी जरा भी परवाह नहीं है।’

‘तुम्हें हमारी है।’

बातें समाप्त होने का नाम नहीं ले रही थीं और रात थी की दौड़ी ही चली जा रही थी।

‘तुम हमें भूल तो नहीं जाओगे।’

‘खुद को भूल जाऊंगा पर तुम्हें नहीं।’

‘अगर मैं नहीं मिली तो।’

‘इसी राप्ती मझ्या की धारा में छलांग लगा दूँगा।’

सोना ने तड़पकर अपना हाथ वंशी के मुँह पर रख दिया ‘खबरदार जो ऐसी बातें दुबारा कीं तो। कसम है हमारी। राधा जी को कहां मिले किसन जी। तो क्या उन्होंने जान दे दिया। परेम का अर्थ केवल मिलना ही थोड़े ही होता है। हम मिलें या न मिलें लेकिन जान कोई नहीं देगा।’

‘वंशी अपलक निहार रहा था सोना को।’

‘ऐसे क्या देख रहे हो।’

‘देख रहा हूँ कि तुम कितनी समझदार हो।’

‘धत्। अच्छा मैं अब चलती हूँ।’

‘कल आओगी।’

‘देखूँगी।’

‘मैं यहीं इन्तजार करूँगा।’

सोना नहीं आयी। सारी रात इन्तजार करता रहा वंशी। अगले कई रातों तक भी। कहीं नाराज तो नहीं हो गयी।

‘सोना दीदी तो अपने मामा के घर चली गयीं।’ छोटी बच्ची की इस खबर से वंशी सन्न रह गया।

‘कब।’

‘कई दिन हो गये।’

‘क्यों।’

‘उसके मामा के गाँव में बाढ़ जो नहीं आती। अब वह बाढ़ खतम होने पर ही आएँगी।’

वंशी उसी जगह उदास बैठा है ‘जाना ही था तो आयी क्यूं थी गुंड्या।’ भीग आई आँखों की कोर को पोछते

हुए वंशी मुस्करा उठा ‘तुम्हारा छूना ही आज से मेरी पूँजी है। मैं इसे जीवन भर संभाल कर रखूँगा।’

महीनों लग गये राप्ती का पानी कम होने में। सोना की शादी उसके मामा ने अपने घर से ही कर दी। यह खबर वंशी को भीतर तक उदास कर गयी। अब वह न किसी से बोलता है न हँसता है। गाना तो कबका भूल गया है। बस गुमसुम सा बैठा रहता है। कई बार तो अकेले सिवान में बैठा बैठा खुद से ही बातें करने लगता है। जरूर किसी चूड़ैल का साया पड़ गया है। चूड़ैलें अक्सर नौजवानों को ही अपना शिकार बनाती हैं। रामसमुझ मिसिर के पास इस तरह की कहानियों का भण्डार है ‘जान लो बच्चा। आसमान में सुकवा निकल आया था। हम पड़ोस वाले गाँव से नाच देखकर अकेले ही चले आ रहे थे। अकेले थे सो मस्ती में गा भी रहे थे। गाँव के पूरब वाले पीपल के पास पहुँचे तो क्या देखते हैं कि सफेद कपड़ों में खूब सुन्दर लड़की बैठी हुयी है। हमारे तो हाथ पाँव फूल गये। मन ही मन हनुमान जी का सुमिरन करने लगे। उसने हमसे कहा ‘डरो मत। हमें तुम्हारा गाना सुनना है।’

‘हमें तो काटो तो खून नहीं। मरता क्या न करता। सो गाना शुरू किया। गाते गाते कब आँख लग गयी पता भी नहीं चला। आँख खुली तो दिन चढ़ आया था। लड़की गायब थी। घर आते ही बुखार ने ऐसा पकड़ा कि पूछो मत। महीनों दवाई खाई। कोई फायदा नहीं। फिर पीर बाबा से दुआ कराया तब जाकर जान छूटी।’

वंशी न तो पीर बाबा की दुआओं से ठीक हुए न ही सोखा ओझा की झाड़ फूँक से। अम्मा का रोते रोते बुरा हाल था। एक वंशी ही सहारा था उसे भी न जाने किसकी नजर लग गयी। वंशी ने अपनी एक अलग दुनिया बना ली थी जिसमें वह खोते ही चले जा रहे थे।

जिस रात अम्मा को काले नाग ने डसा वंशी बंजारों की टोली में बैठे हुए थे। जबसे बंजारे गाँव में आए हैं वंशी को उनके साथ बैठना अच्छा लगता है। अम्मा उन्हें बराबर मना करती ‘ये लोग तमाम जादू टोना जानते हैं। अभी गधे ने कम ही खेत खाया है। अगर फिर से कुछ हो गया तो कहीं के न बचोगे।’ लेकिन वंशी को बंजारे अच्छे लगते हैं। उनका खुलापन उन्हें आकर्षित करता है। कोई परदा नहीं न ही कोई भेद भाव। काश कि वे भी बंजारा होते तो आज सोना उनके साथ होती।

गाँव में कोहराम मच गया। वंशी घर की ओर भागे। अम्मा का शरीर नीला पड़ गया था और मुँह से झाग निकलने लगा था। एक बंजारा जानता था साँप का विष उतारना। वह घंटों कोशिश करता रहा। सब बेअसर। कौड़ी फेंकनी पड़ेगी। यह अन्तिम उपाय है। यह कौड़ी उस साँप को खींच कर लाएगी। वही विष खींचेगा। लोग दम साधे देख रहे थे। यह सबके लिए नया अनुभव था। भला मंत्र और कौड़ी के प्रभाव से साँप आया। लेकिन साँप आया। उसके फन पर दोनों कौड़ी चिपकी हुयी थी। लोग हैरान रह गये। काला भुजंग नाग। साँप अम्मा के पैरों के पास घूमने लगा। बंजारा कभी मंत्र पढ़ता कभी साँप का मनुहार करता। वंशी लगातार रोए जा रहे थे 'अम्मा। तुम भी मुझे छोड़कर चली जाओगी।'

साँप ने एक बार उस स्थान पर मुँह लगाया जहाँ डंसा था लेकिन अगले ही पल मुड़ा और वापस चला गया। बंजारे ने आँखें खोल दीं 'देर हो गयी। तुम्हारी अम्मा जा चुकी है वंशी।'

वंशी के चीत्कार से पूरा गाँव हिल उठा। सबकी आँखें नम थीं। भगवान ऐसी विपत्ति किसी को न दे।

अम्मा के क्रिया कर्म के बाद एक शाम वंशी साँप झाड़ने वाले बंजारे के सामने बैठे थे 'मैं साँप का विष उतारने वाला मंत्र सीखना चाहता हूँ।'

बंजारा मुस्कराया 'क्यों। इसमें खतरा बहुत है।'

वैसे भी मुझे जीवन से बहुत प्रेम नहीं रह गया है गुरुजी लेकिन मैं चाहता हूँ कि किसी और की अम्मा अब साँप के जहर का शिकार न हो। मुझे जीने का एक मकसद भी मिल जाएगा।' वंशी उसके पैरों की तरफ झुकते चले गये 'अब आपको गुरु मान लिया है। जब तक हाँ नहीं कहेंगे हटूंगा नहीं।'

वंशी का जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव उनके मंत्र सीखने में लाभदायक सिद्ध हुआ। खतरनाक से खतरनाक साँप को भी सामने देखकर उनके मन में जरा भी सिहरन नहीं पैदा होती। गुरु उनके इस निडरता पर मंत्रमुग्ध हो जाते 'साँप का जहर उतारने में निडरता बहुत जरूरी है। तुम मुझसे भी बड़े ओझा बनोगे।'

वंशी एक फीकी हँसी हँस देते 'डरता तो वह है जो जीना चाहता है।'

गुरु जी की मृत्यु के बाद वंशी जब गाँव लौटे तो साँप का विष उतारने में महारत हासिल कर चुके थे। उनके इस हुनर ने गाँव वालों को एक दिलासा दिया। वंशी काका के रहते कोई साँप के डसने से नहीं मर सकता। वंशी ने अब तक उनके भरोसे को बनाए रखा है। अब तो दूसरे गाँवों से भी लोग आने लगे हैं। काका इसी एक काम को अब भी पूरे लगन से करते हैं। रात विरात दिन दुपहरिया जब भी कोई साँप का काटा मरीज आता है वे चाहे जिस स्थिति में हों तत्काल उसके इलाज में लग जाते हैं। बाकी कोई काम करने की न तो उन्होंने कोशिश की न ही जरूरत पड़ी।

इधर वे किसी के छूने को लेकर अति संवेदनशील हो गये हैं। बेचैन हो जाते हैं अगर कोई उन्हें छू ले और वे उसे न छू पाएं तो। कई बार तो आँखों से आँसू तक बहने लगते हैं।

गाँव वाले उनकी इस दशा से दुखी हैं क्योंकि उनका होना गाँव जवार के लिए बहुत जरूरी है। कुछ पढ़े लिखे लोगों का मानना है कि वे किसी मानसिक अवसाद के चलते ऐसा कर रहे हैं। आजकल इसकी दवा बाजार में उपलब्ध है। वे ठीक हो सकते हैं।

प्रस्ताव को सुनते ही काका आगबबूला हो गये 'सालो। पागल तुम तुम्हारा बाप तुम्हारा सारा खानदान। मैं बिल्कुल ठीक हूँ और किसी डॉक्टर के पास नहीं जाऊँगा।'

प्रधान जी और गाँव के तमाम बुजुर्गों के बहुत समझाने पर काका किसी तरह तैयार हुए। शहर के एक नामी चिकित्सक को दिखाया गया। उसकी दवा से कुछ आराम जैसा लगता है।

तीन महीने बाद डॉक्टर ने मुस्कराते हुए काका के पीठ पर हाथ रखा 'अब आप बिल्कुल ठीक हैं। अब आपको किसी दवा की जरूरत नहीं है।' डॉक्टर अपने केबिन में चला गया।

जीप जैसे ही स्टार्ट हुयी काका चिल्लाए 'जरा रुकना। डॉक्टर बाबू से एक बात पूछना तो भूल ही गया।'

काका दौड़कर डॉक्टर के पास पहुँचे और उसकी पीठ पर हाथ रखकर मुस्कराए 'तुमने ठीक कहा बेटा। अब मैं बिल्कुल ठीक हो गया हूँ।' और झटके से बाहर निकल गये।

डॉक्टर मुस्कराने लगा।

आज शाम से ही काका बेमन हैं। खाने में भी मन नहीं लग रहा है। घंटों से करवट बदल रहे हैं लेकिन नौद आँखों में दूर दूर तक नहीं है। आज पता नहीं क्यों तमाम पुरानी बातें याद आने लगी हैं। अम्मा राप्ती की बाढ़ एक छोटी सी बच्ची और सोना भी...।

प्रधान जी की आवाज पर चौंके काका। इतनी रात को कहीं किसी को साँप ने तो नहीं डस लिया।

‘काका। डुमरी के ठाकुर साहब की पत्नी को नाग ने डंस लिया है। वे लोग बाहर खड़े हैं।’ प्रधान जी की आवाज पर काका झटके से बाहर आ गये। ठाकुर साहब इलाके के बड़े जमींदार हैं। गाड़ी घोड़ा नौकर चाकर सबकुछ है। काका ने मरीज को गाड़ी से बाहर निकालकर चौकी पर लिटाने को कहा। ठाकुर साहब बेचैन थे ‘मेरी बीवी को बचा लो वंशी अब तुम्हारा ही आसरा है।’

‘आप चिन्ता मत कीजिए ठाकुर साहब। गुरु की रहमत और उपर वाले का आशीर्वाद रहा तो मालकिन बच जाएंगी।’ काका नब्ब देखने के लिए झुके।

नब्ब छूते ही उनके शरीर में एक अजीब सी झनझनाहट होने लगी। काका आँखें बंद किए देर तक मौन रहे। फिर न जाने क्यों मुस्करा उठे। यह पहली बार है जब वे किसी मरीज को सामने देखकर मुस्करा रहे हैं वरना मरीज के परिजनों से अधिक साँप काटे मरीज को देखकर वे दुखी होते रहे हैं। कई बार तो रोते भी देखे गये हैं। शायद हर मरीज उन्हें माँ की याद दिलाता हो या फिर कुछ और। लेकिन मुस्कराते तो किसी ने उन्हें नहीं देखा। फिर आज क्या हो गया है काका को। गुरु जब किसी को साँप का जहर उतारने वाला मंत्र देता है तो यही वादा कराता है कि किसी भी स्थिति में रहोगे अगर सुन लिया कि किसी को साँप ने काटा है तो जरूर जाना होगा।

काका ने जल्दी से एक लड़के को अपने घर के भीतर से पीतल की थाली लाने को कहा। गाँव के लोग जानते हैं कि अगर किसी को साँप ने काटा या छुआ है तो थाली उसके पीठ पर चिपक जाएगी।

थाली ठकुराइन के पीठ पर चिपक गयी। मतलब साँप ने छुआ नहीं बल्कि काट लिया है। काका हाथ में मिट्टी लेकर मंत्र पढ़ते हैं और थाली पर मिट्टी से मारते हैं। जैसे ही मिट्टी थाली पर पड़ती है ठकुराइन का शरीर लहराने

लगता है। गाँव के लोग काका को देखते देखते पूरी प्रक्रिया को समझ चुके हैं। यह ‘लहर’ है। जितनी अधिक लहर हो मतलब साँप उतना ही जहरीला। लेकिन आज सबकुछ सामान्य नहीं लग रहा है। जितनी ‘लहर’ ठकुराइन के शरीर में उठ रही है उससे अधिक काका लहरा रहे हैं। लेकिन काका आज तक कभी हारे नहीं हैं। जहर जैसे उनका आदेश मानता हो। देर भले लग जाए लेकिन उसे शरीर से उतरना ही होगा।

इधर पढ़े लिखे लोगों की जमात बढ़ने से कुछ नयी व्याख्याएं भी सामने आयी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पीतल में ऐसा गुण होता है कि वह जहर को खींच लेता है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह मानते हैं कि वास्तव में आदमी साँप के जहर से नहीं बल्कि डर से मर जाता है इसलिए जब काका मंत्र पढ़ते हैं तो उनका भय समाप्त हो जाता है और वे बच जाते हैं।

काका मिट्टी पर फूँक मारते मारते खुद बेदम होने लगे हैं। लहर बढ़ती ही जा रही है लेकिन ठकुराइन की हालत में सुधार नहीं आ रहा है। क्या आज वह हो जाएगा जो वर्षों से नहीं हुआ। काका की बादशाहत खतम हो जाएगी। आचानक ठकुराइन का शरीर बहुत जोर से लहराया। यह अब तक की सबसे तेज लहर थी। इतनी तेज कि ठकुराइन को पकड़ने वाले लोग उन्हें संभाल नहीं सके और उनके सिर से साड़ी पूरी तरह सरक गयी। चाँदनी रात जैसे जवान हो गयी हो। इस उमर में और साँप के विष के बावजूद ऐसा लावण्य। काका ने ध्यान से मरीज के चेहरे की ओर देखा। आँखें सिकुड़ गयीं। लोग दम साधे हुए थे। काका दौड़ कर घर के भीतर चले गये। लोग सन्न रह गये। आज तक काका किसी मरीज को छोड़कर नहीं गये। ठाकुर साहब दहाड़ मारने लगे। गाँव के लोग कुछ समझ पाते इसके पहले काका को देखकर जान में जान आई। लेकिन यह क्या। काका बरसों पुरानी मुड़ी तुड़ी जींस और टी शर्ट पहने हैं। नौजवान हैंसी रोकने की लगातार कोशिश कर रहे हैं। काका ने ठाकुर साहब के कंधे पर हौले से हाथ रखा ‘चिन्ता मत कीजिए ठाकुर साहब। यमराज को भी आज हारना ही पड़ेगा।’

काका ने जेब से एक ब्लेड निकाला और काँपते हाथों से उस जगह हल्का चीरा लगाया जहाँ साँप ने डंसा था। फिर मुँह लगाकर खून चूसने लगे। खून का घूँट मुँह में भरकर थूकते फिर खींचते। लोग चिन्तित हो उठे हैं। यह

तरीका तो बहुत खतरनाक है। इसमें काका की जान भी जा सकती है। काका आज तक केवल मंत्र से ही जहर उतारते रहे हैं। यह तो जान की बाजी लगाने जैसा है। कुछ लोग उन्हें रोकना भी चाह रहे हैं। लेकिन वे जानते हैं कि काका जिद के कितने पक्के हैं। वे नहीं रुकेंगे।

ठकुराइन का शरीर अब सहज होने लगा है। वे अब सामान्य हैं। उन्होंने आँखें खोलने की कोशिश शुरू कर दी है। ठाकुर साहब की जान में जान आने लगी है। आचानक काका ने आलाप लिया

‘छंद छंद लय ताल से पुछलीं पुछलीं सुर के मन से।

धरती अउर आकास से पूछलीं पूछलीं नील गगन से।

हिया हिया में पड़ठ के पूछली पूछली मस्त पवन से  
कउने सुगना पर लुभइलू अहि रे बालम चिरई...।

इधर ठकुराइन ने आँखें खोलीं उधर काका की गरदन लुढ़क गयी। लोग कुछ समझ नहीं पा रहे थे। वंशी काका बुलाने पर भी नहीं बोल रहे। शरीर बेजान हो उठा है। यह क्या हो गया उन्हें। इतने वर्षों से साँप का विष उतार रहे हैं कभी कोई परेशानी नहीं हुयी फिर आज क्या हो गया।

ठाकुर साहब ने वंशी की नब्ज टटोलनी शुरू की। जीवन का कोई लक्षण नहीं। उन्हें कहना पड़ा ‘वंशी अब इस संसार से जा चुके हैं।’

सभी सन्न हो गये। सबकी आँखों में आँसू थे।

...दो और भी आँखे थी जिनमें पानी छलछला रहा था लेकिन उन पर किसी की नजर नहीं पड़ी थी।

---

केंद्रीय विद्यालय,  
ग्वालदम, चमोली,  
उत्तराखंड 246441  
मो.-8958344456

उपासना

## उदास अगहन

दीया अनवरत जल रहा था। धीरे-धीरे आँखें कमरे की मटमैली, बेजान रौशनी की अभ्यस्त हो चुकी थीं। देवदत्त सिंह तख्त पर चित लेटे हुए थे। वृंदा ने एक बार फिर अँधेरे में आँखें धँसा कर देखा। दीये की पीली रौशनी में मच्छरदानी की बारीक बुनाई चमक रही थी। देवदत्त सिंह नींद में बाएँ हाथ से बार-बार कुछ परे धकेल रहे थे मानों। यद्यपि दिन भर की भागा दौड़ी से वृंदा बेइन्तहा थक गई थीं...पर वे खाट से उठीं। उनका संदेह सही था। मच्छरदानी में एकाध मच्छर भिनभिना रहे थे। उन्होंने चारों तरफ़ से मच्छरदानी झटक कर उसकी पट्टियों को फिर गद्दे के नीचे दबा दिया। देवदत्त सिंह गहरी नींद में थे। उनका मुँह खुला हुआ था। होठों के किनारे लार चमक रही थी। पचास के वय में ही कैसी देह हो आई थी? मांसविहीन चमड़ी पसलियों से चिपककर एक-एक बनावट स्पष्ट कर रही थी। दाहिना पैर कटुआया हुआ सा अलग-थलग पड़ा था। बेजान हाथ छाती पर था। घृणा से वृंदा का मुँह कसैला हो आया। घृणा इस देह से नहीं, इस आदमी के प्रति! पक्षाघात तो दो वर्षों से है न...घृणा तो आरंभ से, माँग बोहराई के वक्त से ही।

वृंदा खिड़की के पास चली आई। मकड़ी के सघन जाले नीचे तक लटक आए थे। वृंदा ने उन्हें हाथ से चीर डाला। रात मनसायन दिख रही थी। अगहन का पूरा चाँद था। चाँद इतना सद् था कि उसकी उसकी आँच से छाती में बलगम जम गया। स्मृतियों की रात खाँसते-खाँसते बेहाल! जग से पानी लेकर उन्होंने पिया तो कुछ राहत पड़ी।

□

तब वह तकरीबन दो सौ साल पुरानी महलनुमा हवेली क्या बियावान और भुतहा दिखती थी? अब तो कौवा भी पाँख फड़फड़ाये तो किसी अनजानी आशंका से होठ पपड़ा जाते हैं। वे दिन बरतन, पाजेब व सम्मिलित हँसी की खनखनाहटों से गुंजायमान रहते थे।

बेशक मयूर व बेलबूटों की नक्काशी से सजे खंभे व दीवारें जर्जर होने के कगार पर थीं, पर उनकी शान में कहीं कोई कमी न दिखती। गो कि बूढ़ी हो जाने के बावजूद किसी रानी के रुआब में बाल बराबर फर्क न आया हो। बाहर बड़ा मर्दाना बैठका था। चार खम्भों वाले आँगन के हर ओर कई कमरे थे। बूढ़ी अम्मा तख्त पर अधलेटी बड़बड़ा रही थीं। हीरा बो नाउन उनकी बड़बड़ाहट सुनती चुपचाप उनके हाथ-पैर मीसती रही।

पतोह उनकी एक अमानत थी। पति की सिर चढ़ी लाड़ली। देवदत्त सिंह यूँ तो बड़े कड़क मिज़ाज माने जाते, पर पत्नी के विषय में कैसे तो बाल सुलभ हो जाते थे। बचपन से किसी बहिन की कमी को जिस शिद्दत से उन्होंने महसूस किया था, मानों अपनी लरकोर पत्नी की ऊटपटांग माँगें व ज़िद पूरी करके सारी कसर निकाल लेना चाहते थे। पत्नी से महज तीन साल बड़े वे बुजुर्गों वाली समझदारी व गंभीरता ओढ़े मानों पत्नी को और-और बच्चा बने रहने की छूट दिए जाते। यूँ देवदत्त सिंह के परिवार की चर्चा कम न थी जवार में...पर फूलमती देवी के मायके का रुआब ही कुछ अलहदा था।

बात सिर्फ़ इतनी नहीं थी कि फूलमती के पिता राधाकिशुन सिंह सौ एकड़ ज़मीन के मालिक थे। बयालिस के स्वाधीनता संग्राम में वे जिले के समर्थ कांग्रेसी नेता के रूप में उभरे थे। पुणे में गाँधी जी नज़रबंद थे। विरोध में जिलास्तर पर व्यापक हड़ताल का आयोजन किया गया। राधाकिशुन सिंह ने युवाओं व विद्यार्थियों के साथ टीम के भोंपू पर भाषण देते हुए जुलूस निकाला था। जनसभाएँ कीं। कई महीने जेल में भी रहे। इन्हीं सब कारणों से जिले में उनके धन से अधिक उनका सम्मान था।

फूलमती उनकी इकलौती (सिरचढ़ी) बेटी थी। रामकिशुन सिंह ने बड़ी धूम-धाम से उनका ब्याह किया। लाड़ली फूलमती ससुराल में भी उड़ी-उड़ी फिरतीं। सास भी बहुत दुलार रखतीं उनपर। फिर ये दुलार भरे दिन उड़ते-फिरते आठ साल हो गए। अब फुसफुसाहटें मात्र नहीं रह गयी थीं। गोतिया-पटीदार की औरतें आँखें धँसाकर मासिक धर्म के दिन गिनतीं। सास भी उलाहने देने लगी थीं। फूलमती कान न धरती उनपर...पर आखिर कब तक? सास पूरे वेग व क्रोध से छींटाकशी करने लगीं थीं। हँसकर टालने वाली फूलमती भी अब डटकर जवाब देने लगीं। किसी दिन जुड़ती-जुड़ती बातें काफ़ी आगे बढ़ गईं।

फूलमती रूठकर दाई को साथ लिए मझौली चली गईं। देवदत्त सिंह घर आए तो सारा हाल मालूम हुआ। वे हँस पड़े। सास-बहू का पुरातन झगड़ा कौन सुलझा सकता है? महतारी रोती रहीं। आश्वस्तिपूर्वक माँ की पीठ थपथपाकर उन्होंने हीरा हज्जाम को मझौली भेजा...फूलमती के गाँव। फूलमती की माँ एक तेज औरत थीं। उलटे पाँव हीरा को लौटा दिया।

—“भार नहीं है हमारी बेटी, जो नउवा के साथ भेज दें। देवदत्त सिंह से कहना, आकर माफ़ी माँगें तभी बिदाई होगी!”

हीरा हज्जाम भी क्या कम. जो देखा-सुना नमक-मिर्च बुरक कर परोस दिया। दुबारा हीरा को भेजा गया। देवदत्त अकेले हैं। दौंदरी का समय है। सब सँभालना पड़ता है। वक्त नहीं मिलता। हीरा फिर मझौली से खाली हाथ लौटे। अब यह शान का प्रश्न हो गया था। देवदत्त सिंह ने आखिरी हिदायत के साथ हीरा को रवाना किया।

—कहना कि अबकी अगर फूलमती नहीं आई, तो ठीक न होगा!”

साँझ के घिरते झुटपुटे में देवदत्त सिंह चंद मुलाकातियों संग बैठे थे। मुँह लटकाए हीरा हज्जाम कोने में आकर खड़े हो गए।

—“क्या हुआ?” देवदत्त सिंह ने परिचर्चा बीच ही में रोककर पूछा।

हीरा बड़ी बिचारगी से बोले...

—“महाराज, उनकी माँ तो मुँह की बड़ी तेज हैं!”

देवदत्त सिंह की भृकुटी टेढ़ी हो गई,

—“जो भी कहा गया हरफ ब हरफ सुनाओ!”

हीरा ने कंधे पर पड़ी गमछी से ललाट का पसीना पोंछा.

—“देवदत्त सिंह अगर असल के जने हैं, तो दूसरा ब्याह कर लें। बिना माफ़ी बेटी बिदाई नहीं होगी!”

बैठका में सन्नाटा छा गया. भीतर दरवाजे की ओट में कान काढ़कर खड़ी घर की औरतें, दाई-पहुनियाँ सन्न रह गईं।

□



शायद दरवाजे की साँकल बजी थी। फिर कुछ देर चुप्पी रही। वृंदा को लगा कि संभवतः उन्हें मतिभ्रम हुआ हो। कुछ क्षण कान अड़ाये वे आहट टोहती रहीं। दुबारा धीमी आवाज में साँकल बजी। अब शक की गुंजाइश न थी।

—“बड़ी जल्दी...आज तो!”

खुद से बुदबुदाती वृंदा ने दीये की लौ से ढिबरी जलायी। दरवाजा खोलते ही तेज हवा के थपेड़ों से लौ कांप गई। प्रभुदयाल ने जल्दी से दरवाजा बंद कर दिया।

—“बादल छा गए हैं. बारिश हो कर रहेगी।”

वे पैर धोकर ओसारे की खाट पर कथरी रजाई के बीच धँस गए। वृंदा बेआवाज रोटियाँ बेलती रहीं। प्रभुदयाल एकटक तवे पर फूलकर गोल होती रोटियों को देखते रहे। दो रोटियाँ सिंकते ही वृंदा ने थाली में सब्जी रोटी व हरी धनिया की चटनी परोस दी। वे चुपचाप चूल्हे के पास पीढ़े पर बैठ गए। चूल्हे की आँच से चट-चट की आवाज आ रही थी। चादर के बावजूद ठंडी हवा चुभ रही थी।

—“बाबूजी सो गए हैं?”

—“हुम्!!”

प्रभुदयाल माँ को देखने लगे. वे क्या अन्य माँओं से कुछ अलग नहीं हैं? बचपन से ही उन्होंने प्रभुदयाल को कुछ चीजें पढ़ाई-समझाई और अपनी दी हुई शिक्षा के प्रभाव पर पूरा विश्वास भी किया, अन्यथा प्रभुदयाल कॉलेज के पश्चात् कहाँ जाते हैं? क्या करते हैं? किन लोगों से मिलते जुलते हैं...न इसकी जासूसी की, न तर्क किये। प्रभुदयाल अपने सिद्धांतों, पार्टी के सर्वहारा संबंधी विचारों, विवादों की चर्चा करते। वृंदा ने उनके प्रति सदा विश्वास और जिज्ञासा बनाए रखा।

माँ के कभी खेतों को सहेजने या लाभ जोड़ने की बातें नहीं सिखायीं। घर दुआर, खेत व पिता के स्वास्थ्य जैसी चीजें, जितना जो सम्भव था, वे स्वयं ही करती रहीं।

उन्हें याद है बचपन में घर पर प्रताप, साप्ताहिक हिंदुस्तान, वीर अर्जुन व कल्पना जैसी असंख्य साप्ताहिक-मासिक पत्र-पत्रिकाओं के पुराने अंक पड़े थे। उन्होंने घर में कभी किसी को पढ़ते नहीं देखा था, फिर कौन लाया है ये पत्र-पत्रिकाएँ?

—“एक तुम्हारे चाचा थे। वही पढ़ते थे यह सब!”

—“तो...कहाँ हैं वो?”

—“गुजर गए।”

—“कैसे?”

इस सवाल पर आँगन भर में सन्नाटा खींच जाता. सब तरह-तरह के कार्यों में व्यस्त हो जाते। बाद के दिनों में जैसे-जैसे प्रभुदयाल बड़े होते गए, इस सवाल का प्रभाव गहराई तक महसूसने लगे थे। फिर उन्होंने इसे अधर में ही छोड़ दिया।

तवा उल्टा करके वृंदा ने दीवार से टिका दिया. कठवत में पानी लेकर वे हाथ धोने लगीं।

—“सब्जी बहुत चटक बनी है अम्मा!”

वे तृप्ति से मुस्कुलाई। चूल्हे की आँच से उनका गोरा चेहरा लाल हो उठा था। आखिर कौर खाते हुए ही प्रभुदयाल ने उचक कर खाट से अपना थैला खींच लिया।

—“यह लो तुम्हारा समाचार पत्र।”

उन्होंने आँचल में हाथ पोंछकर पत्र थाम लिया। बूँदा-बाँदी शुरू हो गई थी। प्रभुदयाल अपने कमरे में चले गए। वृंदा ढिबरी की जर्द रौशनी में आँखें मिचमिची कर स्थानीय खबरों वाला पृष्ठ पढ़ रही थीं। एक बहुत पुरानी कविता छपी थी। ‘कुलदीप नारायण झड़प’ की यह कविता स्वप्नों वाली स्मृति में किसी ने हरी-पीली चूड़ियों से भरी नाजुक कलाई को बड़ी सख्ती से थाम कर धीमे-धीमे सुनाई थी...

“राह न लउके, घोर अन्हरिया,  
जेने देखीं ओने करिया,  
मत्स्य न्याय केहू ना गोहरिया,  
मीत! प्रीत के हाथ बढ़ाई,  
आई, हम रउरा मिली गाई!!”

अचानक किसी की आहट हुई थी। डरी-सहमी सी चूड़ियाँ छन-छन की धीमी होती आवाज के साथ ओसारे के किसी कोने में ओझल हो गईं...!

खिड़की के पल्ले भड़भड़ाते हुए तेज हवा ने जब समाचार पत्र को अस्त व्यस्त कर दिया तो उनकी तन्द्रा टूटी। खिड़की बंद कर उन्होंने ढिबरी ऊँचे ताखा पर रख दी। देवदत्त सिंह पूर्ववत् सोये हुए थे. वे भी लेट गईं।

□

उस बादल वाले चहकते दिन में भी सन्नाटा पोखर के पानी सा गहरा था। कौवों की काँव-काँव भी बहुत दूर से आती हुई लगती थी। अम्बिका सिंह खाट पर सुस्त पड़े थे। बेटा बाप से रार ठानकर बैठा था...

—“दुआह से ब्याह नहीं होगा हमारी बहिन का!”

कौन समझाए इस मतिमंद को! लड़का सुंदर-सुकांत है, बड़ी ठकुरई है...बेवंत है अईसा बर खोजने का? दुआह नहीं होता तो क्या एक तुम्हारी बहिन ही रूपमती पड़ी थी ब्याहने को!

कनेर की नाजुक डाल सी लच-लच कोमल-छरहरी वृंदा आठवीं जमात तक पढ़ी थीं। सत्रहवाँ चढ़ते ही उनके लिए चहल-पहल आरंभ हो गई। घर में देवदत्त सिंह की चर्चा के साथ ही परिवार दो खेमों में बँट गया था। पुरुष एक ओर, महिलायें एक तरफ़...सिवाय वृंदा के भाई साहब के। वे आरंभ से ही खिलाफ थे। चाचियाँ साफ़-साफ़ भले न कह पातीं हों, पर जब-तब वृंदा को टुनकिया देतीं...

—“ऐ बन्नी मना कर दो!”

बन्नी चुपचाप दुपट्टे में अबरक सजाती रहती। सपनों से अबरक झरता जा रहा था। छत की आखिरी सीधी के पास दीवार में जालीदार झरोखा था। रंगरोगन मटमैला हो चला था। साड़ी का बदरंग टुकड़ा परदे सा टंगा था। गाढ़ी, नीरस व गर्म दुपहरिया में भी झरोखे से झर-झर ठंडी हवा सहलाती रहती। कहीं किसी अखबार से बने टोंगे को पाकर वृंदा बड़ी आहिस्तगी व एहतियात से उसे खोलती। झरोखे के पास दुपहरिया भर बैठी पढ़ती रहती। कच्ची सड़कों पर उड़ता धूल का बवंडर झरोखे से साफ़ दिखता था। दौंवरी के समय बारीक भूसे की गर्द से वृंदा के बाल, पलकें, आँगन-सीढ़ियाँ सब पट जाते।

दरअसल अब तो सपनों के गढ़न की उम्र आई थी। सखी को छेड़ती वृंदा, ढोलक की थाप पर गाती,

चलनी के चालल दूलहा,

सूप के फटकारल हो...

तो सखी के चेहरे पर खिलते रंग-बिरंगे गुलाल देख हैरान रह जाती। नर्म, कच्चे और अंजाने-रोमांचक सपनों की आमद से हैरान वृंदा ने बड़े जतन से दुल्हन के साथ बैठ कर ‘माड़ो का भात’ खाया था, जैसी कि कहावत थी...साल भीतर ही विवाह के आसार दिखने लगे थे।

पर यह सपनों का कैसा रंग था। न सपने के ख्याल वृंदा के ख्यालों की तरह कच्चे थे, न ही उसकी फुसफुसाहटें, छुअन, रेशे वृंदा जैसे कोर-नकोर थे।

□

हीरा को फिर मझौली दौड़ाया गया। निमंत्रण पत्र के साथ,

—“सौत परीछने आएँगी न!”

फूलमती कटुआ गई। उसी वेश-दशा में पैदल ही हीरा के संग रोती-कलपती चल पड़ीं। माँ ने किसी प्रकार समझा बुझाकर डोली कहाल के साथ बेटी को विदा किया। बात हाथ से बाहर जा चुकी थी। बहू सास की गोद में सिर दिए बड़ी देर तक रोती रही।

आषाढ़ की रात थी। चंदा मामा बादल की टंकी से पानी निकालकर खूब नहाये थे। लगातार कई रातों तक नहाते रहे थे। नहाकर उन्होंने देह और बाल झटके। चमकती बूँदें रात के सुसुम गर्म तवे पर इधर उधर छटक गईं। चंदा मामा ने फिर हवा से रगड़-रगड़ कर अपनी देह सुखाई थी। अब साफ़ सुथरे अच्छे चंदा मामा खूब चमक रहे थे। एक ही पेट्रोमेक्स से आँगन भर में उजाला फैला था। औरतें ‘गारी’ गाकर थक गई थीं। नाउन वृंदा को थामे बैठी रही। हीरा हज्जाम रात भर देवदत्त सिंह का मऊर सँभालते रहे।

अलसुबह विदाई हो गई।

हवेली के सामने औरतों का हूजूम था। नई दुल्हन को देखने की सबमें स्वाभाविक उत्सुकता थी। सबसे पहले सास ने वृंदा के घूँघट में चेहरा अन्दर कर कनिया की ‘माँग-बहुराई’ की। अब फूलमती सामने थीं। उनका धैर्य छूट गया। वे फफ़क पड़ीं। सास की आँखें भी गीली हो गईं। सब चुप थे। देवदत्त सिंह ने आगे बढ़कर अपने बिहउती गमछे से उनके आँसू पोछे...

—“चुप हो जाओ! कौन कहता है कि सौत है...हम दाई लाये हैं तुम्हारे लिए, जो तुम्हारी जगह थी, वह तुम्हारी ही है।”

उस सुबह आसमान में हर ओर नहीं बरसने वाले घने बादल थे। रह-रहकर वृंदा के कंठ में कुछ फँस जाता। वे भिंची-भिंची आवाज में लगातार रोती रहतीं। कई दिनों तक कुछ हज़म न हुआ। जो खातीं उल्टी हो जाती। सब यही समझते...नई दुल्हन का रोना स्वाभाविक ही है।

फूलमती से सबको सहानुभूति थी। जिसकी नई सौत आई हो, उसकी पीड़ा तो अथाह है। देवदत्त सिंह अक्सर काम-धाम से फारिग होकर उनके पास बैठे रहते, उनका जी बहलाते।

कुछ दिनों से बारिश जाने कहाँ गुम थी। उमस भरी गर्मी से मन घबराया हुआ था। सड़ती छेना मिठाइयों से आँगन महका पड़ा था। वृंदा खिड़की से सिर टिकाए अन्यमनस्क बैठी थीं। कमरे की लम्बाई-चौड़ाई के बनिस्पत पलंग ने ज्यादा जगह घेरी हुई थी। घर के सभी लोग छत पर गप्पबाजी में मशगूल थे। अचानक वृंदा की जीभ पर खट्टा सा कुछ आया। वे पनोहा पर भागीं। देर तक उल्टियाँ करती रहीं। एक भारी हाथ कोमलता से उनका सिर व पीठ सहलाता रहा। उनसे और खड़ा न हुआ गया। वे बैठ गईं। पस्त होकर उन्होंने सिर हथेली पर टिका दिया। बालों से भरे एक सांवले हाथ ने पानी का लोटा थमाया। मुँह हाथ धोकर वे लड़खड़ाती हुई खड़ी हुईं। उन्हीं हाथों ने सहारा देकर उन्हें कमरे में पहुँचाया। वे हाथ पंखे से हवा करने लगे...

—“अब कुछ ठीक लग रहा है?”

वो जो कोई भी था, बेहद सुदर्शन था। घुंघराले बालों का एक आवारा गुच्छा चौड़े ललाट पर खेल रहा था। वृंदा इससे अधिक नहीं देख पायीं। उन्होंने धीमे से सिर हिला दिया,

—“आप आराम कीजिये। मैं भेजता हूँ किसी को।”

कुछ देर पश्चात कमरे में अच्छी खासी भीड़ थी। उन्होंने कोशिश की...पर कमजोरी के कारण उठा नहीं गया। सास ने लेटे रहने की हिदायत दी। कुछ देर बातचीत करने के पश्चात ‘बिछिया’ को उनके साथ रहने का कहकर सब चले गए। बुखार काफी दिनों तक उन्हें झिंझोड़े रहा। बिछिया हीरा हज्जाम की पतोह थी। वह रोज नियम से आकर उनके देह हाथ पोंछती। उनकी चोटी गूँथती। उनसे गप्पें लड़ाती और ‘गते-गते’ घर की अंदरूनी जानकारियाँ भी दे रही थी।

शाम ढलने वाली थी। छत के एक अँधेरे कोने में बैठी वृंदा आज बहुत दिनों बाद झींगुर की आवाज सुन रही थीं। अजीब लग रहा है, मतलब अच्छा सा अजीब। कभी-कभी लगता कि बीमार होना भी आदमी के लिए आवश्यक और अपरिहार्य चीज है। आत्मग्रस्त, आत्मदया के बावजूद आदमी किसी यथार्थवादी स्वप्न में जीता है मानों! जैसे जो जी रहे हैं, वह स्वप्न है। जो पीछे जी चुके वह भी स्वप्न

जैसा लगता है। तो सच? उस अवस्था में आगत ही सच लगता है। ऐसा महसूस होता है मानों जो होने या आने वाला है वह एकदम ठोस ठनठन सच होगा जिसे हम साबुत देख, सुन, छू सकेंगे। और कहेंगे-हरे हाँ! यही तो है सच। ऐसा सच जिसे देखकर मुँह फेरने का मन न करे...वरन गाढ़े एकांत में बड़े इत्मिनान से निहारा व सहलाया जा सके। पर तबीयत ज्यों-ज्यों ठीक होती जाती है वह उदास-स्वप्निल निद्रा भी टूटती जाती है। जाने क्यों ठीक इसी तरह के ख्याल ने चौड़े ललाट पर घुंघराले बालों का गुच्छा कौंध गया। आँगन में वह का दफ़े दिखा था...हँसता-गुनगुनाता, फूलमती से कोमल ठिठोलियाँ करता...पर वृंदा नहीं जान पायी कि वह था कौन? न किसी ने बताया ही। उन्होंने बिछिया से हुलिया बताकर जानना चाहा। वह झट बोल पड़ी,

—“वो...परभु बाबू हैं.”

—“कौन परभु?”

—“देवदत्त बाबू के पितिताउत भाई परभुदत्त. कलकत्ते में रहकर पढ़ रहे थे। अब जाकर पढ़ाई पूरी भई है। माँ बाप तो लड़कपन में ही गुजर गए।”

फिर कुछ क्षण बिछिया चुप रही। मानों आसपास का जायजा ले रही हो। दबे स्वर बोली,

—“देवदत्त बाबू उन्हें ज्यादा पसंद नहीं करते।”

—“काहे?”

—“ई पार्टी और जुलुस-वुलुस में लगे रहते हैं न इसलिए।”

वृंदा चुप रहीं।

□

हफ्ते बाद देवदत्त सिंह वृंदा के कमरे में आए थे। वृंदा धुले हुए कपड़े समेट रही थी। उन्हें देख ठहर गईं। वे इत्मीनान से बैठ गए।

—“तबीयत कैसी है अब?”

—“ठीक है।” वे कपड़े तहियाने लगी।

देवदत्त सिंह काफी देर तक बतियाते रहे वे हूँ-हाँ करती रहीं। तमाम बातें कहने के पश्चात् उन्होंने आखिर में जोड़ा था...,

—“अम्मा का ध्यान रखना। उन्हें अपनी माँ समझना। और फूलमती तो तुम्हारी बड़ी बहन जैसी ही है।”

न चाहते हुए भी वृंदा की मुस्कुराहट वक्र हो गई,

गहना-गुरिया, साड़ी-सलुक्का से प्रेम थोड़ी न होता है! प्रेम होता है आदमी से...आदमी के दुलार भरे ह्रुअन से। बीमारी, दवा-दारू के बनिस्पत एक प्रेम भारी झिड़क से ज्यादा जल्दी सही होती है,

—“ध्यान काहे नहीं रखती अपना?”

वृंदा को लगता आवारा हवा के बीच बेतरतीब उड़ती फड़फड़ाती वे कागज का ऐसा टुकड़ा हो गयी हैं, जिसे कोई नहीं जो तहें लगाकर इज्जत, इत्मीनान से अपनी जेब में रखे। बेशक वे अधिकार व शासन की कसमसाहट में घुटें...पर वह घुटन इस ‘कुछ न’ होने से बेहतर ही होती।

घर-गृहस्ती के बाद कुछ तो होता जो उलझाए रहता! वे कमरे, आँगन में यूँ ही कुछ कागज के टुकड़े, ठोंगे ढूँढा करतीं। बिछिया अक्सर आकर उनसे बतियाती रहती। किसी दिन जाने क्या सोचकर वे कह पड़ीं,

—“एक काम करोगी हमारा?”

—“कहिए न!”

—“परभु बाबू से कोई किताब माँग लाओगी? कहना हमने मंगाया है।”

बिछिया चुप रह गई। सशंकित सी उन्हें देखती रही।

—“निफिकीर रहो...हम किसी से न कहेंगे!”

और इस तरह किताबों का लेन देन शुरू हुआ था। शायद यह अधूरा सच है। किताबों के संग-संग बहुत सी चीजें परस्पर संप्रेषित हो रही थीं।

किसी दिन किताब का एक पन्ना मुड़ा हुआ मिला। उत्सुकतावश वृंदा ने वही पन्ना सबसे पहले खोला था। एक ही पृष्ठ के अलग-अलग अनुच्छेदों में चार शब्द लाल रंग की स्याही से रेखांकित थे। उन्हें परस्पर मिलाने पर एक पंक्ति बनी थी...

—“वह बहुत कोमल थी।”

सहसा हृदय में होती धक-धक की गति बढ़ गई थी। उन्होंने उस एक पंक्ति को कई दफे पढ़ा। हर बार उस

एक पंक्ति में अनूठे ढंग का नया आस्वाद होता था। उन्होंने तो परभुदत्त को गिने-चुने दफे ही देखा था। क्या यह भ्रम मात्र है? या उनका आकांक्षी मन उन्हें वही दिखा रहा जो वह देखना चाहती हैं। संभव है यह भ्रम ही हो। पर, अब अक्सर ही किताबों में कुछ न कुछ रेखांकित दिखने लगा था। प्रत्युत्तर वृंदा के तरफ से भी उसी भाषा में दिया जाता। यह आरंभ था। कि अब उन्हें ढेर सी चूड़ियाँ पहनना बहुत अच्छा लगने लगा था। खूब शोख रंग-बिरंगी काँच की चूड़ियाँ। हथेली की गाँठें बहुत नरम न थीं। चूड़ीहारिन लाख जतन से चूड़ियाँ पहनाए वृंदा की सिसकारी निकल ही जाती थीं। आधी दर्जन चूड़ियों के बाद ही वे हाथ झटक देतीं। पर अब ऐसा न था। आहें भरते हुए भी वे कलाइयाँ चूड़ियों से भर-भर लेतीं। चूड़ियों की खनखनाहट में एकांत का गगन स्वप्नमयी गान भर नहीं था। अनवरत बेढंगी लहर पर थिरकती वे एक पोशीदा ख्याल...एक गुप्त सन्देश भी होती थीं। आश्चर्यजनक रूप से रातों में जब सप्तर्षि आसमान पर टंग जाते, घर के पिछवाड़े कुइयों के पास बेतहाशा फैले उड़हुल की झाड़ियों में चूड़ियाँ एक लय में लगातार बजती रहती थीं। दुपहरियों की नीरवता में जब नींद, ऊन-काटे, कचौरियों की फेहरिस्त में घर की तमाम चूड़ियाँ व्यस्त होतीं...छत की बगल वाली कोठरी में वृंदा की चूड़ियाँ गुनगुनाती रहतीं। अक्सर किसी आहट से चौंक चूड़ियाँ सहमकर खामोश हो जातीं। कभी यूँ भी हैरान होतीं वे कि इतने करीब से गुजरकर देवदत्त सिंह इन चूड़ियों के गुपचुप संगीत से इतने बेपरवाह कैसे रहते हैं?

वे चूड़ियाँ धैर्य थामे कलाई से आगे कभी नहीं बढ़ पायीं। उन चूड़ियों पर होठ टिकाकर प्रभु दत्त ने वृंदा के संग जाने कितने-कितने सपनों के सितारे उनपर टांक दिए थे। कांपती हुई वृंदा ने आहिस्ता से कलाई होठों तले से सरका ली थी। प्रभु दत्त इन सपनों में ही रहे। इनसे आगे नहीं बढ़े कभी। उनके होठों पर हमेशा उन ठंडी चूड़ियों की कंपन थरथराती रहती। इन्हीं सपनों की कड़ी के तहत प्रभु दत्त ने वृंदा को अभी-अभी पास हुए ‘हिन्दू कोड बिल’ के विषय में बताया था।

—“सो क्या है?” वृंदा ने उनके हाथ में थमे अखबार पर नज़र टिकाते हुए पूछा।

—“इसके अनुसार, अब पत्नी चाहे तो पति से अलग होने का उसे कानूनी अधिकार है।”

—“हुम्म”

—“और...”

—“और क्या?”

—“पहली पत्नी के जीवित रहते कोई आदमी दूसरा ब्याह नहीं कर सकता।”

वृंदा कुछ क्षण एकटक उन्हें देखती रहीं। फिर खिड़की से बाहर देखने लगीं। तीखी धूप में शीशम की पत्तियों का रंग ज्यादा चटख दिख रहा था। देवदत्त सिंह के विशाल खेत में मजदूर पसीना पोंछते जी जान से जुटे थे। एक नीम की छाँह तले कुर्सी पर बैठे देवदत्त सिंह पीतल के लोटे से पानी पी रहे थे। वृंदा बेखयाली में उन्हें देखती रहीं। अचानक उन्हें लगा गमछी से मुँह पोंछते देवदत्त सिंह ने यकायक खिड़की को ही देखा हो। वे झट दीवार की ओट में आ गईं। हालाँकि कमरे में अँधेरा था। मरे हुए चूहों, उपले व सूखी लकड़ियों की गंध हर-सूँ फैली थी। वृंदा के कंठ से गहरी साँस निकलकर रह गयी।

—“अब क्या मतलब?”

—“वे बिचारगी से मुस्कराईं.”

—“अब भी बहुत कुछ!”

—“ऊँ...हूँ...!”

उन्होंने हथेलियों से दीवार थाम ली.

प्रभु दत्त उनकी उँगलियों में अपनी उँगलियाँ सख्ती से फंसाकर कुछ क्षण उनकी आँखों में झाँकते रहे। वृंदा ने छुड़ाने की कोशिश की, पर उँगलियों में उँगलियाँ बेतरह उलझ गयी थीं।

—“हाँ, कल हमें निर्णय सुनना है. कुइयाँ के पास।”

□

वे अपने कमरे में आई तो देवदत्त सिंह बेना डोलाते चहलकदमी कर रहे थे। वे ठिठक गयीं। पर बजाहिर उनके हाथ से बेना लेकर वे हवा करने लगीं।

—“प्यास लगी है।” देवदत्त सिंह ने सहज भाव में कहा।

गुड़-पानी पीकर वे चले गए।

वृंदा उलझन में पड़ी थी। वे प्रभुदत्त को नहीं बता पायी थीं अब तक. कैसे बताएँ...कैसी भूमिका बनाएँ, क्या

कहें...ऐसा नहीं था कि प्रभुदत्त पति-पत्नी का संबंध नहीं समझते होंगे। या देवदत्त सिंह के तानाशाही प्रवृत्ति को न जानते होंगे। परन्तु ‘यह?’ यह तो साक्षात प्रमाण है संबंधों का। उनके दिन चढ़े थे।

अचानक ही चौंक कर वृंदा की नींद टूटी थी। आजकल जाने क्यों उन्हें बड़ी गाढ़ी नींद आने लगी थी। बिना हिले-डुले उन्होंने बगल में देखा. देवदत्त सिंह नहीं थे। वृंदा को हैरानी नहीं हुई। जिन निश्चित रातों को देवदत्त सिंह उनके साथ होते थे, अक्सर ही दूसरे तीसरे पहर के पश्चात फूलमती के पास चले जाया करते।

खिड़की का पल्ला खोलते ही वे तीखी ठंडी हवा से सिहर गईं। वह अगहन की धुँधली सी अँजोरिया थी। कुहरे की घनी रजाई ओढ़े आसमान खामोशी से सो रहा था। सप्तर्षि नहीं दिख रहे थे। अनुमानतः रात दूसरे पहर से आगे बढ़ रही थी। बदन पर काली शॉल कसकर लपेट वे बाहर निकल आईं. कुइयाँ पूर्ववत उदास खामोश टूटा पड़ा था। दिन में पानी की सतह पर उड़हुल की सूखी पत्तियाँ, सूखे झरे फूल दिखते थे। अभी घुप अँधेरा था। झाड़ियों के पास जब ढेर सी चूड़ियाँ एक निश्चित लय में खनकीं तो रात के सन्नाटे में उनकी खनखनाहट दूर तक गूँज गई। डरे हुए चाँद ने कुहरे का लिहाफ़ नाक तक सरका कर देखा। वृंदा को देखते ही उसकी आँखों से एक बूँद दुःख सरककर उड़हुल की चिकनी पत्ती पर सरककर गिर गया। पत्ती दुःख नहीं संभाल पाई। वह बर्फीला आँसू फिसल कर वृंदा की उल्टी हथेली पर जा टपका। सिहर कर वृंदा ने हाथ शॉल में छुपा लिए। चूड़ियाँ बड़ी देर तक खनक-खनक कर किसी को बुलाती रहीं। कोई आखिरी पुकार तक नहीं आया।

—“क्या वह रूठ गया है?” असमंजस में घिरी वृंदा कुछ देर कुएँ के जगत पर बैठी रही. कुत्ते कोरस में रो रहे थे. कुएँ की जगत पर बैठी रहीं।

—“रूठा है तो, रूठा रहे. यह कोई वक्त है रुसने का? पता है न...वृंदा कितने जोखिम उठाकर आती हैं...!!”

वे वापिस चली आईं। बहुत आहिस्तगी से उन्होंने दरवाजा खोला था। जाने कब वापस आकर देवदत्त सिंह बेसुध सो रहे थे। वृंदा चुपचाप लेट गईं. खिड़की की झिरी से बारीक चाँदनी कमरे में फैली थी. पर अँधेरा ज्यादा गाढ़ा था।

वृंदा की कनपटियों से कुछ सफ़ेद बाल झाँकने लगे थे। बेशक वे देवदत्त सिंह से दस बरस छोटी थीं...पर उम्र तो उनकी भी ढलान ही पर थी। वे गमखोर जीती रहीं। रोना बहुत आसान था। परन्तु रो लेने के पश्चात दिल हल्का हो जाता...प्रतिकार की इच्छा ही खत्म हो जाती। एक हिंसक प्रतिकार जो “माँग-बोहराई” के वक्त से ही उनके भीतर पल बढ़ रहा था...वह क्रमशः एक ‘संदेह’ के साथ प्रबलतम होता गया। कभी-कभी तो उनका जी चाहता कि देवदत्त सिंह की दाल में जहर घोलकर दे दें।

कितनी अजीब बात थी कि देह बूढ़ी हो रही थी, बाल पहचान बदल रहे थे...पर ‘अन्दर’ जो एक ‘कोई’ था वह कभी बूढ़ा नहीं हुआ। और उसके युवा बने रहने से बदले की भावना भी दिन पर दिन युवा होती गई।

घर खाली होता गया था। दो बच्चियों को जन्म देकर फूलमती चल बसी थीं। वृंदा ने ही उन दोनों का पालन पोषण किया। उनकी शादियाँ कीं। अब इस भुतैले बड़े घर में बस वे तीन लोग रह गए थे। देवदत्त सिंह ने, दो बरस से ज्यादा हुआ लकवाग्रस्त होकर बिस्तर पकड़ लिया था। शुरुआत में सिर्फ़ दाएँ हाथ-पैर ही प्रभावित थे। बिस्तर पर पड़े-पड़े वे चिड़चिड़े होते जा रहे थे। जब-तब किसी भी बात पर चिल्लाने लगते...! एक दिन जाने किस बात पर आपे से बाहर हो वे चिल्लाने लगे। वृंदा को देखते ही उनकी आँखों में खून उतर आया...

—“तू...तू चरित्रहीन साली...रातभर किससे मिलने जाती थी हमें सब मालूम है!”

वृंदा सन्न रह गयीं। अन्दर ही अन्दर खौलता हुआ वह प्रतिकार अपना स्वरूप स्पष्ट नहीं पहचान पा रहा था। पर अब कुछ तो होना ही है। झूठ या सच पर एक गहरी चोट देनी है। वे इत्मीनान से ठाकुर की खाट पर झुक गईं...उनकी आवाज में बेतरह शांति व ठंडापन था...

—“तब तो तुम्हें यह भी मालूम होगा कि उन सबका परिणाम क्या है? कभी सोचा है तुमने कि जिसे तुम अपना बेटा, अपना बेटा कहते फिरते हो...उसके एक भी लच्छन तुम्हारे जैसा क्यों नहीं है?”

देवदत्त सिंह कुछ क्षण स्तब्ध उसे एकटक ताकते रहे। उन्होंने दाहिने हाथ-पैर हिलाने चाहे...पर विवशता से होंठ काट लिए। बायीं हथेली वृंदा के देह के नीचे दबी थी।

उन्हें कुछ और नहीं सूझा। उन्होंने, वृंदा के चेहरे पर थूक दिया। वृंदा आँचल से चेहरा पोंछ कर मुस्करायीं...निरी ठंडी क्रूर मुस्कराहट।

वक्त के साथ लकवे का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़कर चेहरे तक हो गया था। देवदत्त सिंह स्पष्ट नहीं बोल पाते थे पर अस्पष्ट बड़बड़ाहट में वृंदा को अनवरत गालियाँ देते रहते।

अस्पष्ट परन्तु तेज होती कराह ने वृंदा की गहरी तन्दा तोड़ी। देवदत्त बेचैनी से बायाँ हाथ पटक रहे थे। वृंदा ने उठकर दरवाज़े खिड़कियाँ खोल दीं। धीरे-धीरे सफ़ेदी छा रही थी। रौशनी कमरे में भी फैल गई। वृंदा ने मच्छरदानी खोलकर रख दी। देवदत्त सिंह ने बिस्तर पर ही मल कर दिया था। बिस्तर व उनकी देह साफ़ करके वृंदा ने उन्हें तकिये के सहारे खिड़की के पास बिठा दिया। रजाई उनकी गर्दन तक ओढ़ा दी। वे चुपचाप बाहर खिलते उजाले को देखते रहे। थकी हुई आँखों में अब सपने नहीं जग पाते थे। लिहाज़ के कोर से बाजदफ़े आँखें पोंछने के बाद भी दुनिया धुंधली ही दिख रही थी। रात की बारिश का असर सुबह पर भी था। गीली मिट्टी पर बाँस के सूखे भूरे पत्ते बिखरे थे। वृंदा चाय बनाकर लाई। अपनी प्याली वे हमेशा पहले ढँककर रख देती थीं। देवदत्त सिंह को पिलाने के पश्चात वे पीतीं। देवदत्त सिंह हर घूँट के बाद खिड़की से बाहर देखने लगते। उस दिन के पश्चात उन्होंने कभी वृंदा की तरफ़ नहीं देखा था। जैसे घृणा से उनका रोम-रोम सुलग रहा हो। वृंदा उन्हें एकटक देखतीं, सावधानी से फूँक-फूँक कर चाय पिलाती रहीं...

—“इतने दिन हम घृणा में रहे, पर तुम्हें कभी मना नहीं कर पाए...अब तुम जलो घृणा में, परन्तु मुझे मना न कर पाना तुम्हारी विवशता है! तुम अब जियो, जो मैंने अब तक जीया है।”

बाहर कोई चिड़िया, भोर का गीत गा रही थी।

द्वारा, नवनीत नीरव,  
भारती फाउंडेशन,  
निकट करणी अस्पताल,  
PHD ऑफिस के विपरीत,  
बालेसर जिला जोधपुर,  
राजस्थान 342023  
मो. - 09693373733

शेखर मल्लिक

## रे अबुआ बुरु

बुरु गे आलेयेन् आबा कानाय! हापड़ाम कानाय... बुरु रेदो को ताहेना बोंगा बुरु, बुरु दोले बोंगा सेबाये कान, बुरु दोय ऐमा लेया दा: सेगेल आर साहान। सिबिल हरियाड़ बुरु ताले। झरना डाड़ी दा: लिंगिना बुरु खोन। आजार बेमार खोन बानचाव लागिद बुरु खोन ले खोजोआ रान मुरगान कोये आले, बाहाँ ऐमा आले में, सिबिल ऐमा आले में, मारसाल ऐमा आले में... ओ मरांग बुरु! रे अबुआ बुरु...!

सुकांति किस्कू हमारे बचपन का एक गीत गा रही है। उसी बचपन में जब हम दालान में खटिया पर या बलुई धरती पर पसरे होते थे, आकाश पर अनगिनत चमकते, धुंधलाते तारों को विस्मय से देखते रहते थे। घनी अँधेरी रातों में पहाड़ी ठंडी हवा के साथ ये बोल कहीं से सफर करते हुए हमारे पास चले आते थे। ऐसे गीतों की सिर्फ लय उस समय आकर्षण के कारण हमारे होंठों पर टिक जाया करती थी। मुझे याद यह भी आ रहा है कि, हम कई बार स्कूल जाते हुए रास्ते में कई तरह के गीत गाते थे। गाँव के गीत गाँव की लड़कियों और औरतों को कितनी अच्छी तरह से आते हैं। और जब वे गाती थीं, हम लड़कों को भी गाने का मन करता था! गाँव के पास का पहाड़ हमारे साथ चलता था, क्योंकि हमें उसके किनारे किनारे से होकर जाना होता था। पगडंडियों के पास पोखर थे, धान के खेत थे, पत्थरों और छोटे-बड़े चट्टानों की शानदार सजावट थी। उस पहाड़ की तलहटी में छोटा सा माध्यमिक स्कूल था हमारा। कई तरह के मौसमी फूलों और आम, नारियल के पेड़ों से सजा-संवरा। लाल रंग का राजकीय स्कूल!

पुराने पहचाने रास्तों पर चलते हुए बहुत कुछ पुराना याद आने लगता है। स्कूल की याद आई तो उसके बाद की यादें भी पिछलग्गू बनके आ रही हैं... दसवीं तक पढ़ने के बाद मैं राँची चला गया। क्योंकि आगे पढ़ना था। गाँव में सबने कहा, बाहर जाओ। गाँव में कौन बच रहा है? ना खेत बच रहा, ना खेतिहर! आदमी ना आदमी का भविष्य! मेरे साथ कान्हू, दुलाल भी पढ़ने बाहर गए। जबकि रामसिंग, धनु और कुछ लड़के बाहर

काम करने गए। मुझे यह भी लगा कि सुकांति, पायो, दुली, जोबा, सिंगो जैसी लड़कियाँ भी बाहर जाकर पढ़ सकती हैं। काम के लिये तो बाहर जाती हैं, ब्याह करके भी बाहर चली जाती हैं, तो पढ़ाई करने के लिये क्यों नहीं? मैं सुकांति को हमेशा साथ रखना चाहता था, शायद इसलिए ये तर्क अपने आपको देता था। अपने गाँव में सबने मुझे बुद्धिमान लड़के के रूप में देखा था। पढ़ाई में मैं बहुत अच्छा छात्र था और किसी तरह मुझे उच्च शिक्षा हासिल कर एक अच्छी नौकरी करने की चुनौती पर खरा उतरना था। घर की पस्त हाल जिंदगी का दबाव भी था कि आगे पढ़कर अच्छा कमाने – धमाने लगूँ। इसलिए सुकांति को साथ ले जाने के लिये किसी से लड़ने का वक्त नहीं मिला मुझे और मैं अकेला ही कॉलेज में पढ़ने शहर चला गया।

रांची में पढ़ाई करते हुए ही एक दूकान में नौकरी की. एम.ए. के आखरी साल में था, कर्मचारी चयन आयोग ने अनुवादक की रिक्तियाँ निकालीं, तो उसमें आवेदन कर दिया. लिखित परीक्षा, फिर साक्षात्कार में सफलता मिली। इसके बाद सरकारी नौकर बनकर राँची में ही रहने लगा. शहर में नौकरी करने वाले आदमी गाँव जाना भूल जाते हैं, मगर मैं तो पहाड़िया आदिवासी हूँ ना! सरकारी नौकरी में कोटे से घुसाया गया! गँवार, काला और ओढ़ो ! मैं नियम से सालाना दो-तीन बार अपने पहाड़ी गाँव आता रहता हूँ! बा: बोंगा पर्व पर और करम-पूजा पर तो जरूर... पिछले साल करम के दो दिन पहले बुखार में ऐसा पड़ा कि सप्ताह भर बिस्तर पर रहा। गाँव जाने की हिम्मत और ताकत देह में नहीं रही. आयो (माँ) से कह दिया था कि मौसमी बुखार है। चिंता ना करे। बाद में आऊँगा। बाद में कोई छुट्टी निकली नहीं। और दिनचर्या इतनी तंग कि अवकाश निकालने की चेष्टा भी नहीं की। सो इस बार सरहुल यानि बा: बोंगा पर आया हूँ. यानि ठीक एक साल बाद...

प्रदेश की सीमा पर मेरा गाँव जंगल, पहाड़ और झरनों का गाँव है। प्रदेश की राजधानी में रहते हुए मुझे अपना गाँव याद आता है... एक अकेले लड़के के लिये गाँव की याद में गाँव का सबकुछ होता है... मरियल कुत्ते, कोयल, आम, महुआ, केंदू गाछ, खेत, पोखर, पहाड़ियाँ, उत्सव, रात, भोर, घर-दुआर और प्रेम... प्रेम, जिसके बारे में बात नहीं की दुलाड़िया (प्रेमिका) से!

बाबा अब नहीं हैं। आयो अकेली रहती है. इस पुश्तैनी जमीन पर, मिट्टी-खपैरैल के पुश्तैनी घर में... जैसे

कई पुश्तों से रहती आयीं मालूम पड़ती हैं! अपनी मुर्गियों को फटकारतीं... अपनी कमजोर होती आँखों को कोसतीं... शहर में आँख के डॉ. को दिखाकर बनवाए नज़र के चश्मे को कभी लगाती, कभी नहीं लगाती... आँगन में बिना बैलों के, पहिये के सहारे टिके उठंगे बैलगाड़ी को देखते बैठी रहती हैं. कई बार देखा है उनको... अब वह बैलगाड़ी जर्जर होकर गिरने को है... उसके पहिये आधे मिट्टी में धंस गए हैं... इतने सालों में. मगर आयो दुआर पर बैठी उसे तकती रहती हैं... आँगन में अब सिर्फ दो पेड़ बचे हैं... पहले छह: थे... नीम का एक, आम का एक, केले के दो, सहजन का एक और सेमल का एक. कुछ साल पहले आँधी-पानी में सेमल गिर गया था... केले के पेड़ पानी के अभाव में एक साल मर गए। कीड़ों की वजह से सहजन कटवाना पड़ा... बस अब नीम और आम हैं।

सुबह सुबह घास पर पैरों की चाल और झाड़ियों से रगड़ते पैरों की जर-जर आवाज़ है... और धीमे धीमे गुनगुनाने की तरह सुकांति का गाना... सुकांति के साथ मुझे भी गाने का मन कर रहा है। बचपन में भी तो इसी तरह उसके गाने ही गाने का मन हो उठता था. मैं भी गाने लगा हूँ. बुरा हो ताहेना, जहाँ तिस आबोबोन दुलाड़ा, जीबिबोन खांडावा, जीबि खान्दाव काते बोन गुजुआ... बुरा दो ताहें याका ताहेना जहाँ तिस आबो वांगबी ताहेना... हुड़िंग- हुड़िंग नवा बाहा कुची डार रे फुटवआ... बुरुय गेल बोनाम दोहड़ा आबो, बुरा दोय होहोया सुरसडगे होड़ लेका आजा: ओड़आ रे... 'kमाबोन दोहड़ा, आबो आबोरीन गीद् रा रेबो ताहेना... यही गीत तो था, लेकिन इस पंक्ति को हमने अबूझ रहने के कारण कभी नहीं गाया। शायद इसलिए सुकांति ने मुड़कर मेरी ओर देखा है। देखने में हमेशा एक मुस्कान होती थी। आज नहीं है। इसलिए मैं भी उसे कुछ गौर से देख रहा हूँ।

एकाएक चिड़ियों की चहचहाट सिर के ऊपर से होती हुई, जंगल की तरफ बढ़ जाती है। मेरी दृष्टि उस तरफ सरक जाती है, और सुकांति का गाना भी रुक जाता है।

क्या हम उसी रास्ते पर नहीं जा रहे हैं, जिधर गाँव का मरांग बुरा है?... बुरा यानि पहाड़... मरांग बुरा, बड़ा पहाड़! दो छोटे से पहाड़ों के पीछे से घूमकर जाने पर सामने खड़ा... हालाँकि इसकी ऊँचाई भी छोटे बुराओं से तुलनात्मक रूप से बहुत अधिक नहीं है, मगर फिर भी वह गाँव के लिये मरांग बुरा है! मान लेने पर क्या नहीं हो सकता! समझौता, संतोष, प्रेम, विश्वास, भरोसा!... और हमलोग 'मानते' हैं...



हमारा समाज 'मानने' वाला समाज है... इसलिए हमने प्रकृति में ही सब माना... धरती को आबा... सूर्य को बोंगा!

पहाड़ की बात सोचते ही राँची में अपने एक दोस्त से किसी सवाल के जवाब में अपना बोला याद आता है, पहाड़ों का आकर्षण अद्भुत होता है, गाते (मित्र)। हमलोगों के लिये पहाड़ एक घर है! हाँ, मैं भी यह जानता हूँ. कि पहाड़, हमारा एक अपना निजी वास है, जहाँ हम फूल चुनते हैं, फल खाते हैं। बादलों के गलबहियाँ डालते हैं, और देर तक उदास बैठे गीत गाते हैं... पतले बांस को ओंठ से लगाकर उसमें साँस फूँकते हैं... उसका संगीत नीचे घाटियों तक पहुँचता है, तब बकरियाँ मिमियाती हैं, गायेँ रम्भाती हैं... बैल सिर हिलाते हैं, और मुर्गियाँ भागकर दुआर से निकल जाती हैं। बुरा पर जब भूरे, स्लेटी बादल चढ़ते हैं, हम दौड़ लगाते हुए घर की ओर भागते हैं... कई तरह के गंवार खेल खेलते हुए सारे बच्चे... जलावन, दतुअन और वनोपज चुनकर इक्कट्टा करती लड़कियाँ और औरतें भागती हैं... पहाड़ के निचले हिस्से में चरती हुई बकरियाँ, गायेँ भी... अरे! झिर-झिर... वर्षा होने वाली है. चलो भागो! अंधड़ चलने पर बुरा का रंग बदलता है. तेज हवा से गाछ और लंबी घास दोहरे हुए जाते हैं... गाँव के बड़े-बूढ़े कहते थे कि पहाड़ मेघों को इक्कट्टा करके पानी बरसाता है... गाछ पानी रोककर रखते हैं, तभी तो मिट्टी के भीतर का पानी, नाले का पानी फसलों को हरा ताजा कर देता है!

सुकांति, पहाड़ पर चल रहे हैं तो आज थोड़ा ज्यादा देर बैठेंगे. मैं सुकांति से कह रहा हूँ। मुझे मालूम है कि मैं कितना उत्साहित हूँ। लेकिन सुकांति, लगता है, बगैर किसी उत्साह के बस यूँ ही मुझे वहाँ ले जा रही है! क्यों? इसका उत्तर नहीं। उत्तर का अनुमान कानों में बजती कोयल की बाँसुरी देती है... एकांत अपने पास कर देता है। एकाएक गुमसुम... सिर्फ होने के लिये होना होता है। मौजूद होकर भी निर्लिप्त! सुकांति मुझे हमारे उस निजी वास में ले जाकर कुछ कहेगी... उस कहने में जो रोमान होगा, शायद उसी को बुन रही है! या फिर कोई दुःख...

मैं इधर से गुजरता बस अपने बचपन तक पहुँच रहा हूँ. जो बहुत कुछ हमारा साझा बचपन है। सुकांति के साथ पहाड़ की चोटी तक जाने वाली कई सारी पगडंडियों, जो पहाड़ पर जाने वालों के पैरों के नियमित चलने से बने हैं, मैं से उस एक पगडण्डी तक मैं इसी रास्ते से जाता था, जो हमें पहाड़ की सबसे सुन्दर जगह पर आसानी से पहुँचाती

थी... धुँध से भरी पथरीली जगह। जहाँ तेज हवा चलती तो कानों में बाँसुरी सी बजती। और जिसके सिरे पर जाकर बैठने पर नीचे गाँव और नदी ऐसे दिखते जैसे क्लास में हममें से किसी ने चित्रकला की कॉपी में एक सुंदर चित्र बनाया हो! हरा, भूरा, सर्पीली और चौकोर खानों के रंग और आकृतियाँ...

सुबह बढ़ रही है. धूप साफ़ निकल आई है। सुकांति के कोमल, मगर धूप में सीझे चेहरे पर देर से प्रतीक्षित पाहुन की तरह एक मुस्कान आई है। क्या हम उस बुरा पर फिर चढ़ने जा रहे हैं? मैं पूछता नहीं। मैं जानता हूँ सुकांति हंसकर कहेगी, अरे हाबला (बोका), हर बात पूछता है! मैं बिना अपने पूछे, बिना उसके ये कहे, झिझककर हँस देता हूँ। सुकांति ने गाना बंद कर दिया है। वह कहती है, धूप हो गयी है, लेकिन चलना अच्छा लग रहा है। मैं कहता हूँ, साथ चल रहे हैं, इसलिए अच्छा लग रहा है. अकेला कोई इधर आयेगा ही नहीं। बिना किसी काम के! मैं फिर पूछता हूँ, बुरा पर रहेंगे ना देर तक? तुम घर जाने के लिये मत हड़बड़ाना. सुकांति मुझे ऐसे देखती है कि कुछ कहेगी। फिर भी कुछ नहीं कहती।

हमारे गाँव के पास बहुत लंबी पहाड़ी श्रृंखला है। लेकिन खास तो तीन पहाड़ हैं. मरांग बुरा यानि बड़ा बुरा, फिर दो छोटे बुरा... साथ-साथ, सटे-सटे. पहाड़ों का रोमांच और खिंचाव... एक आदत, एक अद्भुत उदासी... खुद को गुम कर देने वाला एहसास... और याद है, अपने इस गाँव के उस बड़े बुरा पर सुकांति के साथ अनगिनत बार, प्रायः रोज चढ़ता रहा था. हरे भरे, लंबे लंबे शाल गाछ और जंगली झाड़ियों से ढंके, सफेद चकमक पत्थरों का घर... ये बुरा! उत्तर दिशा की तरफ से ये दूर से दिखता है... कहीं से गाँव लौटो तो रेल की खिड़की से उस बुरा की भूरी-हरी चोटी आसमान पर देख, मन खुशी और विश्वास से किलक उठता, कि लो अब घर आ गए. अपना गाँव पहुँच गए!

अप्रैल का महीना है, लेकिन आसमान में आज सुबह हल्की बदली है. उमस और धुन्धाला सा वातावरण. सुकांति मुझे एकदम सुबह ही बुलाने आई थी.

चलो।

किधर?

चलेगा कि नहीं?

क्यों नहीं!

तो फिर पूछता काहे है ?

नहीं, पहले भी नहीं पूछता था... तो अब क्यों ? नहीं पूछूँगा... बस उसने बुलाया तो साथ चल देना है... और मैं उसके साथ चलता हुआ, अपनी पहचानी हुई पगडंडियों, मेड़ों से गुजर रहा हूँ. इतना बोलने वाली सुकांति कुछ नहीं बोलती। चल रही है, और सिर भी नहीं उठाती। और मैं बचपन में इधर जब आता था, उन दिनों की बातें उससे कर रहा हूँ। मैं आयो की बात से शुरू कर रहा हूँ कि जब माँ के साथ पहाड़ की तरफ जाता था, जिधर मेरा ननिहाल था, जितना मैं चलता, पहाड़ उतना ही दूर होता जाता। फिर मुझे मालूम हुआ कि पहाड़ जितना पास दिखते हैं, उतने होते नहीं। और यह बचपन का निष्कर्ष था। बाबा मुझे गोद में उठाकर दूर दिखाते, वो देखो, वो जो दूर लाल लाल सा दिख रहा है, वह है हमारा बुरु! घने पेड़ों के बीच लाल मिट्टी आकाश के पास दिखती। थोड़ा होश आने और अपने पैरों पर सरपट भाग सकने लायक होने पर मैं खुद तुम्हारे और दूसरे बच्चों के साथ, फिर सिर्फ तुम्हारे साथ ही पहाड़ तक जाता रहा। अपना बुरु उतना दूर नहीं लगा। यही तो रास्ता है। इधर से ही हम गए हैं...

सुकांति बोलो, बुरु पर जब बैठेंगे, तुम्हारी उदासी शाल पत्ते पर ठहरी रात की ओस की तरह उड़ जायेगी ना ?

रास्ता बहुत अच्छा नहीं है। पहले तो जब आते थे, इधर पुटुस, बेर और बबूल की झाड़ियाँ होती थीं। पीले छोटे छोटे फूलों से भरे गाछ, जिनका मैं आज तक नाम नहीं जानता, रास्ते पर झुके होते थे... बीच बीच में देशी खजूर और ताड़ के पेड़। आसमान में उड़ती रहती बारिश लाने वाली बड़ी 'राजा तितलियाँ'... बड़े-बड़े काले भौरे उड़ते रहते. या झाड़ियों पर खिले पीले-सफेद नन्हें फूल और उनपर बैठती पीली-सफेद तितलियाँ... उनमें से कुछ भी नहीं है। कोई गाछ-झाड़ी नहीं है। केवल कुछ तिरछे हुए खजूर के पेड़ डह गई मीनार की तरह रास्ते के किनारे पर धकेल दिए गए से दिख रहे हैं...साफ़ करके रास्ता चौड़ा किया गया है। रेतीला, सूखा। लाल-भूरी धूल उड़ रही है। रास्ते पर गड्ढे और मोटे टायरों के निशान खुदे हैं... इसलिए यह कच्चा रास्ता समतल नहीं है। मैं थोड़ा रुका। सुकांति को देखने लगा, जो मुझसे थोड़ी तेज चलती हुई बायीं ओर चली गई है। सुकांति की पीठ का ताँबा सूरज से पिघलने लगा है। वह

पीठ एक पहचाने हुए दृश्य पर ठहर गयी। यह वही जगह तो है। वही...

सुकांति झुकी और बैठते-बैठते मुड़ गयी मेरी तरफ... ओढ़नी से ढंका चेहरा दिखा, आओ, इधर। थोड़ा बैठेंगे। मैं भी बड़ी देर से कहीं बैठ जाना चाह रहा था। सुकांति इतनी निर्लिप्त होकर चल रही है, जबकि हमेशा कि तरह मुझे बुलाकर वही लायी है ! मैं कहता हूँ, सुकांति, आजकल गर्मी बहुत बढ़ गई है। गाँव में भी। पहले तो इतनी नहीं होती थी। दुनिया गर्म हो रही है...

वह बैठी है वहीं। बरगद के पुराने पेड़ के नीचे। उस पेड़, जिसे हम बच्चे बचपन में दादा पेड़ कहते थे, की जड़ें उभरी हुई थीं। डालियों से झूलती हुई वटों को पकड़ कर हम तब झूलते थे। शायद आज भी गाँव के बच्चे-बच्चियाँ झूलते हैं। मैं इसका अंदाजा इसलिए लगा रहा हूँ क्योंकि, सामने देख रहा हूँ कि किसी के छोटे छोटे एक जोड़ी लाल चप्पल वहाँ छूट गए हैं। चप्पल के फीते पर एक तरफ मरम्मत की सिलाई है... नहीं एड़ियों के दबाव से दबा एड़ी वाला हिस्सा, जहाँ गोल सा छेद हो गया है। पेड़ की डालियों के नीचे घनी छाया है। उसी छाया में हमने एक-टंगड़ी, बाघ-बकरी, लाल-डंडा से शुरू कर गुलेल से निशान लगाने के खेल खेले हैं... उसकी घनी छाँव के नीचे हैंडिया बेचती काकियों को देखा है, जो हाट के दिन बहुत सुबह से ही आकर बैठ जाती थीं। बीगेन काका इसी बरगद के नीचे दोपहर को भी मिल जाते तो कहानी सुनाने लगते थे, बिना हमारी फरमाइश के ! कहानी सुनाते हुए बीड़ी पीते... हर बार कहानी तब खत्म हो जाती थी, जब उनकी बीड़ी खत्म होती थी... और वे खत्म हुई बीड़ी फेंककर चल देते थे. जिसका एक सिरा घास या झाड़ी में लाल जुगनू की तरह थोड़ी देर चमकता फिर खत्म हो जाता था।

सुकांति उन जड़ों में से एक अधिक उभरी और मोटी जड़ पर बैठी है। जंगल के पास होने पर जैसी शांति और महीन सी अशांति एक साथ! चिड़ियों की आवाजें. कोयल का बोलकर रुकना, फिर बोलना। हवा में एक भारी गंध, जिसे मैं कई दिनों बाद महसूस कर रहा हूँ, लेकिन आज भी नाम नहीं दे सकता। वह इस गाँव के साथ खड़े जंगल से हमेशा आती है. सुकांति नीचे गिरे हुए पत्तों से खेल रही है। सब चीन्हा-चीन्हा सा है। और मुझे लग रहा है, मैं जैसे कल यहीं ही था. जैसे घर से भाग आया हूँ ऐसे ही मौज में... ऐसी ही महक, ध्वनियों और छायाओं के बीच। शांति

का एक अंतराल आने पर एक बेमेल और कर्कश आवाज़ जो पहले कभी नहीं सुनी है, आ रही है... ये आवाज़ जंगल और आसपास के पूरे सम्मोहन को तार-तार कर रही है। सुकांति की ओर देखता हूँ, उसकी पत्ती पर एक बड़ी सी काली चींटी चढ़ रही है। वह उसे देख रही है। मैं पूछता हूँ, सुकांति, ये क्या आवाज़ है? वही, पत्थर खदान! वह कहती है।

मैं क्रशर मशीन की घर-घर सुन रहा हूँ। जो शायद थोड़ी ही दूर पर है। लारियों के इंजन की आवाज़ें भी आ रही हैं। जंगल में मशीनी आवाज़ें हैं! सुकांति बड़ी सावधानी से एक चींटी को अपने पैरों से परे कर रही है। चींटा कहीं उसके पैरों के नीचे आ ना जाय। अजीब सा लगने लगा है। जंगल में, पहाड़ी में ये घुसपैठी आवाज़ें सुकांति को कैसी लग रही हैं? पूछूँ? लेकिन इतने प्रश्न क्यों पूछना चाहता हूँ? जब से सुकांति बुलाकर इधर लायी है, हर चीज में एक सवाल है, और मैं सुकांति से उसका उत्तर मांगना चाह रहा हूँ!

सुकांति के बाबा ने कल बताया था, गए साल से पहाड़ काटने की मशीनें गाँव में लग गयी हैं। बम यानि डायनामाईट से पहाड़ फोड़ते हैं... गाँव के कई औरत-मर्द और कम उम्र के लड़के लड़कियों को वहाँ मजदूरी मिली है। सुकांति भी काम करती थी। लेकिन आगे नहीं भेजेंगे। उधर का काम ठीक नहीं। देह को हानि करता है। पायो मुण्डा को शहर ले जाकर दिखाना पड़ा। डॉ. बोला छाती का बीमारी हो गया है। इसका इलाज सस्ता नहीं। पैसा का मदद लेने बहुत जगह गया, लेकिन मदद नहीं ला पाया उसका आदमी। पायो नहीं बची। गाँव में सब डरा, लेकिन काम चार पैसा कमाने के लिये कर रहा है। छोड़ नहीं पा रहा। सुकांति तो बच्ची है। इस बुतनी को कोई बीमारी हो गया तो हमलोग क्या करेगा?

सुकांति के बाबा ऐसे बोलते हैं कि मैं डर गया था। धूल के फेफड़ों में लगातार जाते रहने से होने वाली बीमारी 'सिलकोसिस' सीमेंट फैक्ट्रियों, शीशा कारखानों जैसी धूलकण पैदा करने वाली जगहों पर मजदूरों को होती हैं... स्टोन-क्रशर के काम में भी इसके खतरे हैं। सुकांति की तरफ मन भर कर देखता हूँ, मन में आता है, क्या इतना कोमल चेहरा क्रशर में पत्थर तोड़ने, ढोने से... प्रदूषित हवा में सांस लेने से पत्थर जैसा ही इतना कठोर हो गया है? क्या ये चुप्पी क्रशर के शोर से उपजी है!

पास आकर मैं भी सुकांति की बगल में तने से पीठ लगाकर बैठ गया। उसका गुमसुम चेहरा कुछ देर मुझे भी ठस कर देता है। फिर मैं क्रशर, जहाँ कहीं भी चल रहा है, की आवाज़ की कर्कशता और धूप में उड़ती चिड़ियों की चहचहाहट में सामंजस्य बिटाने की कोशिश करता हूँ। मेरे कानों में कई तरह की आवाज़ें हैं... बेमेल, कोई संगीत नहीं, जिसकी उम्मीद और आशा करता रहा था... जिसे गाँव आकर अपने अनुभवों में हमेशा जोड़ता रहा हूँ, जो मेरे देह-मन की गठन में रचा-बसा है। मैं बात करना चाहता हूँ। आकाश की, जंगल की, केंदू की, पेड़ों की, चिड़ियों की, बुरु की... और सुकांति से सुकांति की।

सुकांति, तुमने कितने दिन काम किया है क्रशर में?

जब से यहाँ लगा है।

अब मत करना...

बाबा भी यही बोलते हैं।

जान का खतरा है।

पायो हुडिंग आयो (पायो मौसी) मर गयी, इसलिए?

हाँ, उनके जैसे देश में और भी मजदूर मर रहे हैं।

तुम अब गाँव का आदमी नहीं। शहर में सरकारी काम करता है। सब कुछ जानता है।

हाँ, बहुत कुछ जानता हूँ। शहर में रहने से नहीं, पढ़ने से। मैं बहुत सारा पढ़ता हूँ। मेरे मकान में किताब की छह: आलमारियाँ हैं, वहाँ!

जादू जानता है?

जादू!

हाँ, जिससे चीज सब गायब हो जाता है। फिर जादूगर हँसता है। लोग ताली बजाता है।

वह हाथ की सफाई होती है सुकांति।

मतलब?

मतलब, नजर का धोखा। चालाकी...

धोखा, चालाकी माने जादू! है ना रे?

मैं सुकांति को गौर से देख रहा हूँ। मैं उसकी उदासी से परेशान हो चुका हूँ। यह भी हवा के थपेड़ों, झींगुरों की

बोलियों, बिजली की गड़गड़ाहट, शाल पत्तों पर गिरती बरसात की झर-झर या जंगल में लगी आग की चिट-चिटहट जैसी कोई अनूठी भाषा है! उसकी इस भाषा का क्या भावार्थ लूँ, समझ नहीं पा रहा तो अपने भीतर की भाषा में उसका अनुवाद नहीं कर सकता! मैं निकम्मा अनुवादक हूँ!

सुकांति, तुम हमसे कुछ कह नहीं रही हो, लेकिन बहुत सारा सोच रही हो ना? सिर्फ यही कह देता हूँ।

सुकांति की बड़ी आँखें मेरी ओर घूमती हैं। बस।

मैं इधर उधर देख रहा हूँ। इधर एक कच्चा रास्ता अमराई की ओर जाता था। वह रास्ता भी नहीं दिख रहा। जब वह नहीं बोल रही, तो मैं भी नहीं बोलूँगा। जब वह बोलेगी, तभी बोलूँगा। सुकांति एक सूखी डाल उठाकर उसके टुकड़े करने का खेल खेल रही है। चट चट... टक टक की नहीं आवाजें...

सुकांति खेल रोककर मुझे पुकारती है, सुनो!

मैं उसकी ओर देख रहा हूँ, पसीने से नम त्वचा से मानवीय गंध उठ रही है, और उसके चेहरे पर उजली आँखें...

सोच रहे हैं कि जब अपना बहुत सुंदर चीज कोई खराब कर देता है तो कितना दुःख होता है!

क्या खराब हुआ है सुकांति? तुम्हारा चीज खराब किया है? कौन...

हमारा चीज है वह... हमलोगों का था.

मुझे बताओगी या नहीं?

सुकांति सिर हिलाती है. स्वीकारोक्ति! मुझे अचानक खुशी हुई...

मैं बरगद से पीठ टिकाये आँख मूँद कर बैठा हूँ। आँख मूँद लेने से कितना कुछ दिखने लगता है। बचपन की धूप, पुराने मौसम, कही सुनी कई सारी बातें... बीत चुके दूर के दिन... करम गाछ दुआर में गाड़कर करम पूजा करने के दिन, कई साल पहले हराधन काका ने कहा था, करन, तुम बाहर शहर जा रहा। गाँव का और लोग भी गया, किन्तु तुम गया पढ़ने के कारण। तुम पढ़ कर बहुत कुछ जानेगा। देखेगा। हम तुमको एक बात बोलता। पढ़कर तुम हो सकता है, कभी इधर नहीं आयेगा। गाँव से जो निकल गया, गाँव नहीं आता। आयेगा भी काहे? अपना जात बिरादरी, अपना मानुष

सब भूल जाता है। काहे कि अपने को हम लोग से ऊपर सोचने लगता है। फिर ओ हमारा नहीं रहता। तुम सोच के देखना बेटा, अपना माटी - देस से कट के रहने से क्या हमलोग का अच्छा होगा?

सुकांति मेरा कंधा पकड़ कर उठ गयी। हम फिर चलने लगे हैं। बुरु पर जाकर उससे बहुत सारी बातें करने की कल्पना से मेरा मन हिलोर रहा है। सुकांति नहीं जानती कि बचपन में जिसको शैतान लड़की, और बड़ी होने पर बकबकी बोलने वाला मैं, उसके एकदम जवान हो जाने के बाद उसे कुछ और कहना चाहता हूँ। उसे बुरु की कसम देकर कुछ पूछना है मुझे। बचपन में हम कोई भी बात की या अपनी ईमानदारी प्रमाणित करने के लिये बुरु की कसम में खाते थे! बुरु सब देखता है। बुरु मरांग आबा है...!

सुकांति मानों एक अनदेखी डोर से मेरा हाथ बांध कर ले चल रही है। मैं छोटे बच्चे जैसा उसके पीछे चला जा रहा हूँ। सुकांति एक बार भी मुड़कर नहीं देखती कि मैं उसके उड़ते हुए, पसीने से भीगे, खुले बालों की सोंधी गंध से बौरा गया हूँ। मुझे प्यास लगी है। पैरों के खुले हिस्से में, जहाँ धूप लग रही है, वहाँ जलन हो रही है। सामने और अगल बगल अब कुछ झाड़ियाँ हैं, पेड़ नहीं। धूप सीधे सिर पर गिर रही। सुकांति को पीछे से देखता हूँ तो लग रहा, वह जैसे कभी रुकेगी नहीं। पलटकर मुझसे पूछेगी नहीं। वह मौन चलती जायेगी, धरती के छोर तक और मैं उसके पीछे इस आशा में कि आयेगा हमारा बुरु। खत्म होगी उदासी, चुप्पी और यह यात्रा...!

अब हम गाँव के बाहरी हिस्से में आ गए हैं। बुरु पास ही है... मुझे कुछ खुशी सी लगती है... सुकांति अब मेरे आगे नहीं, बगल बगल चल रही है। उसने ओढ़नी अपने सर पर लपेट ली है। यहाँ आवाजें साफ़ और ऊँची हैं। जिसने मेरी आँखों को उधर मोड़ दिया। तो यहाँ लगी हैं क्रशर माइंस। सामने दो क्रशर मशीनों की कानफोड़ू धर्र-धर्राहट से कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा। काला उठता धुआँ और गडर-गडर, गड़- गड़- गड़... शोर! कई जगह पत्थरों के तराशे हुए टुकड़े। कई आकार के पत्थर. चिप्स, गिट्टियाँ। इंधन के रूप में कोयले की ढेर। अस्सी-सौ रेजा और कूली। नीले आसमान में काले धुएँ की मोटी श्रृंखला बनी हुई है। सुकांति मेरा हाथ झिंझोड़ती है। उसकी तरफ देखता हूँ। यहाँ बात सुनाई नहीं दे सकती। इस शोर में जंगल की आवाजें बिला

गई हैं। वो दायीं ओर उँगली से दिखाती है। साफ़ मैदान है... गड्ढेदार मैदान। लाल धूल और कीचड़... दो तीन आकार के कटे हुए पत्थरों के ढेर। आते जाते गँदले रंग के ट्रकों के मोटे पहियों से भूमि पर गड्ढे बने हुए... यह क्या है? इसमें देखने की क्या बात है? मुझे एकाएक समझ में नहीं आता। सटीं- सटीं पहाड़ियाँ... छोटे बुरु... फिर...

सुकांति मेरे कान के पास मुँह ले आकर जोर से कहती है- हमारा बुरु वहीं था ना। देखो अब कुछ नहीं है।

सचमुच कुछ नहीं है! इतना बड़ा पहाड़ नहीं है। पहाड़ के पेड़ वनस्पतियाँ नहीं हैं। इस पर उगे जंगल में रहने वाले पक्षी, साँप, हजारों तरह के जीव नहीं हैं! मुझे लग रहा है, ऐसा मेरे किसी सपने में नहीं था। जब घर के बाहर सुकांति की पुकार सुनी थी, ऐसा नहीं था। रास्ते भर जब यादों, ख्यालों और आशाओं के साथ आ रहा था, तब ऐसा नहीं था। सुकांति के ये कहने तक कि 'हमारा बुरु नहीं है!' ऐसा नहीं था। बस ये अभी हुआ है। मरांग बुरु अभी गायब हुआ है! सुकांति के दिखाने के साथ ही एकदम से...

आधी रात जब ट्रेन से गाँव उतरा तो क्या अँधेरे में देख पाया था बुरु की छाया को?... सुबह जब सुकांति ने हाँका दिया तो निकल पड़ा था... और जिस तरफ से हम आये हैं, उधर से कुछ दूर तक घने पेड़ों की नजदीकी वजह से क्या बुरु की आकृति को साफ़ साफ़ देखा था मैंने?... छोटे बुरुओं की कुछ ओट भी हो जाती है। रास्ते भर कोई खटका नहीं हुआ, आसमान की ओर भी जब देखा तो ना गौर किया, ना चौंका कि एक रिक्ति है उधर...! शायद इसलिए कि बुरु हमेशा मन में था... धरती के कुछ वर्गक्षेत्र पर, वहीं था... वह नहीं हो सकता है, इसकी कल्पना भी क्योंकि हो सकती थी? सुकांति के बाबा ने क्रशर माइंस गाँव में लगने की खबर सुनाई थी, तब भी तो नहीं सोचा। सोचा, गाँव के बाहर कितने पहाड़ हैं, किसी का भी पत्थर काटते होंगे। सुकांति की उदासी पर कई सवाल मन को मरोड़ते रहे, लेकिन ऐसा कुछ अंदाजा भी लगाना असंभव था मेरे लिये... और चाहे, कोई भी पहाड़ हो, पत्थर के लिये उसे समूचा खत्म कर मैदान में बदल दिए जाने की बात एक भय और रोमांच पैदा करने वाली कोई गल्प की तरह ही दिमाग में आती, अगर ऐसी बात की कल्पना कभी करता भी!

गड्ड गड्ड गरड़ गरड़ गरड़... क्रशर और टूटे हुए पत्थरों को ट्राली से लाते हुए मशीनी चकरियों के लौह फट्टों

की आवाजें। इंजन का शोर और भाप, धुआँ... मेरी आँखें और कान इतना अजीब महसूस करने लगे हैं, कि वहाँ मौजूद रहना तिलमिला दे रहा है...

सुकांति की बाजू पकड़े उसे उस शोर से दूर खींच लाता हूँ। वह बिना कुछ कहे खींची चली आती है। उसकी तरफ देखता हूँ, सुकांति मेरी तरफ देख रही है। बहुत गाढ़ी आकुलता उसकी उजली बड़ी आँखों में भर आई है! ये ऐसी ही है, जैसी तीर से बिंधी हुए हिरनी की निस्तेज आँखों में होती है! सुकांति, तुम सिर्फ़ एक उजाड़, एक ध्वंस दिखाने के लिये एक आदिम नैसर्गिक आर्त जो, तुम्हारी धमनियों में इतने वक्त से गुजर रहा है, के साथ मुझे यहाँ ले आई थी! फिर भी चुप! यह प्रशान्ति!

वह फिर से वही कठोर चुप्पी अपने चेहरे पर ले आई है। पठार सी छाती करके कोई दुःख सह जाना होता है। सुकांति की आँखों में मेघ हैं लेकिन बारिश कहीं नहीं... मेघों के पहाड़ से टकराने से ही तो बारिश होती है! मैं भी तो तड़प उठा हूँ... वह हमारा बुरु था... हम सबका बुरु था। आज आदमी सब भकोस सकता है... जंगल खा सकता है, नदी खा सकता है, बुरु खा सकता है! सुकांति का चेहरा भट्टी में पकते ईंट सा लाल हो रहा है। या मुझे कोई भ्रम! बुरु की जगह ऊबड़-खाबड़ मैदान देखकर मुझे अजीब तरह से बुरा लग रहा है। जैसे गुस्सा नहीं, भीतर किसी केन्द्र से फूटने वाली बेचैनी! शिथिल कर देने वाला अनमनापन...

सूरज मुर्मू ने एक बात कही थी, करन दादा, इतना जान लो कि जंगल और पहाड़ में हमारा पुरखा पुरुष और स्त्रियाँ हमेशा से रही हैं। जंगल का पास रहने वाला, जंगल से जो मिला, उसी पर जिया। आज भी तुम्हारे और मेरे गाँव में क्या है, यही तो है! लेकिन मेरे गाँव में जंगल की जमीन का पट्टा लेने के लिये कितना टाइम से लड़ाई चल रहा है। कुछ नहीं हुआ। जिसका जिंदगी जंगल से चलता है, उसको उतना जंगल दे दो। जंगल रहेगा तब तो आदमी रहेगा! हमलोग को सिर्फ़ जीने भर के लिये चाहिए। लेकिन सरकार, प्रशासन, वन विभाग का कारकून... सब खुद उसी जंगल-पहाड़ को दुहना चाहता है। लेकिन उसको हम लोग को देना नहीं चाहता। एक टुकड़ा भी नहीं। उसका लेने और हमलोग का लेने में अंतर नहीं है क्या दादा? हमको जंगल बुरु काट-फाड़ कर बनाया उस फैक्ट्री में नौकरी नहीं चाहिए दादा, जिसके प्रदूषण से हमारे गाँव का मिट्टी-पानी बर्बाद हो जाय। खेत का गाभिन माटी से धान लेंगे कि उसको बधिया

करके इस्पात और लोहा ? हमलोग क्या खाके जियेंगे और बाल बच्चा को जिलायेंगे ?

सूरज दोस्त है मेरा. राँची विश्वविद्यालय में संताली साहित्य विभाग का शोध छात्र। कहानी लिखता है। संताली भाषा में। पलामू के एक देहात में पुश्तैनी घर है, लेकिन राँची में किराए पर रहता है, मेरे ही किराये के मकान के निचले हिस्से में।

सूरज से कहा था मैंने, दोस्त ! लूटने को जब भी बाहरी लोग आये उसका हमने जोरदार मुकाबला किया। इतिहास में है यह। लेकिन जब अपना लोग अपना ही घर लूटेगा तो कैसे बचेगा, कैसे लड़ेगा !

लेकिन बचना होगा दादा, लड़ना होगा। बाहर वालों से भी ओर घर वालों से भी।

सुकांति की बाजू नहीं छोड़ता हूँ। वह नहीं छोड़ती। हम दोनों चुप हैं। अब मैं स्तब्ध हूँ... हम खत्म हुए बुरा और क्रशरों के आक्रांत करते वातावरण से धीरे धीरे चलकर दूर आ गए हैं। वापसी उसी रास्ते से नहीं। दूसरे से। ये कोई सामूहिक या तयशुदा निर्णय नहीं था, बस हम चले आये हैं... अनजाने, अनायास ! सुकांति, मैं पुकारता हूँ तो उसकी धीमी हुंकार सुनाई देती है, हूँ। उसे देखा, पूर्णिमा के पहले घंटों के चंद्रमा का ताम्बई रंग उसके चेहरे पर है। याद आ रहा है, सुकांति का पिछला चेहरा, जब उसे भरपूर देखा करता था। टेसू जैसा दहकता रंग। महुआ-कुसुम जैसी उजली आँखें। काले मोटे बाल। नई छिदायी बाएं नथुने में खोसी हुई नीम की काठी। खेतों के बीच से गुजरती पहाड़ी नाले सी छल छल, कल-कल बोली। लेकिन आज उस सुकांति का कोई हल्का सा चिन्ह कहीं ढूँढना होगा। मैं चाहता हूँ कि सुकांति हँसे। लेकिन सोचता हूँ कि क्या मुझसे उसने कहा कि अब हँसो, अगर हँस सकते हो, मैं हँस सकूंगा ?

सुकांति, कब गया हमारा बुरा ?

जब तुम आये, उससे कुछ ही दिन पहले वहाँ का काम खत्म हुआ है।

एक ही साल के भीतर, इतना बड़ा बुरा को !

बहुत जोर से काम हुआ रे। हम रोज देखे हैं, हमारा बुरा खत्म हो रहा था। और हम लोग सब पगार के लिये मजदूरी कर रहे थे।

कोई कुछ नहीं बोला ?

क्या बोलेगा ! उन लोग के पास पुलिस है, पैसा है, नेता लोग हैं। इधर गाँव में उनलोग से लड़ने-बोलने वाला कौन है ? और किसको इतना सोचने, करने का सक्ति है कि... कोई आदमी डर से चुप रहता है, कोई आदमी पैसा पा रहा तो चुप रहता है... ज्यादा आदमी कुछ नहीं समझ सकता इसलिए चुप रहता है।

तुमने भी वहाँ काम किया ?

नहीं। हम तो इस तरफ था। लेकिन हम भी कभी नहीं सोचा कि ये लोग पूरा बुरा को ही तोड़ देगा, खोद देगा !

दिन का दूसरा पहर अभी होने को है। पेड़ों पर पत्तियाँ तेज धूप से चमक रही हैं... पसीना हमारी कनपट्टी पर रेंग रहा है !

सुकांति को देखा, उसकी पूरी देह इस समय एक भाषा बनी हुई है। और मैं आगे कुछ नहीं कहता... दिमाग में चलता एक प्रलाप सा है... कितने जीव का घर था वह। कितने लोगों का रोजगार था उसमें ! और कुछ लोग ने अपने लाभ के लिये उसको काट कर बेच दिया ! अब बारिश कैसे होगी सुकांति ? अब हवा कैसे साफ होगी ? अब हमें फल, लकड़ी और बूटियाँ कहाँ से मिलेंगी। एक बुरा कितना पुराना होता है ! इतना पुराना कि हम उसको पुरखा कहते हैं, आबा कहते हैं, पूजते हैं।

मेरी सारी आशाएँ स्खलित हो गई हैं ! वो बुरा सचमुच नहीं है ! यह कोई जादू नहीं है। यह मजाक भी नहीं है। एक धमकी है ! मैं विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ... लेकिन यह सच है। मैंने देखा है अभी अभी। सोचता हूँ, पहाड़ काटकर रास्ता निकाल देने वाला भी आदमी हुआ था, बाबा दशरथ माझी। पहाड़ को तोड़ने वाला नहीं, पहाड़ से लड़ने वाला, लोक की भलाई में।

दोपहर हो चुकी है। चापाकल से मुँह-हाथ धोकर, पानी पीकर हमने सुकांति की लायी रोटी और नेनुए की तरकारी खाई। पहले जब भी मैं गाँव आता था, वह मुझे बुलाकर कभी नदी के बीचों बीच के किसी पत्थर पर ले आती। या जंगल के बीच की उन जगहों पर हम जाते, जिनके बारे में, हमारे मुताबिक सिर्फ हमको मालूम था। वे हमारे मन से निकले हुए नक्शे थे, जिनको जानने का अधिकार किसी को नहीं था। सुकांति घर से खाने के लिये रोटी और

साथ में खाने को कुछ ना कुछ लाती थी। हम खाकर फिर चलने लगे हैं... सुकांति अब चुपचाप नहीं है। वह धीरे धीरे लगातार कह रही है... बस यही दिखाने लाए रे तुमको। बस यही चीज हमारा खराब हुआ है। जंगल, बुरु नहीं रहने से देखो गाँव कैसा होता जा रहा है ? तुम देख रहा ना ? हर बार तुम यहाँ से जब इसको छोड़ कर जाता है, लौटने पर वही सब मिलता है ? गाँव का किनारे किनारे गाछ, पोखर, पत्थर, माटी कुछ भी... सखुआ साल महुआ केंदू का जंगल किधर बिराता जा रहा है ? अब इस साल इस गाँव का बुरु ही नहीं रहा ! एक ही साल में खतम ! अभी उसके साथ वाला उस तरफ का दोनों बुरु को तोड़ने का काम चल रहा है... देखा ना. आस्ते-आस्ते, वह भी साफ हो जायेगा...

जाते हुए जो कुछ भी था, अब लौटते हुए बदल गया है ! खुशी, संभावनाओं और कल्पनाओं से भरा मन, दिन का तापमान, और चुप सुकांति भी। अब सुकांति लगातार बोल रही है, उसका बोलना जैसे मांदर की बेफिक्र उत्तेजित थाप है !... उस बुरु पर सावन में कैसा झरना फूटता था ! उसी से निकला नाला में तुमलोग कितना नहाता था ! साल पत्ता और काठ का बोझा लेकर जब बाबा उतरते थे, हमलोग कैसे उनके आसपास दौड़कर पहुँच जाते थे, घेर लेते थे। फिर बाबा बेर, केंदू, इमली, अपना गमछा की पोटली से निकालते और हमलोग को बाँटने लगते थे। उसी बुरु के नीचे एक जाहेर थान जैसा हम बच्चा लोग ने बनाया था। वहीं से थोड़ा पश्चिम की ओर से मांदर बजता था, बाहा परब में, तो उसी को सुनकर हमलोग कितना नाचता था।

हमारे बचपन का पहाड़... हमारे बाप-दादा का पुरखा बुरु... मिट गया है ! काट खाया गया है उसका शरीर नोंच नोंच कर ! एक बुरु गया और बाकि छोटे बुरु भी टूट रहे हैं। कट रहे हैं। धीरे धीरे धरती पर कोई बुरु नहीं रहेगा... जंगल नहीं रहेगा... नदी-नाला नहीं रहेगा। जब बुरु-जंगल-नदी नहीं रहेंगे तो ना चिड़िया रहेगी, ना हाथी ना मानुष ! जीवन नहीं रहेगा... तो ?

क्रशरों की दूर से सुनाई दे रहीं खूँखार गड़गड़ाहटें... इन्हीं निर्दयी आवाजों के बीच एकदम पास से सुकांति के हाँफने की आवाज़। वह थोड़ी देर से ख़ाँस रही थी, जिस पर मेरा ध्यान नहीं था। उड़ती हुई पीली-लाल धूल घास पर, नीम और अन्य पेड़ों की पत्तियों पर जमकर मोटी होती गयी है। धूल चारों तरफ बढ़ रही है। धूल आसमान पर चढ़ रही है...

तुम भी तो जब आते थे, बुरु पर चढ़कर उस पत्थर पर जाके नहीं बैठते थे, जिसके नीचे खाई थी। हम मना करते तो तुम कहते, कुछ नहीं होगा। अपना घर में कोई डर नहीं। उसने बस ऐसे कहा था, जैसे वह चावल बीनते हुए मुर्गियों से बात करती है... जैसे कुँए से पानी खींचते हुए बड़ी बहन से तरकारी की बात करती है ! इतना ही सामान्य ढंग से कहती है सुकांति हर बात...

वह अब चुप है, लेकिन मैं जैसे उसके भीतर की आवाजें सुन रहा हूँ... हम जानते हैं, गाँव में लोग कहते हैं... हमारा बुरु, हमारा जंगल... सचमुच जो जिस जमीन का है, उस जमीन का घास-पात को भी अपना मानता है. जंगल-बुरु-नदी हमको अपना मानते हैं... हम उनको। कौआ, कोयल, मैना, गौरैया, चील, बगूले, बन्दर, सियार... भालू, हाथी... केंकड़े, मछली... गोरू, बकरी... परवल-कुंदरू, नेनुये-कुम्हड़े की घर की टाली पर चढ़ी लताएँ... आम-कटहल-नीम, साल, सखुआ, सेमल... सब को हम अपना मानते हैं. बाहाबोंगा पूजते हैं... हम इनको खोना नहीं सह नहीं पाएंगे. हमसे बर्दाश्त नहीं होगा...

चलते हुए बीच में एक नाला मिला तो हमने देखा, उसकी अध-टूटी पुलिया पर एक बच्ची अपने दो भाइयों के साथ खेल रही है। इतनी धूप में, उल्लसित पहाड़िया बचपन... बच्ची मुझे देखते ही अपने दोनों छोटे भाइयों को लेकर भागी है... उसका नन्हा शरीर अपने घिसटते भाइयों को खींच रहा है... यह डर है ! उनके हाथों से डालियों के टुकड़े नीचे गिर पड़े हैं, जिनसे वे खेल रहे थे। मुझे एक तेज वितृष्णा होती है... आदमी से आदमी डर रहा है ! यही हमारी सभ्यता की उपलब्धि है ! राँची विश्वविद्यालय में बुंदू से आई गीता डांग एक संथाली कविता सुनाती थी, जिसमें माँ अपनी बेटी को अपने गाँव की दो स्थितियों के बारे में बोलती है, इसमें एक साथ उल्लास, मोह चेतवनी और निराशा का स्वर है...

‘अबुआ दिशोम हरा भरा  
अबुआ माटी लाल धरा  
अबुआ खेत, बगीचा, मचान  
अबुआ हाट, पाड़ा, दूकान  
अबुआ बुरु, बोंगा, पहान

रे दुली, मांदर, तिरयो (बाँसुरी) बजाना  
किनारे अबुआ पोखर, नदी, झरना  
अबुआ दिशोम, ना राज अबुआ

गोली, बंदूक, लाठी, गिफ्तारी  
भाग रे दुली, लेके आया  
फौज, चाकलेट, मीठी निम्बोरी

यह कविता खुशहाल पहाड़िया, जंगली, प्राकृतिक भोले निरीह जीवन में धोखे और षडयंत्र का विष लेके आने वाले को चिन्हाती है। यह छोटी सी बच्ची मेरे कपड़ों और शहरी हो गए चेहरे और बाने से डर गई! असम्भव है कि इसकी माँ ने इसे ऐसी कविता सुनाई होगी। लेकिन मेरे गाँव के आसपास पहुँचते रक्तपाती मुठभेड़ों और फौजी कार्रवाइयों ने पिछले कुछ सालों से इस स्वतःस्फूर्त 'डर' को पहाड़ और जंगल के पास रहने वालों के मन में भरा है। मुझे इन्टरनेट पर उस तस्वीर की याद आई, जिसमें सीरिया की एक बच्ची फोटोग्राफर को कैमरा निकालते देख खौफ से अपने दोनों हाथ ऊपर उठा देती है, आत्मसमर्पण की मुद्रा में, यह सोचकर कि सामने वाला बंदूक निकाल रहा है, और उसे 'शूट' कर देगा! आतंक जहाँ की हवा में बसने लगता है, वहाँ ऐसा ही होता है... डर, एलियेशन...

अब मुझे इस बार गाँव आना बहुत अलग अनुभव करा रहा है। पसीना मेरी आँखों में चला गया है, और जलन हो रही है। मैं सुकांति को जल्दी घर चलने को कहता हूँ। हम तेजी से घर की ओर लौटने लगते हैं। कच्चे रास्ते पर पत्थर-गिट्टियों से भरे ट्रकों की एक छोटी कतार गुजरती है। घास पर चलती सुकांति ठिठक जाती है। हम ट्रकों को गुजर जाने तक देखते हैं। काला धुआँ और डीजल की गर्म गंध नाक में लगती है। जंगल की ओर उड़ते हुए कुछ पक्षियों की परछाई कच्ची पगडंडी पर पड़ती है। पगडंडी थोड़ा आगे से मुड़कर जंगल और उसके आगे छोटे बुरु तक जाती है। मुझे याद आ रहा है, इसी रास्ते बुरु की तरफ जाते हुए बारिश के मौसम में घास के बीच कहीं कहीं छोटे छोटे कुरुरमुत्ते उगते हैं। सुकांति की नज़र उनपर पड़ती तो चुन चुनकर अपने दुपट्टे में इकट्ठी करती थी। कुरुरमुत्ते की सब्जी मुझे बहुत पसंद है। सुकांति की माँ बहुत बढ़िया राँधती है।

अब खुद से पूछते भी डर लग रहा है कि क्या अब भी उगते हैं, कुरुरमुत्ते!

केंदू चुनकर लाती हुई रायमुनी से भेंट हुई है। गोद में बच्चा लगभग लटक सा गया है... छोटे बुरु से आ रही है। तुम आया है! वह मुझे देखकर आश्चर्य करती है। सुकांति को देखकर तुमको दया नहीं आता है रे? दया! क्यों? मैं

अब विस्मय से उसे देखता हूँ. वह मुझे जबाब देने के पहले सुकांति को देखती है...

सुकांति उसे रोकती है, जा ना यहाँ से! तेरी हान् हार आयो (सास) रास्ता देख रही होगी।

काहे को अब जल्दी जाएँ. क्या मिला? ये थोड़ा सा मादल पाका (केंदू)... इससे तो बूढ़ी और गुस्सा होगी। पर सुकांति, क्या है रे यहाँ! ना बुरु है, ना जंगल है पहले का जैसा! सुवरनरेखा नदी में तो पानी भी नहीं है रे! पता नहीं क्या होगा...

सुकांति मेरी ओर देखती है। बहुत देर बाद कुछ देर देखती है। बहुत देर बाद बोलती है, लाल आँखें, दलदली आवाज... तुम सोच रहा था ना कि हमसे सादी को बोलेगा। मैं चौंकता नहीं कि उसने मेरे मन की बात ताड़ ली थी... मुझे पता है, उसने पिछली बार बा: बोंगा में लयबद्ध नाचते हुए मांदर और तुरही-सिंगबाजा के थापों, उच्च तानों के बीच मुझे हँसकर कहा था, तुम हमसे कोई बात छुपाके कभी नहीं रख सकता। तुमको बहुत अच्छा से जानता है हम! सुकांति बचपन से मेरे हर बर्ताव, फैसला और व्यंजना में कही गई बातों को आराम से समझ जाती है... कभी मुझे उसे कोई बात समझानी नहीं पड़ी। गाँव में कोई मेरा इतना अभिन्न नहीं हो सका... वह मेरे मन को समझ गई है, तो आश्चर्य क्या?

सुकांति बोल रही है, तुमसे हमारा सादी हो जायेगा। ठीक। हमारा घर कहाँ होगा? राँची? चाईबासा? टाटा? गिरिडीह? पलामू? हमारा जो बच्चा होगा, उनका धरती कहाँ होगा रे? सिंहभूम, कि कहीं नहीं?... दलमा बुरु से भाग भाग कर गाँव, शहर में घुसते हातिको (हाथियों) जैसा, जिनका कोई घर नहीं बच रहा... उसी तरह हमारा बच्चा भी भटकेगा! भटकेगा, भटकेगा, खतम हो जायेगा... कुछ रहेगा रे? हम सब लोग खतम हो जायेंगे. हमारा कोई निसान नहीं बचेगा... फिर तुम कैसा सपना देख रहा! तुम आगे का देख रहा तो बोलो क्या देख रहा? अपना बुरु, जंगल में घूमेगा और धरती पर झूमर नाचेगा? मुट्ठी में मुट्ठी जोड़के, तारेन (कंधा) से तारेन लगाके बाहा, करम, सोहराय, माघे परब में! तुम शहर से सपना देखके आता है... इधर गाँव में असल बात देखो। समझो... सबकुछ जो तुम्हारा मन और सपना में है, इधर बचा ही नहीं है! फिर भी तुम खाली सुन्दर सुंदर सपना ही देखेगा रे? बोलो...



मैं उसकी बातों से तड़प रहा हूँ। मेरे मन में सचमुच खिलने वाला गदराया सेमल-फूल झड़ गया है, और एक भद्दे से ट्रक के पहिये के नीचे कुचल गया है... इक्कीस साल की सुकांति, सिर्फ माध्यमिक शिक्षा तक सीमित रह गयी धुर गँवारू लड़की, की बात ने मुझे बिंध दिया है। मुझे अब समझ में आ रही है, चे-गुएरा की एक बात, 'साइलेंस इज आर्ग्युमेंट केरिड आउट बाय अदर मींस.' सुबह से उसका वह सुदीर्घ मौन समझ में आ रहा है। सुकांति की अब तक की चुप्पी भी एक तर्क है!

आज इतना कुछ देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ... ये कैसा दिन है! पहाड़ को खत्म कर दिया जाना सिर्फ एक संकेत है। एक डेंजर-बेल...! ये धीरे धीरे हमारे खत्म होने के शुरुआत की चेतावनी है। अखबारों और सोशल मिडिया पर पढ़े कई आलेखों से कहीं अधिक तीव्र और कचोटने वाला एक धक्का! एकदम पास से! मेरे, सुकांति और हम सबके पैर तले की जमीन को थरा देने वाला तेज विस्फोट!

उस दिन की शाम को मैं सुकांति के घर ही बैठा हूँ। उसकी आयो बकरियों को हांक कर घर ला रही है। एक काली बकरी और उसके तीन मेमने। उसके बाबा कहते हैं... यही रोजगार है बेटा। खस्सी (बधिया किया बकरा) का दाम हाट में अच्छा मिल जाता है। परब का टाइम कुछ ज्यादा दाम पर भी बिक जाता है। बेच कर रुपया मिलता है तो अच्छे से कुछ दिन घर का खर्च चल जाता है। इधर कोई काम नहीं था, लोग बाहर काम में जाता था। अभी भी जा रहा है। हमलोग नरेगा काड भी बनाया था। तालाब बनाने का काम किया। लेकिन कितना महीना काम करने का पगार नहीं मिला। पत्थर खदान का सुनकर हमलोग को कुछ आसा हुआ। पत्थर काटने का मसीन महीना भर में लग गया। उसके बाद दूसरे दिन से कुछ लोग काम करने को आ गया था। लेकिन बाहरी मजदूरों को इस देहात में काम करने में खतरा लगा, लोकल आदमी को काम नहीं मिला तो बवाल करेगा। इसलिए भाग गया। मालिक को भी बात समझ में आ गया। लोकल मजदूर के लिये गाँव में आदमी भेजा। और तभी बहुत लोग भरती हुआ, सुकांति के बाबा खटिया बीनते हुए कह रहे हैं। करन होपोन (बेटा) तुम तो बाहर है। तुम पढ़ा लिखा है। तुम क्या नहीं समझता कि जिसको भात-नून नहीं मिलता, उसको बहला लेना मुश्किल नहीं होता।

सुकांति भी क्रशर में काम करने गयी। क्योंकि खस्सी रोज रोज तैयार नहीं हो सकते, रोज रोज नहीं बिकते। भात -

नून का अभाव समझ सकता हूँ। मैंने सुकांति के घर को नजदीक से देखा है। माड़ (उबले चावल का पानी) और कलमी या कोई भी साग खाकर रह जाने वाले गाँव के कई परिवारों की तरह सुकांति का परिवार है। आयो, बाबा ने पूरे बदन का कभी कपड़ा नहीं पहना। अपने को किसान मानते हैं, लेकिन स्टेट हाइवे के बगल की एक बीघा जमीन गर्मी में फटी हुई परती-भूमि और आषाढ़ में वहाँ झाड़-झंखाड़ उगे रहते हैं। ना बीचड़ा, ना बुआई, ना हलाई! हल बैल किसी जमाने में थे। जमाना हुआ उनको बिके। बीज, खाद, कीटनाशक, पानी और जोताई की व्यवस्था, इतने महंगे कि खेती की ना सहूलियत, ना हिम्मत जोड़ पाए! यानि मुँह बोलने को एक खेती थी, खत्म हो गयी। फिर सुकांति के बाबा ने मौसमी रोजगारी पकड़ी। ठेकेदार के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ। कभी टाटा, कभी बंगाल, कभी चेन्नई!

सुकांति और रुकांति दो लड़कियाँ, दो बहनें। आयो बाबा ने लाड़ दुलार से पाला। चार साल पहले, रुकांति को एक आदमी से प्यार हो गया। ट्यूशन पढ़ाने वाला था। चौदह की थी रुकांति, एक साल बड़ी सुकांति से और सिर्फ सातवीं क्लास में पढ़ रही थी। भाग गयी। बिहार में जाकर मंदिर में शादी कर ली। खबर भेजी थी गाँव में। हम खुशी से हैं। चिंता मत करना। मगर गाँव कब आएँगे, नहीं जानते। बेटियों से जान देकर प्यार करने वाले सुकांति के बाबा रुकांति के चले जाने के बाद भीतर से खुश हो गए। अनमने से काम पर जाते रहे। और एक दिन तो ऐसा कुछ होना था। दूसरे माले पर ढलाई चल रही थी। मसाले का तसला उठाकर बाँस की सीढ़ियों से जा रहे थे। ध्यान में घर का दुःख था, सो ध्यान पानी से फिसल्ला हो गए पायदान पर ऐतिहात के साथ रखने का ना रहा। फिसले और दो माले नीचे जमीन पर जा गिरे। दायाँ पैर टूटा और पीठ पर जोर की चोट आई। जान बच गयी लेकिन दाना पानी आने का रास्ता बंद हो गया।

जब क्रशर मशीनें लगीं, गाँव में बात चलने लगी कि अब बाहर मजूरी के लिए नहीं जाना पड़ेगा। यहीं गाँव में काम आ गया है। औरत मर्द लड़की लड़का सबके लिये काम है। मजदूरी का रेट सरकारी वाला रेट है। सुकांति आयो के साथ काम मांगने गयी। सुकांति के बाबा ने यह कहा और उठकर छत की बल्ली से हांडी उतारने लगे...

मैं सुन रहा हूँ। सोच रहा हूँ... गाँव छोड़कर बेहतर जीवन के लिये शहर चला गया। मौका मिला और मैं आगे बढ़ गया... अगर यहाँ रहता तो ये सब सुन - देख नहीं रहा

होता, उसका अनायास ही बन गया हिस्सा होता। ना उच्च स्तर का ज्ञान, ना चेतना... ना विचार ना विवेक, ना इतना विश्लेषण करने की बुद्धि! उच्च शिक्षा ने मुझमें चेतना को गढ़ा है। चेतना है, तो संकट का एहसास भी है... यह एहसास भाले की नोंक जैसा तीक्ष्ण है!

यह जो मैं देख रहा हूँ, सपना है, या इतिहास के किसी भावी कालखंड की कोई जबरदस्त घटना!

मैं रात को दालान में खटिया डालकर लेटा था तो, साफ़ आकाश पर तारे और किसी उड़ते जहाज की टिमटिमाती लाल रौशनी के बिन्दु को देखते-देखते शायद नौद आ गई थी। अब जो मैं देख रहा हूँ, उसमें खुद भी शामिल हूँ, क्योंकि यह सब एकदम मेरे सामने हो रहा है... सुकांति सिर पर तसली उठाकर पंक्तिबद्ध खड़े गंदले ट्रकों की ओर जा रही है। तसली में पत्थरों के टुकड़े हैं। सुकांति का समूचा चेहरा गमछे से ढंका है, सिर्फ़ वे आँखें हैं, जो अब उजली नहीं हैं, लाल और मटमैली हो गयी हैं। सुकांति ट्रक के पास खड़े कुली को तसली सिर से उतार कर देते हुए कहती है, मेरे बुर का टुकड़ा है। ये सब मेरे बुर का मांस है। कुली बीड़ी का आखरी कश लेकर उसे नीचे फेंक देता है, सुकांति के हाथ से तसला लेकर उसके अंदर के बुर के टुकड़ों को ट्रक के डाला के भीतर उछाल देता है।

उसी बुर पर रहने वाला हाथी का कुनबा बुर के एक बचे हुए हिस्से से नीचे उतर रहा है। उसमें से सबसे छोटा बच्चा दल से छिटक कर इधर आ निकला है। सुकांति उसे वापस उसके दल की ओर भेजने के लिये हांकती है। गज शावक की कोमल चिंघाड़!

कुछ लोग एक तेंदुए को मार कर एक बांस पर उल्टा लटकाए लिये जा रहे हैं। वे शिकारी नहीं हैं... गंवार

लोग हैं... और उनके साथ पीछे पीछे कुछ शहरी लोग अपने पाँयचे ऊपर किए कीचड़ फांद-फांद कर आ रहे हैं...

क्रशर मशीन का शोर पता नहीं कितने जोर से उठ रहा है, कि मुझे एकदम से कुछ भी सुनाई देना बंद हो गया है। औरतें सोहराय का कोई गीत गा रही हैं, लड़के-लड़कियाँ करमा में झूमर नाच रहे हैं... मर्द हँडिया पीकर झूम रहे हैं... लेकिन मुझे कुछ सुनाई नहीं दे रहा... विस्फोट की जबर्दस्त चिंगारियाँ और आग के बीच से उड़ते हुए पत्थरों के टुकड़े हैं... भयानक आवाज़ भी होगी लेकिन मुझे सुनाई नहीं दे रही... उस विस्फोट के बाद पहले का कोई भी दृश्य नहीं बचा है... सोहराय की सजी हुई गायें नहीं, युवा दल नहीं, नाच नहीं, गीत नहीं... जंगल नहीं... और... मरांग बुर का आकार अचानक कम होने लगता है, कम होता जाता है। धीरे धीरे जैसे सूरज डूबता है, बुर भी मिट जाता है।

धीरे धीरे देश के, पृथ्वी के सब पहाड़, सारे बुर विलुप्त हो गए! खत्म... धरती की पीठ से खनिजों से भरे कूबड़ साफ़ हो गए! यह दुःस्वप्न है, या एकदम प्रकाश की गति से हमारे अस्तित्व से टकराने आ रही एक सच्चाई!

एक विराट सूर्य की पृष्ठभूमि है...

मैं पानी में डूब चुके एक विशाल पत्थर के बचे हुए सिरे पर खड़ा होकर चिल्ला रहा हूँ, आ जाओ ! इधर आओ, देखो हमारा बुर अभी डूबा नहीं है... ये बचा लेगा हमको... सुकांति किसी ओर से बहते हुए आकर उसी चट्टान से अटकी है, मैं उसका हाथ पकड़ कर खींच लेता हूँ, वह जोर से चीखती है - आलेयाह बुर दो आलोम हातावा बाखान दोले तु' गोजू मेया!

बीडीएसएल महिला महाविद्यालय,  
घाटशिला, पूर्वी सिंहभूम - 832303.  
झारखण्ड.

मो- 09852715924

ईमेल-shekharmallick@yahoo.com

पंकज सुबीर

## रेपिश्क

‘अब क्या होगा उसे ढूँढ़ने से ? जो होना था सो हो गया, उसे ढूँढ़ने के बजाय अगर तू क़ानून का सहारा ले तो ज़्यादा अच्छा होगा। कम से कम उसको सज़ा तो मिलेगी।’ प्राची ने आशिमा के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा। आशिमा की आँखों में हल्की सी नमी थी मगर चेहरे पर एक विचित्र-सी दृढ़ता दिखाई दे रही थी।

‘क्या होगा और क्या नहीं होगा, इन सवालों के पचड़े में अगर पड़ो तो ज़िंदगी में कुछ भी नहीं किया जा सकता। मुझे बस उसकी तलाश करनी है। मैंने तय कर लिया है।’ आशिमा ने कुछ मज़बूत स्वर में कहा। उसके हाथों में जो कागज़ थे, वह उसकी मुट्ठी में भिंचते जा रहे थे।

‘पर ढूँढ़ेगी कहाँ ? और कैसे ढूँढ़ेगी ? क्या तू जानती है उसे ?’ प्राची ने कुछ उलझन भरे स्वर में आशिमा से पूछा।

आशिमा ने अपने सिर को एक झटका दिया, मानो आँखों में आ रही उस नमी को झटक दिया हो, जो आँसू की बूँद में बदलने वाली थी। ‘जानती होती तो इतनी बातें नहीं करती मगर हाँ कुछ-कुछ ऐसा है, जिसके सहारे मैं शायद उस तक पहुँच सकती हूँ। बहुत ज़्यादा कुछ नहीं है, लेकिन कुछ संकेत तो हैं ही मेरे पास। उनके सहारे ही उस तक पहुँच सकती हूँ। नहीं भी पहुँचूँ.... लेकिन उसकी परवाह नहीं है मुझे, इन फैक्ट अब किसी भी चीज़ की कोई परवाह नहीं है मुझे।’ कुछ लापरवाही भरे अंदाज़ में उत्तर दिया आशिमा ने।

‘साहिल से तेरी बात हुई है इस बारे में ? तूने उसे बताया है कुछ ?’ प्राची ने कुछ सधे हुए स्वर में पूछा।

‘नो.... अभी उसे इस बारे में कुछ भी नहीं बताया है। तेरे अलावा अभी किसी को कुछ भी पता नहीं है। बस तुझे ही बताया है और किसी को बताने की इच्छा भी नहीं है।

हाँ साहिल को शायद बताऊँ।' आशिमा ने कुछ सोचते हुए कहा।

'फिर उसे भी क्यों बताती है, जब किसी को नहीं बता रही है तो उसे भी मत बता। छोड़। रूटीन होने की कोशिश कर।' प्राची ने कुछ समझाते हुए कहा।

'रूटीन....?' आशिमा ने कुछ तीखे स्वर में शब्द को दोहराया।

'सॉरी.....! मैं कोई दूसरा शब्द कहना चाह रही थी और गलती से यह निकल गया। डॉण्ट टेक इट अदर वाइज़, मैं तेरे अंदर की छटपटाहट को समझ पा रही हूँ लेकिन मैं तेरी दोस्त हूँ, इसलिए तेरा भला चाह रही हूँ।' प्राची ने आशिमा के कंधे पर प्यार से हाथ रखते हुए कहा।

'अरे..... नहीं-नहीं, मैंने अदर वाइज़ नहीं लिया। तेरा कहा कुछ भी अदर वाइज़ ले भी सकती हूँ मैं ? मुझे पता है कि तू मेरे लिए परेशान है, इसीलिए कह रही है यह सब। लेकिन प्राची मैं अब ठान चुकी हूँ। नहीं करूँगी, तो जिंदगी भर अपने अंदर इस छटपटाहट को लेकर ही जीऊँगी।' आशिमा ने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा।

'ठीक है बड़ी, लेकिन एक बात मान मेरी, साहिल को मत बता कुछ भी। वह शायद नहीं सहन कर पाएगा यह सब कुछ। वह क्या, कोई भी नहीं सहन कर सकता है यह सब। तुझे जो कुछ भी करना हो, कर ले, दूँद ले उसको जाकर, मगर साहिल को दूर रख इस सबसे।' प्राची ने समझाते हुए कहा।

'नहीं प्राची, उसे तो बताना ही होगा। नहीं बताऊँगी तो बाद में मिस अंडरस्टैंडिंग होगी। इस एक सच का छिपाने के लिए हजार झूठ बोलने पड़ेंगे। उससे अच्छा है आज ही सच बोल दिया जाए। यह मेरा सबसे बड़ा सच है और अगर साहिल मेरे इस सच को स्वीकार नहीं कर सकता, तो फिर मुझे कैसे स्वीकार कर सकता है ?' आशिमा ने कुछ ठहरे हुए स्वर में कहा।

'तेरी ज़िद के आगे भला किसीकी चलती है कुछ ? तू वही करती है जो तुझे करना है। बट, मैं तेरे साथ हूँ बड़ी, आई एम आलवेज़ विथ यू..... डॉण्ट फील अलोन इन ऑल दीज़.....।' कहते हुए प्राची का गला कुछ रूंध गया।

'हे..... डॉण्ट क्राय... रोना तो मुझे चाहिए, लेकिन मैं नहीं रो रही हूँ।' कहते हुए आशिमा ने प्राची को खींच कर

अपने गले से लगा लिया 'आई नो... कि तू हमेशा मेरे साथ है। इन फैक्ट तेरे ही दम पर मैं इस लड़ाई में कूद रही हूँ। तू मेरी ताक़त है, तू मत कमज़ोर हो, नहीं तो मैं कमज़ोर हो जाऊँगी।' कहते हुए आशिमा प्राची की पीठ थपथपाने लगी।

'कमज़ोर नहीं हो रही हूँ, मुझे चिंता हो रही है तेरी। तेरे और साहिल के रिलेशनस की। इतने सालों से तुम दोनों साथ रह रहे हो। और अब, जब तुम दोनों का यह साथ किसी रिश्ते में बदलने को ही है, तब यह सब.....। मत बता साहिल को। प्लीज़.....।' कहते हुए प्राची रो पड़ी।

'तू मुझसे जान माँग ले, अभी दे दूँगी पर तू जो कह रही है, वह प्रैक्टिकल नहीं है। वह एक झूठ मुझे पूरे जीवन परेशान करेगा। जीने नहीं देगा। तू आज की सोच रही है और मैं आने वाले कल की सोच रही हूँ। प्लीज़ डॉण्ट फोर्स मी। मैं साहिल को जानती हूँ, मुझे विश्वास है कि वह मेरे साथ खड़ा होगा।' आशिमा ने कुछ प्रेम भरे स्वर में कहा। प्राची ने कोई भी उत्तर नहीं दिया वह उसी प्रकार से आशिमा के कंधे पर सिर रखे सिसकती रही।

कॉलेज में साथ-साथ पढ़ीं प्राची और आशिमा, कॉलेज के समय की ही पक्की सहेलियाँ हैं। पढ़ाई पूरी होने के बाद कैम्पस सेलेक्शन से दोनों को एक ही कंपनी मिल गई। और दोनों यहाँ जॉब के लिए आ गईं। शुरू के साल भर तो दोनों एक ही साथ रहती थीं लेकिन, फिर आशिमा और कंपनी में ही साथ काम करने वाले साहिल के बीच कुछ समीकरण पैदा हो गए। कुछ समय बाद दोनों ने लिव इन में रहने का फैसला कर लिया। अब आशिमा, साहिल के फ्लैट पर उसके साथ लिव इन में रहती है। लेकिन, प्राची के साथ जिस फ्लैट में रहती थी, उसमें भी उसका आधा सामान रखा है। आधा किराया भी वह देती है इस फ्लैट का। बल्कि आशिमा अपना बहुत ज़रूरी सामान ही साहिल के फ्लैट पर लेकर गई है, बाक़ी सब यहीं रखा है। जब जा रही थी तो खुद ही बोली थी कि क्या पता कितने दिन निभती है साहिल के साथ मेरी, फिर सामान लेकर वापिस आने से अच्छा है कि उतना ही सामान ले जाऊँ, जितना ज़रूरी है। साहिल कंपनी में सेल्स सेक्शन में है, इसलिए अधिकतर दूर पर बाहर रहता है। जब साहिल कंपनी के काम से कहीं बाहर दूर पर होता है, तो आशिमा प्राची के साथ रहने आ जाती है। जैसे अभी आई हुई है। अभी आशिमा के घर वालों को पता नहीं है कि वह साहिल के साथ लिव इन में रह रही है। कभी घर से कोई आ जाता है, तो वह प्राची के घर रहने आ जाती

है। हालाँकि घर वालों को साहिल के बारे में बताने में उसे कोई परेशानी नहीं है लेकिन, वह साहिल के साथ अपने रिश्तों को अभी और कुछ दिन देख कर कोई निर्णय लेना चाहती है।

अभी भी दोनों फ़्लैट की खिड़की के पास रखे पलंग यानि अपने फेवरेट सनसेट पॉइंट पर अपने-अपने कॉफी के मग लेकर बैठी हैं।

‘कब तक आएगा साहिल टूर से ?’ प्राची ने कुछ सहज होने की कोशिश करते हुए पूछा।

‘कह कर तो गया है कि फ्राइडे, मीन्स कल तक आ जाएगा। बाकी फिर कंपनी है, वहीं से कहीं और भेज दे, तो क्या कह सकते हैं।’ आशिमा डूबते हुए सूरज की ओर देखते हुए बोली। शाम की हवा में उसके बाल उड़ रहे हैं, चेहरे पर आ रहे हैं। प्राची ने धीरे से उसके बालों को अपने हाथों में लिया और सहज कर एक छोटा-सा जूड़ा बना दिया। आशिमा धीरे से झुकी और प्राची की गोद में सिर रख दिया। कुछ ही देर में वह सिसकने लगी। प्राची ने उसे रोने दिया, बस उसके कंधे और सिर को सहलाती रही। आशिमा जो धीरे-धीरे रो रही थी, वह फूट-फूट कर रोने लगी। प्राची ने उसे बाँहों में भरा और अपने सीने से लगा लिया, आशिमा रोती रही, रोती रही, रोती रही। सूरज धीरे-धीरे अस्त हो गया, शाम गहरा गई, अँधेरा हो गया और दोनों सहेलियाँ उसी प्रकार बैठी रहीं।

अगले दिन साहिल आ गया और आशिमा साहिल के साथ उसके फ़्लैट पर चली गई।

रात के खाने के बाद आशिमा शॉवर लेने चली गई और साहिल अपना लैपटॉप लेकर पलंग पर बैठ गया, सेल्स के रिकार्ड को अपडेट करने लगा। कुछ देर बाद आशिमा शॉवर लेकर आई और आकर बाल्कनी में खड़ी हो गई। साहिल ने एक बार उसे देखा और कुछ देर देखता रहा। लैपटॉप को बंद कर उसने बैग में रख दिया। कुछ मुस्कराता हुआ उस तरफ बढ़ा, जिस तरफ आशिमा खड़ी थी। पास आकर उसने आशिमा को पीछे से ही गोद में भर लिया और उठाकर पलंग के पास आ गया। कुछ ही देर में कमरे में जलतरंग बज रहा था। जिसे साथ सुर में सुर मिलाकर कर सितार और संतूर की ध्वनियाँ भी उत्पन्न हो रही थीं। मंद्र सप्तक से मध्य और तार सप्तक की ओर रागिनियाँ लहर रही थीं। साहिल थोड़ा एग्रेसिव है और जैसे-जैसे समय बढ़ता है,

वैसे-वैसे उसकी एग्रेसिवनेस बढ़ती जाती है। कभी-कभी आशिमा को यह एग्रेसिवनेस असहज कर देती है। उसका मन होता है कि सेमल की रूई के फाहों की छुअन उसे सहला दे, यह जो सब कुछ हो रहा है, यह बहुत मृदुल हो जाए, परों से भी ज्यादा साफ़। किन्तु साहिल इतना एग्रेसिव है कि वह आँधी की तरह गुजर जाता है। इस गुजरने में हर बार कुछ रेशे, कुछ तंतु घायल हो जाते हैं। क्या, ज़रूरत है इस कठोर जकड़न की, इन नाखूनों की ? छूटती हुई सांसें की गर्म थपकियों का उपयोग क्यों नहीं ?

‘सुनो.....’ शायद तार सप्तक का सबसे ऊँचा सुर लगने ही वाला था जब आशिमा का स्वर गूँजा।

‘हूँ.....’ सितार के तार, तार सप्तक के सबसे ऊँचे सुर को छूने की स्थिति में थे, ऐसा साहिल के हूँ से पता लगा।

‘मेरे साथ रेप हुआ है.....’ बहुत सधा हुआ और शांत स्वर आया आशिमा का। तार सप्तक की सबसे ऊँची चोटी को छूने की कोशिश में लगा सितार झनझना कर बेसुरा हो गया। सारे तार एक ही झटके में टूट गए। गतियाँ एकदम से रुक गईं।

‘कब..... ? कहाँ.... ? कैसे.... ?’ साहिल ने एक साथ बहुत से प्रश्न पूछ डाले।

‘दो दिन पहले.. मुझे ऑफिस में कुछ देर हो गई थी। तुम थे नहीं और प्राची भी उस दिन बाहर गई हुई थी। सोचा बहुत सी शॉपिंग पेंडिंग है, कर लेती हूँ। उसके बाद बाहर डिनर लेते हुए जब लौटी, तब तक काफी रात हो गई थी। फ़्लैट तक आई ही थी कि किसी ने पीछे से नाक पर कोई कपड़ा और मुँह पर हाथ रख दिया। उसके बाद का कुछ याद नहीं क्योंकि मैं बेहोश हो गई। फिर कुछ पता नहीं चला। सुबह जब आँख खुली, तो मैं यहाँ बिस्तर पर ही लेटी हुई थी।’ आशिमा ने बिना किसी उतार चढ़ाव के बात कही।

‘यहीं.... ? इसी फ़्लैट में ?’ साहिल ने पूछा।

‘हाँ यहीं.... उसने मेरे पर्स से चाबी लेकर दरवाजा खोल लिया था और शायद मुझे अंदर ले आया था।’ आशिमा ने उत्तर दिया।

‘शिट मैन्.....’ साहिल ने पूछा।

आशिमा ने उत्तर दिया ‘जब मेरी आँख खुली, तो

पूरे कपड़े मेरे शरीर पर थे, वैसे ही जैसे मैंने पहने थे, मानो मैं सिर्फ बेहोश हो गई थी।'

'कोई तुम्हारे पीछे-पीछे यहाँ तक आया और तुमको पता ही नहीं चला ? ऐसा कैसे हो सकता है ? दिस इज़ नाट पॉसिबल। कुछ तो लगा हो, कुछ तो महसूस हुआ होगा।' साहिल ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

'हाँ कुछ महसूस तो हुआ था। जब मैं लिफ्ट से निकल कर लॉबी में आई, तो कुछ देर बाद ऐसा लगा भी था कि कोई पीछे है शायद लेकिन मैंने मुड़ कर नहीं देखा, यह सोच कर कि ऑड लगेगा। लॉबी में इतना उजाला भी नहीं था। दरवाज़ा खोलते समय मैं मुड़कर देखती लेकिन उसने उतना भी मौक़ा नहीं दिया।' आशिमा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया।

'हद है.... बिल्डिंग में तो बाहर का कोई आ ही नहीं सकता। कोई न कोई बिल्डिंग में रहने वाला ही होगा। तुमने पुलिस को बताया क्या ? कोई एफ आई आर वगैरह ?' साहिल ने उठते हुए पूछा। उसके हाथ पलंग के आस पास बिखरे अपने कपड़ों को तलाश कर रहे थे। आशिमा बहुत ध्यान से साहिल की सारी गतिविधियों पर नज़र रखे हुए थी। साहिल अपने कपड़े उठा कर पहनने लगा था। तार सप्तक का सबसे ऊँचा सुर लगने से पहले ही राग भंग हो गया था।

'नहीं.... क्या बताती पुलिस को ? किसका नाम बताती ? कुछ भी तो पता नहीं था मुझे। और पुलिस भी क्या कर लेती ?' आशिमा ने कुछ ठंडे स्वर में कहा।

'थैंक्स गॉड.....।' साहिल ने अपने टी शर्ट को सीधा करके पहनते हुए कहा।

'मेरे रेप होने पर थैंक्स गॉड कर रहे हो तुम ?' आशिमा का स्वर बदला हुआ था।

'क्या मूर्खों जैसी बात कर रही हो, मैं तो इस बात पर थैंक्स गॉड कर रहा हूँ कि तुमने पुलिस को ख़बर नहीं की, बिना मतलब का झंझट होता।' साहिल ने झुंझलाते हुए उत्तर दिया।

'झंझट से बचने जैसी कोई बात नहीं है उसमें, मैं बस उसको ख़ुद ही ढूँढ़ना चाहती हूँ।' आशिमा का स्वर और टंडा हो गया था।

'किसको ?' साहिल ने कुछ हैरत से पूछा।

'उसीको, जिसने वह सब कुछ किया।' आशिमा ने उत्तर दिया।

'कहाँ ढूँढ़ोगी ? और ढूँढ़ भी लिया तो क्या कर लोगी उसका ? लीव हिम, भूल जाओ उसको।' साहिल ने कुछ तेज़ आवाज़ में कहा।

'नो.... हाऊ केन आई लीव हिम ? नो साहिल, दिस इज़ माई फाइनल डिसीज़न।' आशिमा का चेहरा कठोर हो गया था, उसके चेहरे की नसों तन गई थीं।

'गो टू हेल.....' कहता हुआ साहिल पैर पटकता दूसरे कमरे में चला गया। आशिमा उसी प्रकार बैठी उस दरवाज़े को देख रही थी जिसमें से होकर साहिल गया था।

अगले दिन आशिमा ऑफिस से सीधे प्राची के घर चली गई।

'क्या हुआ आशु ?' प्राची ने कुछ प्यार से पूछा।

'वही जिसका तुझे डर था।' आशिमा ने एक फीकी-सी मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया।

'साहिल को बता दिया तूने ?' प्राची ने फिर पूछा।

'हाँ बता दिया। बताना तो था।' आशिमा ने उत्तर दिया।

'फिर....?' प्राची ने पूछा।

'वह भी चाहता है कि मैं इन सब पचड़ों में नहीं उलझूँ, भूल जाऊँ उस सबको और नार्मल हो जाऊँ। जैसा तू सोचती है, वैसा ही वह भी सोचता है।' आशिमा ने उत्तर दिया।

'बट मैं कल रात भर सोचने के बाद तेरे पक्ष में हूँ। तू अगर उस व्यक्ति को ढूँढ़ना चाहती है, तो मैं तेरे साथ हूँ। कोई और तेरा साथ दे या न दे, मैं तेरे साथ हूँ। आलवेज़।' प्राची ने आशिमा का हाथ अपने हाथ में लेकर उसे हल्के से दबाते हुए कहा।

'थैंक्स प्राची..... तेरा साथ होना मेरे लिए बहुत मायने रखता है।' आशिमा ने मुस्कुराते हुए कहा।

'शुरू कहाँ से करेगी तू...?' प्राची ने उसी प्रकार हाथ पकड़े हुए पूछा।

‘हैं कुछ लोग जिन पर मुझे शक है। उनसे ही शुरू करना पड़ेगा। क्योंकि यह तो तय है कि है कोई न कोई बिल्डिंग का ही बंदा। बाहर का तो आ नहीं सकता, आता, तो वॉचमैन के पास रिकॉर्ड होता उसका। एक चौथे माले पर रहने वाला रोहित है, दूसरा ग्राउंड फ्लोर पर रहने वाला सोनू। इनके अलावा ठीक पास के, मतलब दो फ्लैट्स छोड़ कर एक लड़का है, गौतम, मगर उसके बारे में तो साहिल ने एक बार बताया था कि वह गे है, तो उसे तो शक के दायरे में नहीं ला सकती।’ आशिमा ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया।

‘तो ठीक है, तू अपने स्तर पर शुरू कर काम, मेरी जहाँ भी, जैसी भी मदद लगे, बता देना। ठीक है।’ प्राची कहा।

‘वह तो मैं शुरू भी कर चुकी हूँ, लेकिन बस मुश्किल यह है कि उसके लिए वहीं रहना होगा, साहिल के घर पर।’ आशिमा ने कुछ सोचते हुए कहा।

‘तो उसमें क्या है, चली जाना। वैसे भी वह आएगा ही तुझे लेने को। ज़िद मद करना, चली जाना, तेरा वहाँ जाना बहुत ज़रूरी है।’ प्राची ने समझाते हुए कहा।

‘वह आएगा क्या?’ आशिमा ने पूछा।

‘मर्द है.... दस बार आया।’ प्राची ने उत्तर दिया ‘तू चली जाना लेकिन उसे पता मत चलने देना कि तू उस काम पर लगी हुई है। चुपचाप से काम करती रहना। वैसे भी उसका टूरिंग जॉब है, जब वह नहीं रहता है, उस समय करना अपना काम। मुझे बुला लेना।’ प्राची ने कहा।

‘हूँ...चल कॉफी बना कर लाती हूँ।’ कहती हुई आशिमा उठ कर अंदर चली गई।

जब आशिमा कॉफी बना कर वापस लौटी तो देखा कि साहिल बैठा हुआ है प्राची के पास। पास में कुछ पौलीथीन के कैरी बैग्स में पिज़्ज़ा वगैरह पैक किये हुए रखे हैं।

‘अरे....! मैं तो दो ही कॉफी लाई, चलो तुम दोनों पीओ बैठ कर, मैं अपने लिए बना लाती हूँ।’ कहते हुए आशिमा ने कॉफी का एक मग साहिल की और दूसरा प्राची की ओर बढ़ा दिया।

‘कोई ज़रूरत नहीं है बनाने की, एक मग और ले आ, दो का तीन कर लेंगे।’ प्राची ने कुछ झिड़कते हुए कहा।

तीनों जब कॉफी पी चुके तो प्राची ने उठते हुए कहा ‘चल मैं यह पिज़्ज़ा माइक्रोवेव गरम कर लेती हूँ, थैंक्स साहिल, आज तो मेरा सचमुच खाना बनाने का मूड नहीं था।’

हाथ में कैरी बैग्स लेकर प्राची किचन की ओर जाने लगी। कुछ दूर जाकर रुकी और पलट कर बोली ‘और सुन... एक्वरी थिंग इस डिसायडेड नाव। तू कोई आर्ग्यू नहीं करेगी। हम दोनों तेरे भले के लिए ही कह रहे हैं, कि जो हो चुका उसे भूल जा। नो फर्दर डिस्कशन ऑन दिस टॉपिक, नाट विथ मी एंड नाट विथ दिस स्वीट ब्वाय। समझी।’ प्राची ने कुछ निर्णयात्मक स्वर में कहा। आशिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया, बस मुस्कुरा कर रह गई।

तीन दिन बाद जब साहिल टूर पर गया, तो आशिमा ने अपने स्तर पर तहकीकात शुरू की। उसने प्राची को साहिल के फ्लैट पर ही बुला या था। जिन दो लोगों पर शक था, उन दोनों को आते-जाते उसने प्राची को खिड़की से दिखाया भी।

‘चलो ठीक है कि इनमें से ही कोई एक निकलता है, तो फिर उसके बाद क्या करेंगे?’ प्राची ने पूछा।

‘पता नहीं, मुझे भी नहीं पता कि क्या करना है, क्यों कर रही हूँ यह सब, नहीं जानती।’ कुछ उदास-सी आवाज़ में कहा आशिमा ने।

‘देखें क्या होता है।’ प्राची ने गहरी साँस छोड़ते हुए उत्तर दिया।

अगले दिन साहिल टूर से वापस आ गया।

‘कोई आया था क्या कल?’ साहिल ने आते ही सीधा प्रश्न किया आशिमा से। आशिमा खिड़की के पास खड़ी कॉफी पी रही थी।

‘हाँ प्राची आई थी।’ आशिमा ने सहज रहने की कोशिश करते हुए उत्तर दिया।

‘यहाँ मिलने? तुम तो हमेशा उसके वहीं जाती हो न, जब मैं टूर पर जाता हूँ तब।’ साहिल ने फिर पूछा।

‘वह यहाँ आ गई तो क्या मुसीबत टूट पड़ी?’ आशिमा ने स्वर को ऊँचा कर लिया।

‘मुझे मूर्ख समझ रही हो क्या तुम।’ साहिल का स्वर कुछ और ऊँचा हो गया।

‘डॉण्ट शाउट.... चीखना मुझे भी आता है। सुनना चाहते हो, तो सुनो, वह उसी काम से आई थी और उसे मैंने ही बुलाया था।’ इस बार आशिमा ने भी कुछ तेज स्वर में उत्तर दिया।

‘क्यों... ? क्यों दूँदना चाह रही हो उसे ? क्या करोगी उसे दूँद कर ? अगर इतना ही शौक है उसे तलाशने का, तो पुलिस में रिपोर्ट लिखवा दो, पुलिस दूँद कर ला देगी उसे।’ साहिल के स्वर में व्यंग्य था।

‘तुम्हारी बात में जो तंज है, वह मैं समझ रही हूँ लेकिन मैं उसको अपने लिए दूँदना चाहती हूँ, किसी कारण से।’ आशिमा ने कुछ और ऊँचे स्वर में कहा।

‘कारण... ?’ साहिल ने भी उतने ही ऊँचे स्वर में उत्तर दिया।

‘हाँ कारण..... है कोई कारण..... तुम नहीं समझ सकते उसे।’ कुछ कड़वे स्वर में कहा आशिमा ने।

‘हम्म.... एक बार में दिल नहीं भरा क्या ?’ साहिल ने कुछ कड़वे स्वर में कहा।

‘शटअप.....!’ पूरी ताकत लगाकर चीखी आशिमा और अपने हाथ में पकड़ा हुआ कॉफी का मग ज़ोर से ज़मीन पर पटक दिया। कमरे में मग के टूटने की आवाज़ झनझनाकर गूँज उठी। साहिल ने उस टूटे हुए मग के टुकड़ों को एक व्यंग्य भरी मुस्कुराहट से देखा, कुछ देर तक देखता रहा और उसके बाद कमरे से बाहर चला गया। आशिमा का चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था।

दूसरे दिन जब आशिमा ऑफिस से उठी, तो सीढ़ियाँ उतरते समय उसके मोबाइल में रिंग बजी। उसने पर्स से निकाल कर मोबाइल देखा, कोई अज्ञात नंबर था। उसने नहीं उठाया। मोबाइल कुछ देर तक बज कर शांत हो गया। कुछ देर बाद मोबाइल एक बार फिर से बजा, आशिमा ने देखा वही नंबर था। उसने नंबर को बजने दिया और टू कॉलर से उस नंबर के बारे में जानकारी आने का इंतज़ार करती रही। थोड़ी देर बात टू कॉलर ने नंबर को पहचानने में असमर्थता जता दी। आशिमा असमंजस में पड़ी मोबाइल स्क्रीन को देखती रही, जो उसके द्वारा ग्रीन स्वाइप का इंतज़ार कर रही थी। रिंग बंद हो गई और स्क्रीन पर दो मिस्ड कॉल की सूचना आने लगी। आशिमा ने लापरवाही से सिर को

झटका और आगे बढ़ गई। वह अपनी कार तक पहुँची ही थी कि एक बार फिर से मोबाइल पर रिंग बजने लगी। कार का दरवाज़ा खोलते हुए उसने कॉल को रिसीव कर लिया।

‘हलो....’ आशिमा ने कार में बैठते हुए कहा।

‘नमस्ते आशिमा जी।’ उधर से एक पुरुष स्वर आया।

‘नमस्ते... कौन बोल रहे हैं ?’ आशिमा ने कुछ उलझन भरे स्वर में कहा।

‘जी मैं वही हूँ, जिसे आप दूँद रही हैं।’ किसी धमाके की तरह यह स्वर आया दूसरी तरफ से। कार को स्टार्ट करते हुए आशिमा के हाथ रुक गए।

‘क्या..... ?’ लगभग चीखते हुए कहा आशिमा ने, फिर कुछ सँभल कर आस-पास देखा कि कोई है तो नहीं।

‘जी मैं वही हूँ। सबसे पहले तो मैं आपसे माफी माँगना चाहता हूँ उस रात के लिए। बिना कोई दूसरा स्पष्टीकरण दिए हुए। उस रात ने मेरी ज़िंदगी को खत्म कर दिया है।’ उधर से आवाज़ आई।

‘आपकी ज़िंदगी को... ? आर यू जोकिंग... ? पहले यह बताइये आप बोल कौन रहे हैं और कहाँ से बोल रहे हैं ?’ आशिमा ने गुस्से में पूछा।

‘मैंने आपको कॉल किया है आशिमा जी, अब आपके लिए मेरा पता लगाना आसान है लेकिन फिर भी मैं कुछ दिनों की मोहलत चाहता हूँ, ताकि मैं आपको अपने बारे में बता सकूँ। वरना तो आप अभी इस नंबर को ट्रेस करवा कर मुझ तक पहुँच सकती हैं।’ उधर से कुछ संयमित और शांत स्वर आया।

‘मुझे आपके बारे में जानने में कोई दिलचस्पी नहीं है। हाँ बस यह जानना है कि आप हैं कौन, कहाँ रहते हैं। और वह भी केवल अपने लिए।’ आशिमा ने बहुत ही रूखे स्वर में उत्तर दिया।

‘जी मैं आपको सब बता दूँगा। अपने बारे में पूरी बात बता दूँगा। बस ज़रा सा समय, थोड़ी सी मोहलत चाहता हूँ आपसे। कहाँ रहता हूँ, इसका अनुमान तो है आपको। कौन हूँ यह बताने के लिए मुझे थोड़ी हिम्मत चाहिए। एक दो बार आपसे बात हो जाएगी, तो शायद अपने बारे में बता सकूँ।’ उधर से कुछ अनुनय भरा स्वर आया।



‘किसलिए.... ? जब मैं कह चुकी हूँ कि मुझे आपसे कोई बात करनी ही नहीं है, तो किस बात का समय ? बस मुझे आप अपना परिचय दे दें, नहीं तो मुझे मजबूरी में इस नंबर की जानकारी पुलिस से निकलवानी पड़ेगी।’ आशिमा ने गुराते हुए कहा।

‘उसके लिए आप स्वतंत्र हैं आशिमा जी। अभी आप गुस्से में हैं, मैं आपको बाद में कॉल करता हूँ।’ उधर से आवाज़ आई और कॉल डिस्कनेक्ट हो गया।

‘सुनिए.....हलो.....’ आशिमा बोलती ही रह गई। कुछ देर तक वह मोबाइल की स्क्रीन को देखती रही फिर उसने नंबर को रीडायल किया। उधर से नंबर के बंद होने की सूचना आई। आशिमा ने झुंझला कर मोबाइल को सामने पटक दिया। कुछ देर सोचती रही, फिर कार स्टार्ट कर प्राची के घर की ओर बढ़ गई।

‘हम्म.... इंट्रेस्टिंग.... सबसे पहली तो रोचक जानकारी यह है कि उसे पता है कि तू उसे ढूँढ़ रही है। जबकि यह बात तेरे, मेरे और साहिल के अलावा किसी चौथे को पता नहीं है। उसका कॉल आना मेरे लिए आश्चर्यजनक नहीं है बल्कि यह बात मुझे आश्चर्य में डाल रही है कि उसे किसने बताया ?’ प्राची ने कुछ सोचते हुए कहा।

‘हाँ यार.... यह बात तो मेरे दिमाग में आई ही नहीं। मैं तो बस वही सोचती रही कि उसका कॉल आया है।’ आशिमा ने भी कुछ आश्चर्य भरे स्वर में कहा।

‘इसका मतलब यह कि वह निश्चित ही बिल्डिंग में ही रहता है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि वह तेरे आस-पास के ही किसी फ्लैट में रहता है, जहाँ से वह उस फ्लैट में होने वाली सारी बातें सुनता है। क्या तुम्हारे फ्लैट से आवाज़ बाहर जाती है ?’ प्राची ने पूछा।

‘हाँ अगर खिड़की खुली हो, तो आवाज़ तो बाहर जाएगी ही। और न भी खुली हो, फिर भी अगर तेज़ आवाज़ में चिल्लाकर बातें की जाएँ, तो वह तो बाहर जाएँगी ही। और इस विषय को लेकर मेरे और साहिल के बीच जब भी कहा-सुनी हुई है, तो वह तेज़ आवाज़ में ही हुई है। अगर कोई बाहर खड़ा होगा, तो उसे तो सुनाई देगा सब कुछ।’ आशिमा ने कुछ सोचते हुए कहा।

‘दैट्स इट..... उसने आस-पास रहकर ही सुनी है सारी बातें। और कल जब तुझमें और साहिल में वह बहस

हुई तो उसने यह जान लिया कि तू बस अपने लिए ही उसे तलाश कर रही है। और उसके बाद ही उसने तुझे कॉल किया। यह खेल तो डेंजरस होता जा रहा है आशु। कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्या किया जाए।’ प्राची ने कुछ चिंता भरे स्वर में कहा।

‘मैंने तुझसे एक बात छिपाई है प्राची.....’ आशिमा ने नीचे देखते हुए कहा।

‘क्या.... ?’ प्राची ने कुछ संयमित स्वर में पूछा।

‘यही कि..... उस सब के दौरान मैं होश में आ गई थी। लेकिन पूरी तरह से नहीं। बस यह लग रहा था कि हाँ जो हो रहा है, उसका पता चल रहा है।’ आशिमा ने कहा।

‘क्या... ? तो तुझे रिएक्ट करना चाहिए था। अपोज करना चाहिए था।’ कुछ गुस्से में कहा प्राची ने।

‘मैंने कहा ना कि मैं पूरी तरह से होश में नहीं आई थी। बस कुछ धुँधला-धुँधला-सा था सब कुछ। मुझे लगा कि वह साहिल ही है। कमरे में आते समय जो कुछ हुआ, वह याद नहीं था। बस कुछ एहसास हो रहा था लेकिन अपनी तरफ से कुछ रिएक्ट करने की स्थिति में नहीं थी।’ आशिमा ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया। प्राची ने कुछ नहीं कहा, वह आशिमा की ओर देखती रही।

‘फिर..... फिर मुझे लगा कि नहीं यह तो साहिल नहीं है, यह तो साहिल हो ही नहीं सकता।’ आशिमा ने कुछ बुदबुदाते हुए कहा।

‘कैसे... ?’ प्राची ने पूछा।

‘क्योंकि साहिल.... साहिल वैसा नहीं है। साहिल बहुत एग्रेसिव है, सम टाइम्स ब्रूटल इज द करेक्ट वर्ड फॉर हिम। और वह जो था... वह..... वह वैसा नहीं था। वह बहुत साफ़ था, पोएटिक, जैसे कोई साफ़-सी फ्ल्यूट बज रही हो। मद्धम-मद्धम, मद्धम-मद्धम।’ आशिमा की आवाज़ बहुत साफ़ हो गई थी।

‘दैट्स व्हाय यू आर सर्चिंग हिम... ?’ प्राची का स्वर कुछ शुष्क हो गया।

‘हाँ.....’ आशिमा जैसे नौद से जागी ‘नहीं यार..... नहीं उसलिए नहीं.... पता नहीं क्यों..... पता नहीं.....आई डॉण्ट नो.... बट नाट फॉर दैट पर्स.... नो.....।’ आशिमा कुछ तय नहीं कर पा रही थी कि उसे क्या कहना है।

‘तू पहले तय कर ले कि तुझे क्या उत्तर देना है ? हाँ या नहीं ?’ प्राची ने अपने स्वर को कुछ ठीक कर लिया।

‘मुझे भी नहीं पता..... मुझे नहीं पता व्हाय.....?’ कहते हुए आशिमा प्राची से लिपट गई और सिसकने लगी। प्राची उसकी पीठ पर हाथ फिराने लगी।

‘तू अपने मोबाइल पर कॉल रिकार्डर डाल ले, अगली बार जब उसका कॉल आये तो रिकार्ड करना, मैं सुनूँगी, शायद कोई सिरा पकड़ में आए।’ प्राची ने आशिमा की पीठ थपकते हुए कहा।

अगले दिन आशिमा ने ऑफिस में बैठे-बैठे दिन में कई बार उस मोबाइल नंबर को ट्राय किया लेकिन हर बार वही बंद होने की सूचना आती रही। आशिमा का किसी भी काम में मन नहीं लगा। एक अजीब तरह की बेचैनी उसे पूरे दिन होती रही। कौन है वह ? दो क्रदम की दूरी पर ही तो खड़ा है। चाहे तो अभी पुलिस की मदद लेकर नंबर को ट्रेस करवा ले और पहुँच जाए उस तक। लेकिन नहीं, पुलिस नहीं।

शाम को जब वह ऑफिस से लौट रही थी, तो मोबाइल बज उठा। आशिमा ने कार को साइड से लगाया और पर्स खोल कर तेजी के साथ मोबाइल को निकाला। वही नंबर था।

‘हलो....’ आशिमा ने कुछ अटकते हुए कहा।

‘नमस्ते आशिमा जी। मैंने आपसे कहा था कि मैं आपको अपनी कहानी सुनाना चाहता हूँ। कल तो आप नाराज थीं, क्या आज सुना सकता हूँ ?’ उधर से बहुत ही संयत स्वर आया।

‘कौन हो यार, और अब क्या चाहते हो?’ आशिमा ने कुछ झल्लाहट के स्वर में कहा।

‘कुछ नहीं, कुछ भी नहीं। आप यह मत सोचिए कि मैं किसी और कारण से कॉल कर रहा हूँ। अगर आपको ऐसा लगता है तो मैं कॉल करना बंद कर देता हूँ। यक़ीन मानिए ऐसा कोई इरादा नहीं है कि आपको परेशान करूँ, वैसे ही मेरे कारण आप परेशान हैं।’ उधर से उतना ही संतुलित स्वर आया। आशिमा को एकदम से कोई भी उत्तर नहीं देते बना।

‘मैं अपनी तरफ से कोई सफाई नहीं देना चाहता, जो कुछ हुआ उसे जस्टीफाई भी नहीं करना चाहता

लेकिन..... लेकिन बस यह कि मैं आपको बहुत.....’ कहते-कहते उस तरफ की आवाज़ रुक गई।

‘क्या बहुत...?’ आशिमा ने रूखे स्वर में पूछा।

‘आप उस पर विश्वास नहीं करेंगी, करना भी नहीं चाहिए। उस सब के बाद तो बिल्कुल भी नहीं। लेकिन सच्चाई यही है कि..... मैं..... मैं बहुत शिद्दत के साथ आपको प्रेम करता हूँ।’ कुछ अटकते हुए स्वर आया उस तरफ से।

‘प्रेम.... ? इस शब्द को जुबान पर लाने की हिम्मत कैसे हुई तुम्हारी ? हाउ डेयर यू ? पता भी है प्रेम क्या होता है ?’ आशिमा एकदम से भड़क उठी ‘और प्रेम में वह सब किया जाता है, जो तुमने किया ?’

‘क्या किया मैंने ?’ उधर से आवाज़ आई।

‘क्या किया ? तुम नहीं जानते तुमने क्या किया ? मेरे मुँह से सुनना चाहते हो ?’ आशिमा ने लगभग चीखते हुए कहा।

‘चिल्लाइये मत आशिमा जी, मैं आपको परेशान नहीं करना चाहता। यदि आपको मेरे कॉल से परेशानी हो रही है, तो मैं कॉल काट देता हूँ, और फिर कभी आपको कॉल नहीं करूँगा। कभी नहीं।’ उधर से एक उदास-सा स्वर आया।

आशिमा को लगा कि अगर अभी यह कॉल कट गया और हमेशा के लिए कट गया तो यह राज़, राज़ ही रह जाएगा, इसलिए उसने अपने आपको कुछ संयत किया और कहा ‘बताइये आप क्या बताना चाहते हैं मुझे ?’

‘क्या आपको सचमुच लगता है कि मैंने आपके साथ..... आपके साथ..... रेप किया ?’ उधर से कुछ झिझकते हुए कहा गया।

‘तो... ? जो कुछ किया वह क्या प्रेम था ?’ आशिमा ने भरसक अपने आप को संयत रखने का प्रयास किया लेकिन आवाज़ में तलखी आ ही गई।

‘मैं उस घटना को जस्टीफाई नहीं कर रहा किन्तु, क्या अगली सुबह आपके शरीर ने भी आपको यही उत्तर दिया था कि आपके साथ रेप हुआ है ?’ उधर से आवाज़ आई।

‘क्या अजीब-सी बातें कर रहे हैं आप ? बेसिरपैर

की। क्या उत्तर दूँ भला इन बातों का ?' आशिमा ने कुछ गुस्से में कहा।

'मैं समझा नहीं पा रहा हूँ शायद, या शायद मेरे पास सारी बातें खुल कर कहने के लिए शब्द.... और शायद हिम्मत भी नहीं है। पर आप यह जान लें कि मैं आपसे बहुत-बहुत प्रेम करता हूँ, करता रहूँगा।' इतना कहने के बाद उस तरफ से कॉल काट दिया गया।

आशिमा ने हलो-हलो किया फिर मोबाइल को देखा तो कॉल कट चुका था। उसने तुरंत कॉल बैक किया लेकिन नंबर एक बार फिर से बंद आ रहा था। कुछ गुस्से में उसने मोबाइल को पास की सीट पर फेंक दिया और कार को स्टार्ट कर आगे बढ़ गई।

'वह तुझे प्रेम करता है, यह तो वह कह रहा है लेकिन वह जो कुछ कर चुका है, उसे हम प्रेम कैसे कह सकते हैं ? यह एक खतरनाक स्ट्रेब्लिशमेंट होगा, वेरी डेंजरस, डेंजरस भी और गलत भी, वेरी राँग, एक्सोल्यूट राँग।' प्राची ने मोबाइल पर पूरा कन्वर्सेशन सुनने के बाद कुछ समझाने के अंदाज़ में कहा। आशिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया, वह गोद में रखे हुए कुशन के कवर पर लगे काँच के छोटे से टुकड़े पर उँगलियाँ फिराती रही।

'क्या तू भी उससे.... ?' प्राची ने धीरे से पूछा।

'व्हाट रबिश यार.... तू ऐसा कैसे पूछ सकती है ?' आशिमा ने कुछ झुँझला कर पूछा।

'इसका मतलब, नहीं... ?' प्राची ने फिर से पूछा।

'पता नहीं यार..... मुझे भी कुछ नहीं पता..... कुछ भी नहीं पता....कुछ समझ नहीं पड़ रहा है मुझे। शायद नहीं..... या शायद हाँ.....।' आशिमा ने कुछ बुदबुदाते हुए कहा।

'तू बड़े अजीब तरीके से सोच रही है आशू।' प्राची ने कुछ अपनेपन से कहा।

'पता है प्राची, प्रेम और यातना के बीच बड़ा बारीक सा अंतर होता है। हमें पता ही नहीं चलता है कि जिसे हम प्रेम समझ रहे थे, वह तो वास्तव में यातना था और.....।' आशिमा ने बात को बीच में ही छोड़ दिया।

'और क्या..... ?' प्राची ने पूछा।

'और जिसे हम यातना समझ रहे हैं, वह तो.....' आशिमा ने कुछ कहने की हिम्मत जुटाई 'वह तो प्रेम है.....। कितना मुश्किल होता है जान पाना कि कहां प्रेम खत्मा हो रहा है और कहां से यातना शुरू हो रही है ?' प्राची ने कोई उत्तर नहीं दिया वह चुपचाप आशिमा की ओर देखती रही।

'यह बंदा कौन है, मैं नहीं जानती, हां यह ज़रूर अब लगता है कि उसने उस दिन मुझे ज़रा भी यातना नहीं दी। बल्कि..... बल्कि शायद प्रेम ही किया। वही सब कुछ, जो मैं साहिल से चाहती हूँ।' आशिमा अपने आप में ही बुदबुदा रही थी।

इसके बाद दो दिन तक आशिमा के पास कॉल नहीं आया। दो दिन तक हर कॉल पर वह उत्सुकता से मोबाइल उठाती थी कि शायद वही हो लेकिन हर बार कोई और निकलता था। उसकी मनोदशा बड़ी अजीब-सी हो रही थी। उसे लग रहा था कि इससे अच्छी स्थिति तो वह थी, जब उस व्यक्ति का कॉल नहीं आया था। शायद एक दो दिन में वह उसकी तलाश बंद भी कर देती। साहिल दो दिनों के लिए एक बार फिर दूर पर गया हुआ था। दो दिनों में आशिमा ने अपना सारा सामान पैक कर, ऑफिस आते-जाते प्राची के वहाँ छोड़ दिया था। केवल रोज का उतना ही सामान बचा रखा था, जितना लेकर तुरंत निकलने में आसानी हो।

'नहीं साहिल अभी नहीं प्लीज़, अभी मेरी हालत ठीक नहीं है। मुझे कुछ समय दो सामान्य होने के लिए।' शाम को जैसे ही आशिमा ऑफिस से पहुँची और घर में घुसी, वैसे ही साहिल ने उसे बाँहों में जकड़ लिया और बेडरूम की ओर ले जाने की कोशिश करने लगा। साहिल दूर से वापस आ गया था और ऐसा लगा कि उसके इंतज़ार में ही बैठा हुआ है। आशिमा के कसमसाने के बाद भी साहिल ने उसे नहीं छोड़ा।

'सामान्य होने की कोशिश करोगी, तभी तो सामान्य होगी। अभी तो तुम सामान्य होने की कोशिश ही नहीं कर रही हो, हर समय एक ही काम में लगी हो। जाने उसे तलाश करके तुमको क्या मिल जाएगा ? तुम सोचती हो किसी को पता नहीं चल रहा है कि तुम क्या कर रही हो। मुझे सब पता है कि तुम चुपके-चुपके क्या कर रही हो। मगर अब नहीं....। और नहीं वह सब कुछ। मैं तुमको प्रेम करता हूँ....।' साहिल ने कुछ सख्ती से उसे भींचते हुए कहा।

‘साहिल ऐसा तुम सोचते हो कि तुम मुझसे प्रेम करते हो, लेकिन.....’ कहते हुए आशिमा ने बात को बीच में ही छोड़ दिया।

‘लेकिन क्या?’ साहिल ने पूछा।

‘लेकिन मेरे लिये वह यातना होता है.....’ आशिमा ने कुछ ठंडे स्वर में कहा। साहिल के चेहरे पर क्रोध की एक लकीर आई लेकिन उसने अपने मनोभाव पर काबू पा लिया।

‘छोड़ो यह सब बातें, चलो आज तुम्हारा मूड एकदम ठीक कर देता हूँ।’ कहते हुए साहिल ने उसे बांहों में लेना चाहा।

‘प्लीज साहिल....छोड़ो मुझे, मैं अभी तैयार नहीं हूँ, प्लीज.....लीव मी.....’ कहते हुए आशिमा ने कसमसा कर छूटने का प्रयास किया।

‘नो आशिमा, बहुत हो गई तुम्हारी मनमानी। बस अब नहीं।’ कहते हुए साहिल ने उसे कुछ और ताकत लगाकर बैडरूम की ओर खींचा।

‘साहिल स्टॉप.....’ आशिमा पूरी ताकत लगा कर चीखी। उसके चिल्लाते ही साहिल की पकड़ कुछ ढीली हो गई। जैसे ही साहिल की पकड़ ढीली हुई वैसे ही आशिमा ने ताकत लगा कर अपने आप को छुड़ा लिया, इस पूरी प्रक्रिया में उसके हाथ से साहिल को हल्का-सा धक्का भी लग गया। साहिल कुछ लड़खड़ा गया उस धक्के से।

‘क्या जानवर समझ रखा है मुझको? मरा नहीं जा रहा हूँ मैं तुमको बैडरूम में ले जाने के लिए। मैं बस तुमको नार्मल करना चाह रहा था। बट यू..... यू आर ट्रीटिंग मी लाइक डॉग.....’ धक्का लगने से साहिल का इगो हर्ट हुआ और वह एकदम से चीख पड़ा।

‘सारी साहिल, मैं धक्का नहीं मारना चाह रही थी। एक्सीडेंटली वैसा हो गया।’ आशिमा ने अपने आप को रिएक्ट करने से रोकते हुए संतुलित स्वर में कहा।

‘नहीं मारना चाहती से क्या मतलब है? यह जो किया था यह और क्या था? जिसको धक्का मार के हटाना था, उसे तो हटाया नहीं..... सब समझता हूँ मैं.....’ साहिल के स्वर में व्यंग्य आ गया था।

‘क्या समझते हो तुम? बोलो न क्या समझते हो? और तुम धक्के की पूछ रहे हो न? तो सुनो, उस दिन उसको धक्का नहीं मार पाई, क्योंकि होश में नहीं थी लेकिन होश में भी कोई मेरे साथ वही सब कुछ करे, तो धक्का मार कर हटाऊंगी, सौ बार हटाऊंगी। जैसे.... जैसे अभी धक्का मारा है।’ इस बार आशिमा चीखी।

‘क्या मतलब है तुम्हारा? तुम मुझे भी उसकी कैटेगरी में रख रही हो? मुझे और उसको एक बराबर मान रही हो?’ साहिल ने उतनी ही ऊँची आवाज़ में उत्तर दिया।

‘तो....? क्या फ़र्क है तुम दोनो में? एक ही तो बात है। उसने भी मेरी मर्जी के खिलाफ़ मेरे साथ वह सब कुछ किया और तुम भी वही कर रहे हो, आखिर फ़र्क क्या है तुम दोनो में? मेरे लिए तुम दोनो एक बराबर हो, एक जैसे। अंतर बस इतना है कि वह अपरिचित अनजान था और तुम जाने-पहचाने हो। और.... और इसी कारण तुम तो उससे भी कहीं बड़े अपराधी हो मेरी नज़र में।’ आशिमा की आवाज़ भी ऊँची बनी हुई थी।

‘अच्छा...? या यूँ कहो न कि उसके साथ.....’ कहते-कहते वाक्य को अधूरा छोड़ दिया साहिल ने।

‘क्या उसके साथ? पूरी बात कहो न, बीच में क्यों छोड़ रहे हो बात को।’ आशिमा ने क्रोध में कहा।

‘कुछ नहीं, कुछ नहीं, अच्छा होगा तुम नहीं ही सुनो।’ साहिल ने रूखा-सा उत्तर दिया।

‘हाँ..... नहीं सुनना है मुझे, कुछ नहीं सुनना है तुम्हारे मुँह से। मैं जानती हूँ तुम्हारे अंदर क्या गंदगी भरी है। तुम्हारे साथ बैडरूम में जाने से इनकार कर दिया, तो तुम बातें सुनाने लगे।’ आशिमा ने कुछ चिल्लाते हुए कहा। आशिमा ने आवाज़ को जान बूझकर ऊँचा कर लिया था, इतना, कि यदि वह कॉल करने वाला सचमुच सुनता है, तो सुन ले यह सारी बातें।

‘तो इस गंदगी में रह क्यों रही हो? व्हाय यू आर हियर। दिस इज़ माय स्पेस।’ साहिल ने भी ऊँचे ही स्वर में उत्तर दिया।

‘वह तो मुझे पता है कि यह तुम्हारा स्पेस है और यहाँ रहना है, तो तुम्हारे साथ वहाँ बैडरूम में जाना होगा, भले ही मेरी मर्जी हो चाहे नहीं हो।’ आशिमा ने आवाज़ को ऊँचा ही रखते हुए कहा।

‘पता है, तो फिर मना क्यों किया जाने को ?’ साहिल ने तंज कसा।

‘आ गए न अपनी औकात पर, सीधे क्यों नहीं कहते कि यहाँ रहने का किराया वसूलना था।’ आशिमा ने गुस्से में कहा।

‘तो.... ? नहीं वसूलूँ किराया ? फ्री में रखूँ तुमको ? रखूँ मैं और मज़ा कोई दूसरा ले के चला जाए।’ साहिल ने तीखा तंज कसा।

‘स्टॉप साहिल..... नहीं रहूँगी मैं यहाँ, चली जाऊँगी।’ आशिमा चिल्लाई।

‘जाऊँगी से क्या मतलब है.. ? व्हाय दिस फ्यूचर टेंस ?’ साहिल ने उसी अंदाज़ में कहा।

‘अभी चली जाऊँगी.... अभी इसी वक्त.....। तुम तो उससे भी ज़्यादा गिरे हुए निकले। उसने जो कुछ किया वह कम से कम बेहोश करके किया था, तुम तो इतने सालों से प्रेम नाम के क्लोरोफार्म को सुँघा-सुँघा कर यातना देते रहे। थू है तुम पर.....।’ कहते हुए आशिमा गुस्से में बैडरूम की ओर बढ़ गई।

कुछ ही देर में आशिमा अपना सामान लिये हुए बाहर निकल आई। सामान तो वैसे भी कुछ खास था नहीं, जो था वह सब पैक किया हुआ था। बैडरूम से बाहर आकर उसने एक बार साहिल की ओर देखा, साहिल उसी प्रकार से वहीं खड़ा था। आशिमा को देखकर वह व्यंग्य से मुस्कुरा दिया। आशिमा ने अपना सिर झटका और दरवाज़े से बाहर निकल गई।

पार्किंग में आकर उसने अपनी कार में सामान रखा और ड्रायविंग सीट पर बैठ गई। सीट बैल्ट बाँधते में ही मोबाइल बज उठा। वह नंबर था।

‘आशिमा कहाँ जा रही हो ?’ आशिमा के कॉल कनेक्ट करते ही उधर से आवाज़ आई।

आशिमा... ? हर बार तो यह बंदा आशिमा जी कह कर बुलाता था, आज सीधे नाम ले रहा है।

‘अपने फ़्लैट पर जा रही हूँ।’ आशिमा ने बहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

‘आशिमा..... मैं सोहम हूँ.... सोहम शर्मा....।’ उस तरफ से आवाज़ आई।

सोहम.... ? वह कॉलेज में साथ पढ़ने वाला दब्बू मगर सुंदर-सा पढ़ाकू लड़का ? माय गॉड....। जिसने कॉलेज में उसके सामने एक बार अपने प्रेम का इज़हार भी किया था और आशिमा ने सीधे-सीधे मना भी कर दिया था। उसके बाद भी सोहम की आँखें उसका पीछा करती रहती थीं। कॉलेज ख़त्म होने के बाद एक बार बस यह पता चला था कि सोहम अमेरिका चला गया है। माय गॉड.... इसके बारे में तो सोच ही नहीं सकती थी।

‘तुम..... ? व्हाय सोहम.... ? व्हाय.... ?’ आशिमा के मुँह से आश्चर्य में डूबे हुए बस इतना ही निकला।

‘इसका उत्तर तो मुझे भी नहीं पता कि व्हाय.... ? लेकिन हाँ उस दिन के बाद से जी नहीं पा रहा हूँ।’ उस तरफ से आवाज़ आई।

‘लेकिन तुम तो यूएसए... ?’ आशिमा ने अधूरा-सा प्रश्न किया।

‘हाँ चला गया था, लेकिन लौट आया। मन नहीं लगा वहाँ पर। ऐसा लगा कि कुछ छूट गया है यहाँ, भारत में। बस लौट आया। आते ही तुमको तलाश किया। और.....।’ कहते-कहते सोहम रुक गया।

‘यहाँ..... इसी बिल्डिंग में रहते हो न तुम ?’ आशिमा ने प्रश्न किया।

‘हाँ..... साहिल के फ़्लैट से दो फ़्लैट छोड़ कर, श्री ज़ीरो फाइव में।’ उधर से आवाज़ आई।

‘श्री ज़ीरो फाइव..... ? उसमें तो वह गौतम रहता है।’ आशिमा ने आश्चर्य से पूछा।

‘हाँ..... बस उसके ही यहाँ पेइंग गेस्ट के रूप में रहता हूँ।’ सोहम ने कहा।

‘पर गौतम तो....गे.....’ आशिमा ने प्रश्न किया।

‘हाँ.... गौतम वही है....., उसे मैंने उस ही तरीके से मेन्युपुलेट किया, कैसे किया, क्या किया, वह सब बताने का कोई मतलब नहीं है। बस यह समझ लो कि बहुत दिनों से इस काम पर लगा था। गौतम से फ़्रेंडशिप की, फिर उसी के थ्रू वहाँ तक पहुँचा। तुमसे आमना-सामना न हो, इस बात की पूरी कोशिश करता रहा। क्योंकि मैं तुम्हारे बारे में जानना चाहता था, तुम्हारे और साहिल के बारे में।’ सोहम ने कहा।

‘लेकिन वह सब क्यों किया... ? व्हाय सोहम, व्हाय..... ?’ आशिमा ने बात काटी।

‘मुझे भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं पता। मैं वह सब कुछ करना भी नहीं चाहता था, मैं तो बस तुम्हीं प्रेम करना चाहता था। केवल और केवल प्रेम, एक पूरी रात भर प्रेम। लेकिन मेरे शरीर ने मेरे साथ छल कर दिया, मुझे धोखा दे दिया। जब वह सब कुछ हो गया, तो ऐसा लगा कि नहीं, इस सब के लिए तो नहीं लौटा था मैं अमेरिका से। कुछ और था जिसकी तलाश थी मुझे। कुछ और..... लेकिन.....। अभी तुमने कहा न साहिल से कि उसका प्रेम तुम्हें यातना लगता है, मैं यातना नहीं देना चाहता था, प्रेम ही देना चाहता था, चाहता हूँ.....। तुम रुको मैं वहीं पार्किंग में आ रहा हूँ।’ उधर से आवाज़ आई।

‘नहीं सोहम..... अब नहीं।’ आशिमा ने उत्तर दिया।

‘आशिमा यातना तुम भोग चुकीं, मैं प्रेम देना चाहता हूँ। सिर्फ और सिर्फ प्रेम।’ उधर से आवाज़ आई।

‘नहीं सोहम, अब कोई मतलब नहीं है आने का.... मैं जा रही हूँ.... एंड डॉण्ट ट्राय टू फालो मी.....।’ कहते हुए आशिमा ने कॉल काट दिया।

कॉल डिस्कनेक्ट कर उसने स्क्रीन पर देखा, तो एक एस.एम.एस. प्राप्त होने की सूचना आ रही थी। उसने कार को स्टार्ट करते हुए मैसेज बाक्स खोला, साहिल का मैसेज था – ‘गो टू हेल.... यू बिच.....’। आशिमा को लगा मानो कार स्टार्ट करने के दौरान स्पार्क प्लग से लपकी इग्निशन की चिंगारी उसके पैरों से होते हुए दिमाग में पहुँच गई है। पूरा शरीर सुलग उठा उसका। वह कुछ देर उसी प्रकार बैठी रही। साहिल के भेजे हुए अंग्रेजी के उन पाँच शब्दों ने उसके पूरे वजूद को हिलाकर रख दिया था। आशिमा चुप बैठकर अपने आप को कंट्रोल करती रही। जब उसे लगा कि अब दिमाग कुछ शांत है, तो उसने सोहम के नंबर पर एक मैसेज टाइप किया, मैसेज जिसमें उसने भी अंग्रेजी के ही पाँच शब्द टाइप किये और उस मैसेज को सोहम को सेण्ड कर दिया – ‘कम डाउन, आई एम वेटिंग.....’।

---

पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6,  
सम्राट कॉम्लैक्स बेसमेंट,  
बस स्टैंड के सामने, सीहोर,  
म. प्र. 466001  
मो. 09977855399,  
फोन 07562405545,  
ईमेल subeerin@gmail.com

मुकेश वर्मा

## चार चतुर की बेकार कथा

वे चार थे। चारों बेकार थे। पहिले वे ऐसे नहीं थे। बचपन से ही सबके अपने कारोबार थे, जहाँ कहीं कभी कोई ना तो फिक्र थी और ना ही चिन्ता। एक साथ रहते थे। शुरुआती दिनों की बात थी। उनमें से एक कविता लिखने की धुन में रहता था। दूसरा कागज पर रंगों से खेलते रहना चाहता था। तीसरा अपनी आवाज को अंतरिक्ष तक उठाकर स्वरों में खो रहा था। चौथा नृत्य की लयात्मक मुद्राओं में अपना वजूद भूलने की हद पर था। अपने शौक में मुब्तिला वे सभी बेपरवाह और अलमस्त थे।

उन दिनों उनके पास खत्म ना होने वाले दिन और रात थे। हँसती हुई सुबहें थीं। महकती हुई शामें थीं। गुनगुनी धूप थी। आस्मान में बेफिक्र चाँद। आँखों में उजाले थे और सपने अंधेरी रातों की गोद में से नहीं, दिन के उजालों के सरमाये में से निकलते। नींदों में डूब जाने के बाद स्याह-धूसर लिफाफों में से इतने रंगीन सपने निकले कि दुनिया के रंग चटख और रौशन हो गए। इस रौशनी ने फिर वे पगडंडियाँ दिखलाई जिन पर से चलकर उनके पास किताबें आईं। उन किताबों के एक-एक पन्ने में खजाने छुपे थे जो खोलने पर बेतहाशा बोलते, ना खोलने पर बार-बार पुकारते और ना सुनने पर अवाक् और स्तब्ध रह जाते लेकिन उनकी अनुगूँजें बन्द नहीं होतीं और फिर उधर मुड़ना ही पड़ता जिस मोड़ पर वे खड़ी होकर उनकी बाट तक रही होतीं। वे दोस्त की तरह सीने से लग जातीं और दुश्मन की तरह कभी खुद को भूलने नहीं देतीं। उन्होंने आँखों के रास्ते चलकर और कानों के पास ठहरकर वे तमाम बूझ-अबूझ बातें बताई-सुनाई जो उनके दिल में अब तक थीं लेकिन जाने क्यों खामोश थीं। पानी की ऐसी चुप सतह जिस पर कोई अक्स ना थे लेकिन किताबों ने ऐसी हलचलें उठा दीं कि अब तक देखी गई और अब तक ना देखी गई तमाम सूरतें, तमाम चेहरे, तमाम किस्से और अब तक ना देखे-सुने-जाने-समझे अफसाने अगली-पिछली हजार रातों के बयान देने लगे। इस किस्सागोई में वे करामाती नक्शे और तिलिस्मी निशान थे जो कभी उनके खयालों में इस तरह तो कभी ना थे, और फिर उनमें

से निकलीं वे दिलकश उड़ानें जो सीधे उनके ख्वाबों तक पहुँचकर उन्हें वहाँ ले जाती थीं जहाँ दिल ने पहुँचने का कभी खुद से वायदा किया था और इस हसरत में फ़ना हो जाना पसंद भी किया था। हिम्मत और हौसले अपने शबाब पर थे। कुछ कर गुजरने की तमन्नाएँ दिल में सौ-सौ बल खाती थीं। कमबख्त अंगड़ाइयाँ भी इस तरह और इस कदर उठती थीं कि उम्र के पेड़ों पर कमसिनी के फल वक्त से पहिले पकने लगे थे। उन्हें वे सहारे मिले जिन्होंने उन्हें अपना सहारा माना। वक्त की थैली में रखी प्यार की इस दौलत को दुनिया की सबसे हसीन और अहम शै मानकर वे फूले ना समाये और बेतहाशा खर्च करने में तल्लीन हो गए।

अब वह आस्मान उनके हाथों में था जिसके कूचे-कूचे की सैर उन्होंने दिल्ली के साथ की। तब उन्हें वे पत्थर भी गड़े जो लोगों ने हर उठती चीज के खिलाफ फेंके थे और जिनके सिलसिले पुरजोशी से बाद तक कायम रहे। इन चोटों से किताबों के हरे-भरे पन्ने फीके तो पड़ने लगे पर बदरंग नहीं हुए। फूलों में पोशीदा कांटों का अहसास होने लगा था और एक बार फिर दुनिया के बारे में शंकाएँ और आशंकाएँ पैदा हुईं, मगर कुछ अलग अंदाज से, कुछ अलग अंजाम के साथ। इन्हीं पेंच दर पेंच उलझनों में से ढेर सारी अनथक बहसों की धाराएँ बहीं। इस जल-थल की जड़ों से गुत्थियाँ निकलीं। विचारों के सिलसिले बने-बिगड़े। मान्यताएँ टूटी-फूटी। स्थापनाएँ सजी-संवरि। कामनाएँ सुलझीं-उलझीं। सच बिखरे। झूठ ठहरे। अंधेरे में रौशनी का भ्रम और रौशनी में अंधेरे का रहस्य जगा। अजब तमाशा कि वे इनमें-उनमें फर्क ढूँढते रहे और यकीनी तौर पर हाथ कुछ ना आया। अजब शक्तों में गहरे मथती कशमकश और उबाल भरे तनाव हैरान-परेषान माथे में भरते चले गए।

दुनिया फुटबाल की गेंद की तरह लुढ़कती हुई क़रीब आई थी जिसके साथ उन्होंने अपनी तरह से खेलना शुरू किया। गेंद आस्मानों तक जाती और वे समुद्र की गहराइयों से उसे खींच लाते। लेकिन ज़ल्द ही गेंद ने अब उन्हें किक मारना शुरू कर दिया। पढ़ाई ख़त्म होने के साथ वे ना केवल क्लास-रूम से बाहर हुए बल्कि अपनी दिलचस्पियों के हर मैदान से बाहर होते चले गए। वे गहरी असमंजस के दिन थे जिसके दिन-दहाड़े अंधेरों में वे सब घिर गए। जीवन के अर्थ व्यर्थ होने लगे। ना घर में राहत, ना बाहर चैन। सड़कों पर आवारागर्दी और नौकरी की अनंत अर्थहीन तलाश। सपनों

की जमा-पूँजी तेजी से खर्च हो रही थी। शीशे का शहर पत्थरों में तब्दील हो रहा था। प्रेम-पत्रों के चिथड़े उड़ने लगे। रफूगिरी का कोई अंदाज काम ना आया। मौसम नहीं चेहरे बदल रहे थे। भरे हुए पैमाने उलट रहे थे। शक उन्हें करना चाहिए था लेकिन लोग उन पर शक करने लगे थे। धरती का वज़न बढ़ रहा था जिसे वे अपनी धँस रही छाती पर शिद्दत से महसूस कर रहे थे लेकिन अथाह दलदल में डूबते जाने के अलावा कुछ भी बस में नहीं रहा। और फिर वह दौर शुरू हुआ जब अपनी नालायकी और निकम्पेपन के साथ, सपनों और बहसों का बोझ उठाए वे वीरान पार्कों की नामुराद सूखी ज़मीन पर खारिज पत्तों से असहाय पड़े रहते या सड़कों पर धूल की तरह इधर से उधर उड़ते-बिखरते। कभी जिस किस्मत से उम्मीदों का रिश्ता बनाया था, उसे अब दिन-रात कोसते लेकिन उससे क्या होना था !!!

चलते-चलते उनमें से एक ने आलीशान होटल के नायाब कालीन पर इठलाते एक जोड़ी जूतों को देखा। उन जूतों पर बेहतरीन पालिश थी। वे इतने खूबसूरत थे और अपने इस आतंक की वजह से इतने चमक रहे थे कि चकाचौंध में उन्हें देखना या उनके आस-पास देख पाना मुश्किल था। उससे भी मुश्किल उन तक पहुँच पाना था। लेकिन वह उन्हें लगातार देखता रहा होगा, तभी अचानक एक झपट्टा मारकर उन क्रीमती जूतों में सूराख कर भीतर घुस गया।

उन सब के लिए यह एक जबर्दस्त और आकस्मिक हादसा था। इस बारे में इस तरह से उन्होंने कभी सोचा नहीं था और आज जो सोचा, वह गम और गुस्से के अलावा कुछ नहीं था। जितना अचरज, उससे दूनी नफरत और चौगुनी हिकारत। बस यही बबाल उठता रहा कि क्या हुआ होगा उसका ? सबने कहा कि सख्त ऐड्रियों की चोटों में कहीं पिचपिचाकर रह गया होगा। इस सारी प्रक्रिया में दया भी आई, तरस भी खाया, डर भी लगा लेकिन कहीं कुछ राहत सी भी महसूस हुई जिसके बारे में किसी की कोई कैफियत नहीं थी।

सोचते-सोचते उनमें से दूसरा उस कलफ लगी कड़कदार वर्दी के गिर्द मँडराने लगा जिसके आस-पास बरसों से उसका बाप भिनभिना रहा था और हमेशा बेटे के कान उमेठकर उस ओर खींचता रहता था। दूसरे का मन पहिले तो कभी इस काम में नहीं लगा था लेकिन एक दिन जाने क्या हुआ कि वह ग़ज़ब की तेजी से भिनभिनाता हुआ उड़ा और



धीरे से वर्दी की चोर जेब में दाखिल हो गया। वे सब देखते रह गए। सबका मन नफरत से भर उठा, फिर भी सबने उसे कई बार पुकारा। लेकिन उसके बाप की रौबिली मूँछों की फुफकार और सख्त हाथों की आक्रामक फटकार से पास फटक ना सके। घृणा भरी थूक के साथ वे सब ज़मीन पर पटक दिए गए। फिर भी वे उसे पुकारते रहे लेकिन वह जा चुका था।

यह एक और संगीन वारदात बनी जिसके बारे में कभी सोचा नहीं गया था। उन्हें हर तरह से आश्चर्य हुआ। आखिर उसे क्या सूझा। वे उसके बारे में कितना अधिक जानते थे लेकिन ऐन वक्त जानना कितना कम पाया गया। जाते समय उसने ना कुछ पूछा, ना सलाह-मशिवरा किया, यहाँ तक कि आवाज़ भी नहीं सुनी। इस बार भी दया थी, पर कम थी। तरस भी कम था। डर ज़रूर बढ़ गया था। लेकिन इस बार राहत हो या ना हो, ईर्ष्या की हल्की लपट ने कलेजे तक आंच दी थी। उन्हें यकीन हो रहा था कि वह अब कभी उनकी आवाज़ नहीं सुनेगा। लेकिन इस बार खुद को तसल्ली देने के लिए उसे पुकारा।

पुकारते-पुकारते उनमें से तीसरा पश्चिम से आ रही गोलियों के तेज़ धमाके को गौर से सुनने लगा। बारूदी गंध के उस माहौल में वह पहिले स्तब्ध हुआ और फिर हतप्रभ खड़ा रहा। फिर तेज़ी से दौड़कर उस तरफ गायब हो गया जहाँ से अभी तक बंदूकों के धमाकों की आवाज़ें आ रही थीं। खून की बौछारों के बीच धुआँ फैल रहा था। छायाएँ अस्पष्ट थीं। सिर्फ उनके काले नक्राब चमक रहे थे। उनके कहकहे दिल को दहलाने वाले थे। उस सब में वह कहाँ था, कहाँ चला गया, कोई बता नहीं सका, बल्कि एक खतरनाक खामोशी फैलती चली गई। निश्चय ही उसी जलजले में कहीं वह भी शामिल हो चुका था, लेकिन अब दिखाई नहीं दे रहा था।

उनमें से अब सिर्फ चौथा बचा था। उसके पैरों के नीचे की ज़मीन खिसक चुकी थी और आसमान ऐन सिर पर खड़ा कहर ढा रहा था। वह निपट अकेला और निरीह रह गया था। उसने हिम्मत कर ज़मीन को पकड़ने का उपक्रम किया। लेकिन मुँह के बल गिरा। तभी शोर का एक जोरदार झोंका आया। वह पत्ते की तरह उड़ चला और उड़ते-उड़ते सड़क पर चल रहे एक जुलूस के बीचों-बीच गिर पड़ा। हाथी, घोड़े, ऊँट, जीप, मोटर-साइकिलों, ट्रक-ठेलों, कारों,

तलवारों, इशतहारों और अखबारों की भारी भीड़ थी। उनके पास किसिम-किसिम की टोपियाँ, घोषणाएँ, शानदार संगीन नारे और धारदार रंगीन बैनर थे। वे सब आपस में इतना शोरगुल मचा रहे थे कि किसी को किसी की भी बात पल्ले नहीं पड़ रही थी। दरअसल, वे ऐसा ही चाह भी रहे थे। इस शोर में वह अपना डर भूल गया, बल्कि उसे ग़ज़ब सी ताक़त मिली। वह हाथ उठाकर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा, इतना, ऐसे और इस कदर कि सभी उसे ध्यान से देखने लगे। ज्यों-ज्यों उसने इस सच्चाई को समझा, त्यों-त्यों उसकी आवाज़ बुलंद और नित-नये उन्माद से भरती चली गई। लोगों ने उसे कंधों पर बिठा लिया। ज़ल्द ही वह सिरों पर बैठने लगा और एक दिन उसने ऐसी छलांग लगाई कि वह सीधे हिमालय पर जा बैठा। वहाँ इतना घना कोहरा और आतंक भरी ठंड थी कि उसे देखना मुश्किल हो गया। वह फिर ज़मीन पर कभी-कभार देखा गया। जब भी देखा गया तो प्लेन या बुलेट ट्रेन चलाते देखा गया। उसका पता होते हुए भी, फिर उसका पता नहीं चल सका।

अब वहाँ कोई नहीं था। समय के बबंडर में बौखलाई पृथ्वी बेतहाशा अपनी धुरी के बाहर घूम रही थी। लोग-बाग एक जगह से दूसरी जगह तेजी से भाग रहे थे और फिर उसी जगह पहुँचते जो अब तक बिलकुल बदल चुकी होती और एक घटिया हालत में परिवर्तित हो चुकी होती। वे इसे विकास-यात्रा समझकर दूने जोश और चौगुनी थकान से फिर दौड़ने लगते। धर्म-स्थलों पर बिना रुके घन्टे लगातार बज रहे थे। हर दंगे के पहले पूजा-इबादतें होतीं और उनके थमने के बाद फिर वही मंगल-गान। सड़क से लेकर संसद तक देश-प्रेम के गीत ऊँचे कर्कश चीत्कारों में बज रहे थे जिनके बीच-बीच में फैशन-परेड की धमक, चालू लुचचही गाने और लूट-मार के किस्से अनिवार्य रूप से गुँथे हुए थे। दफ्तरों में कुर्सियाँ दौड़ रही थीं। कर्मचारी बेदम पड़े थे। स्कूलों में कैलेन्डर फड़फड़ा रहे थे। विद्यार्थी ग़ायब थे। घरों में रात और दिन तह किए जाकर बदबूदार लिहाफों में रखे जा रहे थे। बूढ़ों के घुलने के कारण आकार छोटे होते जा रहे थे कि उनकी औकात रद्दी की ढेरी से भी कम और हल्की हो गई थी। प्रेम-पत्र पीले पड़ने के बाद पुराने संदूकों में बंद किए जा चुके थे। पुराने लोग जा चुके थे। नए लोग आ रहे थे। फ़र्क कहीं कोई नहीं था। सिर्फ उस खाली जगह में दुनिया का हर ज़लील सन्नाटा बह रहा था। सृष्टि की अनंत फुसफुसाहटों और उनमें से रह-रहकर निकलते करुण क्रंदन

के अलावा कहीं कुछ नहीं था। धरती शांत हो चुकी थी। तूफान वापस जा चुके थे।

तपते भूखण्डों की परिक्रमा करती हुई एक चींटी ने एक बार फिर दाएँ-बाएँ देखा और अपनी तल्लीनता में चलना शुरू किया। पृथ्वी इतनी बड़ी-विशाल कि जो एक बार नज़र से ओझल हुआ तो फिर उसका पता ना चले। लेकिन इतनी छोटी भी कि घूम-फिरकर एक बार मिलने वाले मिल ही जाते हैं।

उस भव्य पार्टी में अचानक वे चारों मिल गए। पहले-पहल तो वे एक-दूसरे को पहिचान ही ना सके। वे सब इतने बदल गए थे कि उन्हें पुरानी सूरतें ही याद नहीं रह पाई थीं। उनमें से एक अंधा हो चुका था। उनमें से एक बहरा हो गया था। उनमें से एक गूँगा और एक अपाहिज। उन्हें पद, पैसा, प्रतिष्ठा, प्रभुत्व सब कुछ हासिल हो चुका था। सब सम्पन्न और संतुष्ट थे। उनके प्रौढ़ चेहरे दर्प से दमक रहे थे। बातों के सिलसिले और सिगरेट के धुएँ के छल्ले साथ-साथ ऊपर ही ऊपर उड़े चले जा रहे थे। इस परम आनंद में उन्हें पुराने बीते दिन याद आए और वे बार-बार बहुत बार हँसे और हँसते रहे। वे अब रह-रहकर पछताते भी जा रहे थे कि उनने बिला वजह एक वक्त फिज़ूल बर्बाद किया। दरअसल जो वे आज हैं, उन्हें बहुत पहिले हो जाना चाहिए था। वह कमबख्त गया-गुजरा ज़माना वापस नहीं आता, यह बात दिल को टीसती थी। वक्त की बर्बादी का अफसोस कई बार और कई तरह से हुआ। एक अनावश्यक बेचैनी उन्हें फिर भी परेशान कर रही थी जिससे वे दूसरों और अपनी भी निगाह से बचना चाह रहे थे और बेशक्रीमती नगों से जड़ी अंगूठियों वाले खाली हाथ फिर खाली हो गए गिलासों को बेवजह थपथपाने

लगते गोया कि खुद को और दुनिया को दिलासा दे रहे हों।

वे लगातार बातें कर रहे थे, अक्सर अज़ब, अनर्गल, अप्रसांगिक। वे बातों का सिलसिला तोड़ना नहीं चाह रहे थे क्योंकि टूटने के मोड़ पर एक ऐसी खामोशी खड़ी थी जिससे मुखातिब होना उनका चीर-फाड़ कर उन्हें तोड़-फोड़ सकता था। वे इस विपत्ति के आसार भांप रहे थे। वे बचना चाह रहे थे लेकिन हालात उनके हाथ से निकलते जा रहे थे और अचानक संगीत का ऐसा शोर हुआ कि उनके बीच कुछ देर के लिए खामोशी पसर गई। तब उन्होंने एक-दूसरे को गहरी नज़र से भरपूर देखा। खाली गिलासों में उनके पुराने चेहरे तैर रहे थे जिनको टपकते आँसू मटमैला करते हुए भी धुंधला नहीं कर पा रहे थे। तभी वेटर ने उनमें लेमन डाला और जिन से लबालब भर दिया। वे देख सके कि उफनती सतह पर हल्के झाग के बीच वही जवान लड़के हँस रहे हैं जिनमें से कोई कविता पढ़ रहा है, कोई पेंटिंग बना रहा है, कोई गा रहा है और चौथा नृत्य-मुद्रा में है। अज़ब सांसत में वे स्तब्ध बैठे थे। एक पल के लिए दिल की धड़कन गायब हुई जो फिर नहीं लौटी, हालांकि सीनों में धड़-धड़ की बाकायदा आवाज़ें आ रही थीं लेकिन वे धड़कनें नहीं थीं, रोजमर्रा की बेकाम कवायदेँ थीं। इस अज़ाब के बीच वे उठे और फिर एक बार भीड़ में खो गए कि दोबारा उनका पता नहीं चला।

अब क्या दोबारा लिखने की ज़रूरत है कि तपते भूखण्डों की परिक्रमा करती हुई एक चींटी ने एक बार फिर... !!!

---

एफ-1, सुरेन्द्र गार्डन,  
अहमदपुर, होशंगाबाद रोड,  
भोपाल-43 (म.प्र.)  
मो. :-09425014166

प्रज्ञा

## ज़िंदगी के तार

रिश्तों का सफर भी कितना अजीब है, कभी लगता है कि इनके बिना जीना नामुमकिन है। दिन का हर पल उन्हें सींचने, पोसने में व्यस्त रहता है। ज़रा इधर-उधर हुए नहीं तो आंखों की बेसब्री और जुबान से निकली शिकायतों के अंबार पिटारा खोलकर बैठ जाते हैं। और यदि समय के लेख से इनके शब्द मिटने लगें तो सारे संदर्भ धुंधलाते जाते हैं और फिर वही रिश्ते पिटारे से निकलकर समा जाते हैं औपचारिकता की किसी अंधेरी, गहरी खोह में। उनके बिना जीना भी कितना सरल होता चला जाता है। और रूबरू होने पर पिछली स्मृतियां एक जुंबिश भर पैदा करती हैं और फिर पसर जाती हैं अगली मुलाकात तक की एक और लंबी, बेहरकत चुप्पी में। आज सुबह ही लवली के पापा के गुजरने की खबर के बाद मीता उन्हीं पुरानी गलियों में घूम रही थी जहां दोनों ने साथ-साथ समय को जिया था। कभी बच्चों के बहाने तो कभी नमक-चीनी जैसी रोज़मर्रा की चीजों के बहाने और कभी कुछ विशेष पकवान लेकर खड़ी हो जातीं दोनों एक-दूसरे की चौखट पर। एक दहलीज के भीतर, दूसरी बाहर। घंटों इस अनौपचारिकता में बिता सकती थीं दोनों। कभी ठहाकों में घुलती उनकी आवाज़, तो कभी आंखों की कोर से चूने लगते ज़रा-ज़रा से शब्द और हाथ, कंधा सहलाकर सारी उदासी हर लेने की कोशिश में जुट जाते। यही तो सुख था पड़ोस का।

किराए का घर क्या छूटा, दूरियां ही बढ़ गईं पर आज लवली की बहन रानो के फोन ने सब कुछ फिर से ताज़ा कर दिया। अंकल की याद में पाठ रखवाया है लवली ने। और मीता को आज जाना ही है बिना कोई बहाना बनाए। कैसे भूल सकती है वह लवली और जसविंदर अंकल को? बरसों राजस्थान में एक छोटी-मोटी सरकारी नौकरी करने वाले अंकल, रिटायर होकर बड़ी बेटी लवली के ही पास आ गए थे। एक ही मोहल्ले में दोनों किराएदार। लवली से जुड़े मीता के रिश्ते की डोर खुद ब खुद अंकल और उनके पूरे परिवार से जुड़ती चली गई। लवली का बड़ा भाई बरसों से कनाडा में ही था और उसकी

पत्नी और दोनों बच्चों की जिम्मेदारी अंकल-आंटी ही संभाल रहे थे। लवली की अविवाहित बहन विन्मी भी उन्हीं के साथ रहती थी। दिल्ली में ही कुछ दूरी पर मंझली बहन रानो भी थी। लवली उम्र में ही नहीं अधिकार में भी बड़ी थी घर में। भाई की लंबी और अनिश्चित गैरमौजूदगी ने लवली को अंकल का मजबूत सहारा बना दिया था।

“मीता पापा-मम्मी को पैसों की दिक्कत नहीं है यार बस अकेलापन है। परेशान हो जाते हैं जल्दी से। यहां रहेंगे तो मैं और रानो संभाल लेंगे उन्हें। नौकरी थी तब तक ठीक था अब अकेले नहीं रह पाएंगे।”

मीता लवली के निर्णयों और उसकी दृढ़ता को बखूबी जानती थी। कितने साल से दोनों पड़ोसी ही नहीं दोस्त हैं। एक-दूजे के साथी, किसी राज की कोई पर्दादारी कभी नहीं रही। एक गतिमान नदी बहती रही है दोनों के बीच जो समय की सारी टकराहट, तरलता और बाधाओं की साक्षी बनकर कभी बहना नहीं भूली। मुद्दत से शांत पड़ी इस नदी में आज फिर हलचल होने लगी। मीता के सामने सारी कड़ियां बेतरतीब होकर भी एक रूप गढ़ने लगीं और सामने खड़ी हो गई वो भयानक सर्द रात।

“भाईसाहब इतनी रात गए आपस में इस तरह का लड़ाई-झगड़ा क्या ठीक है? बच्चों के चेहरे देखिए। डर से पीले पड़ गए हैं। किसी जंगल में नहीं रह रहे आप। यहां लोगों के बीच हैं और लोग सब देख-सुन रहे हैं।” मीता के पति रोहित एक अच्छे पड़ोसी का फर्ज निभा रहे थे। फिर उस समय जसविंदर अंकल भी तो यहां नहीं रहते थे, कौन साथ देता लवली का?

“और आप ही बताओ लवली ने कब आपका साथ नहीं दिया? आपके एक्सीडेंट के बाद जब आप महीनों बिस्तर पर पड़े रहे तो छोटे-छोटे बच्चों को अकेले संभाला और पूरे मन से आपकी सेवा की। आपके पापा कितना परेशान करते हैं इसे, कभी कहा इसने कुछ? दो प्यारे बच्चे हैं आपके। सुखी परिवार है फिर इतनी रात रोज-रोज के ये झगड़े अच्छे नहीं हैं।” मीता के शब्द बेरोकटोक निकल रहे थे पर डर भी था कहीं रौनक पाजी को नागवार गुजरा और उन्होंने मियां-बीवी का आपसी झगड़ा बताकर उन्हें दरवाजा दिखा दिया तो कल कौन-सा मुंह लेकर आएगी लवली के घर?

“तो समझाओ न जी, लवली को आप।”

रौनक की आवाज गरजी थी, जिसके आगे मीता और रोहित के पैर तो कांपे पर डिगे नहीं। वो लवली के जीवन का कठिन दौर था। भाई देश से बाहर, मां-पिता अशक्त और दूर। उस पर प्रताड़ित करने वाला ससुर। क्या-क्या जुल्म नहीं किए लवली पर उन्होंने। उसकी शिक्षा का मजाक उड़ाया, उसके माता-पिता का घर आना बंद करा दिया। उसके पिता का घोर अपमान किया और लवली के साथ जो करते थे वो तो बस हद थी। एक लवली ही थी जो घर भर में कहीं भी थूक दिए उनके बलगम को साफ करती फिरती। सफेद चने बनाती तो उनको परोसने से पहले उनके लिए एक-एक चने की परत उतारती।

“पता है न तेरे को चुभते हैं छिलके गले में मेरे।” कहकर कटोरी दे मारी थी उस पर अंकल जी ने।

लवली अकेली ही संभाले थी अपना मोर्चा। मीता हैरान थी कि शादी के इतने वर्ष ठीक निभाने के बाद अचानक रौनक पाजी को क्या हुआ? एक उन्हीं के कारण तो लवली अपने ससुर की सारी ज्यादतियां झेल जाती थी बिना किसी शिकायत। लवली और रौनक पाजी के बीच जो प्यार था वो हवा कैसे हो गया? कितनी बार जब किसी काम से मीता, लवली के दरवाजे तक पहुंचती तो पति-पत्नी के बीच चल रही झेड़झाड़ और लवली की होंठ-सिली हँसी उस तक पहुंच जाती थी। कितनी बार दरवाजे से इसी कारण बिल्ली की तरह दबे पांव लौटी थी मीता, लवली की हँसी को अपने चेहरे पर लिए। पर आज सब कुछ बदल चुका था। रौनक पाजी का मन बार-बार आस्ट्रेलिया के किसी कोने में बैठी अपनी बड़ी बहन की ओर भाग रहा था।

“तेरा भाई भी तो कमा रहा है वहां बैठा फिर मुझे भेजने में क्या परेशानी है?” रौनक का सवाल चीखता।

“देख नहीं रहे मेरे मां-बाप का हाल? उसके बीवी-बच्चों का हाल? सालों से गया कोई सुध नहीं ली उसने। आज तक एक रुपया नहीं भेजा घर, कहता है लौटने के लिए ही जोड़ रहा हूँ। कल को संवारने के चक्कर में सबका आज बर्बाद कर रहा है इतने सालों से। उसे भी पता है पापा पाल लेंगे सबको...पर मेरा कौन है? और फिर क्या मैं कमाती हूँ?” लवली ने प्रतिवाद किया।

“मैं क्या अकेला छोड़े जा रहा हूँ तुझे?... मेरे पापा हैं न संभाल लेंगे सब।” पति के ये शब्द खौलते सीसे की

तरह उतर जाते लवली के कानों में। सब कुछ जानते हुए भी पति किसके भरोसे पर बड़ी-बड़ी बातें कह रहा है? जिस ससुर ने कभी लवली को बहू तो क्या इंसान तक न समझा उसके सहारे छोड़ के जाना चाहता है। वो ससुर जो कई बार महीनों कहीं गायब रहता है और फिर एक तूफान की तरह आता है घर को चौपट करने। वो पिता जिसने अपने बच्चों को कभी आगे बढ़ने में कोई मदद न की और मोहताज बनाकर रखा अपने बच्चों को। जिससे उसकी पूछ बनी रहे सदा घर में। एक जमीन के जरा से टुकड़े का चुग्गा डाला हुआ है लड़कों के आगे जिससे दोनों खामोश रहते हैं।

रोज ही यही झगड़ा होता और मोहल्ला मजे लेता। दरअसल झगड़े की जड़ रौनक की इच्छाओं और ज़रूरतों से सीधी जुड़ी थी। रौनक किसी सरकारी नौकरी में नहीं था। एक साबुन कंपनी में सेल्समेन था। मालिक खूब काम लेता था उससे। फील्ड की नौकरी थी पर खरीदारों से पैसे उगाहने से लेकर कई और जिम्मेदारियां लादी हुई थीं सब रौनक की ईमानदारी के चलते। शुरू से ही मेहनती, रौनक पाजी ने सारी जिम्मेदारियां फर्ज की तरह अंजाम दीं पर समय की फिसलती रेत ने जताना शुरू कर दिया कि रीतना ही उसका मुकद्दर है। मालिक ने उनकी सेवाओं के एवज में केवल उनकी नौकरी बहाल रखी तन्खाह में मामूली बढ़ोत्तरी के साथ। पर काम के बेहिसाब घंटे और बड़े ही हिसाब से दी गई तनखाह का फर्क अब साफ-साफ दिखने लगा था। इसी बीच बहन-बहनोई, अपनी बेटी की शादी के सिलसिले में इंडिया आए। बहनोई लवली के भाई की तरह ही टैक्सी चलाता था पर यहां आकर अपने ठाठ-बाट, दिखावे और खाने-पीने पर की गई ऐश से रौनक को चुम्बक की तरह खींचने लगा। बहनोई का उसे अपने साथ ले चलने और नोट में नहलाने का सपना रौनक को रास आ गया। बस अब एक ही रट थी - “यहां रहना बेकार है। सारी ज़िंदगी गधा नहीं बने रहना मुझे।”

और एक दिन रोती हुए लवली मीता की चौखट से भीतर आई-

“देख इसे कहीं छिपा दे तू और रौनक आए, पूछे कुछ तो साफ मुकर जाना।”

मीता के कांपते हाथों में रौनक और रोमी का पासपोर्ट था।

“रोमी का किसलिए?”

“तू नहीं जानती मीता इनकी सोच बड़ी आगे की है। पापाजी ने समझा दिया है कि लड़का बड़ा हो रहा है अभी से डाल देगा काम में इसे तो कमाएगा-खिलाएगा। सारे सहारे छिनते जा रहे हैं।” लवली की हिम्मत जवाब दे रही थी। उसके कुछ दिन बाद ही रौनक ने रात को झगड़े में लवली पर पहली बार हाथ उठाया। जिसका कारण गुस्से और हताशा में लवली के मुंह से पापाजी के लिए उन सारी बातों का खुलकर निकल जाना था जो बरसों से दबी थीं। झगड़ा बढ़ता ही गया। आधी रात को रौनक ने लवली और बच्चों को घर से निकाल दिया। मीता ने बहुत समझाया पर आज उसे लगा कि ये वो रौनक पाजी हैं ही नहीं जो बच्चों पर जान छिड़कते थे, लवली से झेड़झाड़ किया करते थे और रोहित और मीता से खुलकर बात किया करते थे।

“लवली सुबह तक की बात है, चल मेरे घर। सुबह अकल ठिकाने आ जाएगी पाजी की। अब कहीं नहीं जाएगी तू।” सिम्मी और रोमी को अपने पास सटाए भींगी आंखों और दृढ़ स्वर में मीता बोली।

लवली इस अपमान से हतप्रभ थी और चेतना लौटने पर बोली-

“ऐसे नहीं, इतनी आसानी से नहीं, अब जब तक खुद माफी मांगकर सब सुधारकर नहीं लाएंगे ये, लौटूंगी नहीं।” लाख मनुहार और इसरार के बाद भी लवली रानो के घर चली गई। इधर रौनक पाजी भी अपने बड़े भाई के घर चले गए। अकल जी भी वहीं थे। उन्होंने कोई कोशिश नहीं की अपने बेटे के घर को बचाने की। मीता लगातार फोन पर लवली को ढाढस बंधाती रही। दो-एक बार लवली घर भी आई।

“मीता घर बसेगा न दोबारा मेरा?” उसका सवाल मीता का कलेजा चीर देता। सांत्वना के सारे शब्द उसे निरर्थक लगते केवल उसकी खामोश, सजल आंखें ही ऐसे में सहारा बनतीं और बाहें जो लवली से लिपट जातीं। जीना उतरते हुए जब लवली अपने घर के दरवाजे को सहलाती तो बंद दरवाजे से चीख-चीखकर उसकी ख्वाइशें उससे लिपटाने लगतीं। ख्वाइशों और लवली के बीच रह-रहकर एक निर्मम, मजबूत दरवाजा खड़ा हो जाता।

कभी-कभी कोई सामान लेने आए रौनक पाजी से जब मीता टकरा जाती तो वो कतराते हुए दरवाजे की आड़ में समा जाते। और सामना होने पर मीता की सवालिया निगाह

उनकी निगाह से बंध जाती। अब मीता पहले की तरह उनसे नमस्ते नहीं करती। रोहित ने तो हिम्मत करके कह ही दिया—

“बंद करो झगड़ा पाजी, लौटा लाओ सबको घर।”

जिसका जवाब रौनक पाजी ने नहीं अंकल जी ने दिया—“मरती है तो मर जाए हमें क्या?”

पर कुछ महीनों बाद लवली का फोन आया कि वो लौट रही है। उसने खुलासा किया कि रौनक पाजी इन महीनों में थक और टूट से गए हैं। आस्ट्रेलिया में काम दिलाने के चक्कर में बहनों कई बार रुपये ऍठ चुका है और अब टालमटोल कर रहा है।

“देख ले भई इधर हालत ठीक नहीं है। इंडिया के झाइवर को काम मिलना जरा मुश्किल हो गया है और मिल भी गया तो बड़ा खतरा है। इधर के बंदे चिढ़ते हैं इंडिया वालों से। आए दिन मार-पीट हो रही है। जैसे धरम के नाम पर कतल होते हैं न कुछ वैसा सा हाल हो रहा है। हम जैसों को जब रात की शिफ्ट मिलती है तो वाहेगुरु का नाम लेकर निकलते हैं घर से। कितनों को तो लोग अनजान जगहों में घेर लेते हैं और टैक्सियां बर्बाद कर डालते हैं। दाढ़ी देखी नहीं कि आतंकवादी समझ लिया। जान और माल दोनों का खतरा तो हरदम लगा ही रहता है। तू अभी रुक जा भाई। हालात ठीक होते ही बुला लूंगा तुझे।”

बाहर के हालात ही नहीं रौनक पाजी के लिए भाई के घर के हालात भी ठीक नहीं रहे थे, लवली ने खुलासा किया—

“रौनक की भाभी ने भी शुरू में तो कुछ दिन का चक्कर समझकर संभाल लिया। उसे लगा रौनक के साथ उसके अपने बेटे की नाव भी पार लग जाएगी। जैसे- जैसे समय गुजरने लगा और बाहर जाने के दरवाजे बंद होने लगे फिर तो खाने को भी तरसा दिया इनको। न साफ कपड़े दिए पहनने को, न समय पर खाना। मांगने पर ही खाना देती थी। और फिर बच्चों की याद ने तोड़ दिया था इनको..।” लवली बोल रही थी और मीता की आंखों के सामने लवली की कर्मठ छवि साकार होती जा रही थी। हर चीज का समय से ध्यान रखने वाली सुघड़ छवि।

“मैं वापस आ रही हूं मीता पर अपनी शर्त पर.. अब पापा जी को साथ नहीं रखूंगी। मेरा घर दोबारा बसने से सबसे ज्यादा दुखी वो ही हैं। गुस्से में जमीन भी रौनक के बड़े

भाई के नाम करने की बात कह चुके हैं। वैसे वो खुद भी नहीं आयेंगे यहां? इनको भी बड़ी गालियां दी हैं।”

लवली आ गई वापस। पूरे सम्मान के साथ। बच्चों की कुदानें, लड़ाई-झगड़ों की आवाजें, लवली की डांट, रसोई के बर्तनों का रखना-गिरना, बाथरूम में धुलते कपड़ों की छप-छपाक, खिड़की-दरवाजों की खटर-पटर, टी.वी - मिक्सी की जुगलबंदी- सारी ध्वनियों ने एक बार फिर लवली का घर बसा दिया पर गायब थी तो उसके और रौनक के बीच की हँसी। लवली के लौटने के बाद भी बहुत कुछ अभी नहीं लौट सका था। सारे काम अपने समय पर थे पर इसरा, खटपट, छेड़छाड़, हँसी और मुस्कान की सरल तान कहीं खो-सी गई थी दोनों के बीच।

यही दिन थे जब जसविंदर अंकल परिवार के साथ यहां आ बसे थे। दुबले-पतले शरीर पर ढीला-ढाला कुर्ता पजामा पहने अंकल को दिन भर दौड़ते ही देखा मीता ने। कभी बाजार, तो कभी कोई बिल भरने, कभी अस्पताल, तो कभी बेटे के बच्चों को स्कूल से लाने। आंटी घर संभालतीं और विम्मी पढ़ाई के साथ उनकी मदद करती। घर में एक जवान बहू थी पर वो कोई जिम्मेदारी नहीं लेना चाहती थी। उसका अपना तर्क था—“मेरी जिंदगी नरक बना दी इस शादी ने। पति का, पैसे का कोई सुख मिला कभी?” कड़वी जुबान और कलेश के खतरों के चलते अंकल-आंटी ने उसे उसके हाल पर छोड़ दिया था। काम करे तो ठीक न करे तो ठीक। अंकल का खाली समय अक्सर गुरुद्वारे में बीतता।

“अंकल बड़े सीधे हैं लवली। कोई छल-कपट नहीं है उनके जीवन में।” मीता कहती तो लवली ऐसे-ऐसे किस्सों की पोटली खोल देती जिससे मीता को उसकी ही बात के अनगिनत प्रमाण मिल जाते।

“पापा ने हम तीनों बहनों को खूब पढ़ाया मीता। हम तीनों एम.ए. पास हैं। अकेले कमाकर भी हमें कमी न होने दी कोई। छोटा-सा ही सही एक घर भी बनवाया है पंजाब में। भाई पढ़ न सका तो उसे भी उसका मनमौफिक काम करने के लिए भेज दिया। कितने साल से खिला-पिला रहे हैं उसके परिवार को। आज तक कुछ मांगा नहीं उससे। और भाभी के साथ निभाना तो उनकी ही हिम्मत है। यही कहते रहते हैं—” पराए घर की लड़की को दुख देने नहीं लाए हम। शादी होकर भी अकेली है, जीने दो जैसी उसकी मर्जी।”

अपने पापा की तारीफ करते न अघाती लवली को उनसे एक सीधी शिकायत भी थी कि इतना पढ़ाने के बाद भी वो अपनी लड़कियों को रोजगार से न जोड़ पाए। पढ़ाई पूरी होते ही दो लड़कियों की शादी कर दी। और परिवार भी कैसे दूँढे जहाँ लड़के, लड़कियों से शिक्षा में कमतर थे। उन परिवारों के लिए उनकी शिक्षा का जैसे कोई महत्त्व ही नहीं था। लवली को तो ऐसे हालात में भी पति का प्यार नसीब हो गया था पर रानो की हालत तो बहुत खराब थी। उसका पति महीनों- महीनों घर बैठा रहता। रानो ही छोटे-मोटे काम करके घर चलाती। घर उसका अपना था पर कल का कोई ठिकाना नहीं था। जब कभी पति कुछ महीने कमाकर लाता तो एहसान जताता हुआ ठाठ से खाता। उसके लापरवाह नजरिए से आजिज आकर सगे मां-बाप ने भी नाता तोड़ लिया था उससे। अलग-अलग घरों में बैठी ये दोनों बहनें अल्पशिक्षित से अशिक्षित-सी श्रेणी में सरका दी गई थीं और विवाह के बाद से ही रुपये-पैसे की भी मोहताज रहीं।

“अब विम्मी की शादी जल्दी नहीं होने दूंगी मीता। उसकी किस्मत हमारे जैसी नहीं होगी। देखना तू।”

लवली के सारे प्रयासों के बाद भी विम्मी को एम.ए. और कोई डिप्लोमा होते हुए नौकरी करने की छूट नहीं मिली। हाँ, अंकल ने लड़का इस बार ठोक-बजाकर देखा। खूब जमीन-जायदाद वाला प्रवासी भारतीय जो वर्षों से एक हिंदुस्तानी रेस्त्रां चला रहा था जॉर्जिया में। भरोसा इसलिए भी था क्योंकि ये रिश्ता केवल इंटरनेट या किसी विज्ञापन एजेंसी के जरिए नहीं ढूँढा गया था बल्कि लड़के का परिवार जसविंदर अंकल का परिचित था और वो भी पंजाब में उनके अपने घर से कुछ घंटों की दूरी पर। फिर शर्त भी साफ थी कि विम्मी को भी जल्द से जल्द लड़का अपने साथ ले जाएगा। विम्मी अपनी भाभी जैसा एकाकी और अभिशप्त जीवन नहीं जिएगी। बस फिर क्या था कुछ दिन बाद सब पंजाब रवाना हो गए। शादी अंकल ने अपने घर से ही की। इस शादी ने एक बार फिर लवली और रौनक पाजी को नजदीक ला दिया और दोनों के मुस्कराते चेहरे तरल प्रेम की मुग्ध नदी में दिखने लगे।

मीता की आँखों के आगे सारी घटनाएँ एक-एक करके साकार हो गईं। उनके घर के सदस्य की तरह ही जुड़ी रही थी मीता। लेकिन उसी साल लवली को घर खाली करना पड़ा। मकान-मालिक को खतरा था कि इतने वर्षों से यहां

किराएदार के रूप में रहने के कारण मकान पर कब्जा न हो जाए। निकालने का रास्ता भी आसान था-

“देखिए मकान तो हमने सुखबीर जी को दिया था। अब वो यहां नहीं रहते और नये कान्ट्रैक्ट के मुताबिक किराया आज के रेट से बढ़ेगा। आप देख लो।”

रौनक पाजी जान गए थे कि अब यहां गुजारा मुमकिन नहीं। अकेले कमाने वाले इंसान के लिए दो बच्चों की पढ़ाई के साथ घर चलाना यों भी मुश्किल था फिर इस समय के हिसाब से बढ़ा हुआ किराया दे पाना उनके बस की बात नहीं थी। मीता और लवली बेचैनी में एक-एक दिन का हिसाब जोड़ने लगीं। अगला महीना खत्म होने में कुछ ही दिन बाकी थे। दोनों रोज घंटों बतियातीं जैसे आने वाले दिनों में रोज न मिल पाने का कोटा पूरा कर रही हों। सामान बांधते हुए सुख-दुख की दोनों सहेलियां कई बार रो पड़तीं, कभी अतीत की गलियों में बिंदास दौड़तीं और फिर वर्तमान की चौखट पर पस्त होकर हांफने लगतीं। हांफते हुए भी आने वाले कल के ख्वाब बुनतीं-

“हम बात रोज करेंगे और महीने में एक बार जरूर मिलेंगे।”

योजनाएं अगर ख्याल की शक्ल जितनी ही आसानी से मूर्त हो जातीं तो जीवन कितना प्यारा और निश्चित होता। पर शुरूआत में वादों को मुस्तैदी से निभाने वाली इन सहेलियों के फोन भी जन्मदिन, सालगिरह तक सीमित हो गए और मिलने के नाम पर दिवाली की रस्म अदायगी वाली मुलाकात ही रह गई केवल। पिछले कुछ समय से वो भी नहीं रही। जसविंदर अंकल की मौत की खबर ने एक भरेपूरे अतीत को दिखाने के साथ उस इंसानी फितरत का चेहरा भी नुमायां कर दिया जो आंख ओझल, पहाड़ ओझल की तर्ज पर सबसे उदासीन-सी होकर आत्ममग्न हो जाती है। रिश्तों के इस ग्राफ पर गहराई से सोचने के बाद मीता ने खुद को झटका। मौत के इस सच ने जीवन की क्षणिकता का दर्शन समझाकर जैसे उसे गतिमान कर दिया।

घर और बच्चों की सारी व्यवस्था करके मीता और रोहित लवली के घर पहुंच गए। दूसरी मंजिल के घर के बाहर ही दरवाजे के ऐन सामने जूते-सैंडलों के बेतरतीब झुंड ने बता दिया कि ठीक समय पर पहुंचने की कोशिश विफल हो चुकी है। कमरे के फर्नीचर को अंदर के कमरों में धकेलकर सिमटा दिया गया था। किराए के गद्दों पर बिछी

सफेद चादरों पर लोग बैठे थे। सामने गुरुद्वारे का ग्रंथी पाठ कर रहा था। लवली को मीता ने पीछे से पहचाना। कितने दिन बाद देखा मीता ने उसे। मन में सोचने लगी ऐसे ही मौके बदे हैं क्या मेल-मिलाप के ? हम क्या इसी इंतजार में रहते हैं कि दुर्घटनाएं हमें जोड़ने का कारण बनें। बचपन से दी गई सीख सामने आ गई- “सुख में नहीं पर दुख में शामिल जरूर होओ।” मीता आज समझ सकी थी कि सुख में शामिल होना भी कितना जरूरी है।

मीता को रानो तो दिख रही थी पर आंटी और भाभी नहीं दिख रहे थे। रौनक पाजी काम में व्यस्त थे और फुर्सत पाते ही किसी तगड़े से सरदार से बतिया रहे थे जिसकी दाढ़ी बेपरवाह सी हालत में हवा के रास्ते झूल रही थी। रोमी का निकल आया कद और भींगी मसं गवाह थीं दोनों परिवारों के बीच बरसों की दूरी की। पाठ और लोगों से जरा ध्यान हटा तो मीता ने देखा कमरे में स्पिलिट एसी लगा है और चमचमाता डबलडोर फ्रिज भी अपनी पूरी शान से खड़ा है। घर छोड़ते समय तो एक पुराना- सा फ्रिज ही था लवली के पास और दो कूलर। ये नया परिवर्तन उसकी बेहतर माली हालत का संकेत था। पाठ के बाद लोग की छंटती भीड़ से निकल जब लवली दोनों के सामने आई तो रोहित के गले लगकर रो पड़ी।

“पापा चले गए वीर जी”

निशब्द रोहित की आंखें मीता की तेज रूलाई के साथ भींग गई और रोहित का हाथ अपनी पूरी कोमलता और ढेर सारे स्नेह के साथ लवली के सिर को सहलाता रहा। इस एक क्षण ने लंबे समय की सारी दूरी पाट दी। रिश्ते फिर उसी ऊर्जा और तरलता से भरपूर हो गए। दुख अपनी जगह रहा पर माहौल के संयत होते ही पता चला कि लवली के भाई के अलावा और कोई नहीं आया पंजाब से। रौनक पाजी के साथ खड़ा आदमी कोई और नहीं लवली का भाई ही था जो सालों से कनाडा में छिपछिपाकर गाड़ी चला रहा था क्योंकि वर्क परमिट की तय मियाद कबकी पूरी हो चली थी। पकड़े जाने का खतरा सूंघकर भाग जाता था कहीं और। जस्सी या जसजीत जिसने अंकल के जीते जी एक रुपया न भेजा। अंकल बेटे का सुख जाने बिना ही चले गए तो कमाऊ पूत के सुख की कल्पना ही क्या करते।

पाठ के बाद कुछ समय बीता तो रोहित चलने की कहने लगे। इस पर लवली अड़ गई- “वीर जी मेहमानों की तरह आए हो क्या ?”

“शाम हो रही है, बच्चे अकेले होंगे घर में लवली..” रोहित के अधूरे से शब्दों का सिरा थामते ही लवली मीता की ओर देखते हुए बोली- “तो आप चले जाओ ये कल आ जाएगी। ढेर सारी बातें करनी है इससे।” मीता घर से चलते समय लौटकर करने वाले सारे कामों की फेहरिस्त बनाकर चली थी पर लवली के इस्सर से वो लिस्ट पुर्जा-पुर्जा हो गयी। आंखों की हरकत से उसने रोहित को समझाकर लौटने की बात कह दी। रानो, रोमी और पाजी काम में लग गए, लवली का भाई टी.वी खोलके बैठ गया और दोनों सहेलियां कमरे के एक कोने में सिमट गईं।

“अंकल जी के साथ अचानक ये सब कैसे लवली ?” मीता ने पूछा।

“बस हादसे अचानक ही होते हैं न। अच्छे भले विम्मी से मिलकर लौट रहे थे कि सामने से आती गाड़ी ने टक्कर मार दी। इलाज भी चला पर...। उनके जाने से मम्मी बहुत टूट गई हैं।” मीता को याद आ गए वो दिन जब लवली के मकान खाली करने के बाद जसविंदर अंकल भी चले गए थे घर खाली करके। जाने से पहले पंजाब जाकर अपना घर ढंग से बनवाया फिर वहीं से विम्मी की शादी की। बेटा शादी में भी शामिल नहीं था। लवली कनखियों से भाई की ओर इशारा करके फुसफुसाई- “देख शादी में नहीं आया। बहाना मार दिया हमेशा की तरह पर कुछ दिन बाद ही चला आया। वहां पकड़े जाने के खतरा बढ़ गया था और भारत से गए कई टैक्सी ड्राइवरों ने इकट्ठा होकर अपनी सुरक्षा के लिए वहां धरने-प्रदर्शन कर दिए। ये हरकत वहां लोगों को रास न आई। फसाद बढ़ गया। गुस्से की आग में एक दिन इसे घेर लिया था वहां के बंदों ने। मुश्किल से जान बचा के भागा। अब तो रौनक भी शुक्र मनाते हैं जो होता है अच्छे के लिए ही होता है।”

मीता महसूस कर पा रही थी कि लवली के मन में भाई के लिए राई-रत्ती प्यार नहीं था। पहले एक चिंता रहती थी उसके बाहर रहने और बढ़ते खतरों की वो भी अब खत्म हो गई थी। और हो भी क्यों बहनों की छोड़ो उसने जीते-जी अंकल जी को कभी नहीं पूछा। लवली कभी माफ नहीं कर सकेगी उसे ?

“वो तो पापा जी की मिट्टी को इसने ही हाथ लगाना था, तो हालात कह ले या पापा के पुण्य कि ये आ गया यहां। पाठ में भी इसलिए आ गया कि कोई काम था



यहां इसका।” टी.वी. की आवाज तेज हो गई थी जसजीत को न मीता-लवली की बातों से फर्क पड़ रहा था न माहौल से।

“दी, आप लोग अंदर बैठ जाओ न आराम से।” रानो के शब्दों ने सही राह सुझाई।

अंदर सोने वाले कमरे में पलंग को देखकर मीता को हैरानी हुई। आधे पलंग पर स्टेशनरी की दुकान सजी हुई थी। पेन, पेंसिल, कॉपी, रंग, फाइलें कुछ ज्योमेट्री बॉक्सेज, बस्ते आदि। कमरे की दीवार पर लटके लकड़ी के रैक में भी इसी तरह का सामान था। इससे पहले कि वो कुछ पूछती लवली ने खुद ही बता दिया- “मैंने अपना काम करना शुरू कर दिया है मीता।”

लवली ने विस्तार से बताया कि यहां आकर संघर्ष और भी बढ़ गया था जीवन का। अकेले की कमाई पहले भी कम थी और यहां आकर कम से कमतर हो गई। बच्चों की स्कूल की फीस अचानक बढ़ा दिए जाने के साथ किराए के मकान से स्कूल की दूरी के कारण बस के किराए का बोझ भी जेब काटने लगा। फिर सिम्मी को पर घंटे के हिसाब से साइंस और मैथ्स की कोचिंग भी चाहिए थी। पहले पापाजी कभी-कभी किराए-विराए में मदद भी कर दिया करते थे अब तो वहां भी पूरी तौर पर निराशा थी। आड़े वक्त के लिए जोड़ी बचत का सहारा भी जब टूट गया, जीना मुहाल होने लगा और जरूरतें आसमान हो गईं तो लवली ने कोई और उपाय न देख ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिया।

“मैं नई थी मीता कौन देता मुझे मौका? यहां तो हर फ्लैट में ट्यूशन का ही काम चल रहा है। सबके पुराने बच्चे थे और मैं एकदम नई और बड़ी क्लास तो मैं यों भी पढ़ाने लायक नहीं थी न। फिर यार कोई भी चीज आसानी से मिली कहां है मुझको? रौनक को लेकर डर भी बैठ गया था कि कहीं फिर न चल दे हमें छोड़कर?”

“फिर कैसे साधा तूने?”

“मीता मैं कोई प्रोफेशनल ट्यूटर तो थी नहीं सो पहले दो बच्चे जो मिले उन पर खूब समय लगाया। एक घंटे की बजाय मैं डेढ़-दो घंटे का समय देती थी उन्हें। सिम्मी फ्री होती तो उससे टेस्ट पेपर बनवाती। काम जमाने में साल भर लगा। इनके पापा को पता चला तो बहुत मजाक उड़ाया उन्होंने मेरा। पर साल भर में जब बच्चे अच्छे नम्बरों से

पास हुए और उनकी मांओं ने मेरे काम की तारीफ की तो नाम-काम दोनों होने लगे। धीरे-धीरे बच्चे बढ़ने लगे। मेरा दिमाग भी चलने लगा तो सोचा क्यों न घर पर ये सामान रख लूं। इनके लिए बच्चों को रोज मार्किट दौड़ना ही पड़ता है। ये काम चला तो यहीं पड़ोस के छोटे-मोटे स्कूलों को जरूरत मुताबिक स्टेशनरी भी देने लग पड़ी। टाइम अब भी सबसे ज्यादा देती हूं बच्चों को और फीस मेहनत की लेती हूं। बस धीरे-धीरे जीवन को संवार रही हूं।... अब नहीं जा सकेंगे तेरे पाजी कहीं बाहर।”

“तो अब सेल्फ एम्प्लॉयड हो गई तू।” मीता का कथन ऊपर से भले ही छोटा था पर उसमें लवली के लिए गहरा आदर भरा था। कितनी सूझबूझ से उसने जीवन की राह निकाली थी अपने लिए। पति का असंतोष, बच्चों के सपने और अपने भीतर के तमाम डर सभी को एक साथ साध रही थी। इतने में रानो भी चाय लेकर आ गई।

“अब क्या कर रहा है तेरा भाई?” मीता, लवली की ओर मुखातिब हुई।

“कुछ नहीं बड़ी-बड़ी ढींगे हांकता है बस। पड़ा रहता है रानो के पति की तरह। दिख रहा है पापा का घर और जोड़ा रुपया तो क्यों करे काम? मानती हूं उसने भी बहुत सहा होगा वहां पर अब... कहता है दुकानें डालेगा घर के हिस्से में। सारी जिंदगी उसने कब सीखा घर की जिम्मेदारियां संभालना? ये भी पता नहीं कब तक टिकेगा यहां? बस भाभी को सुख दे दे उसके हिस्से का और मां का हौसला बनके साथ रहे। पापा का रुपया-पैसा सब ले लिया है इसने। लाख मना करने पर भी पापा जी ने जाने से पहले मेरे और रानो के नाम थोड़ा पैसा अलग से जमा करवा दिया है। विम्मी की हालत तो अच्छी थी ही इसलिए उसने अपने हिस्से की रकम हम दोनों के बच्चों के नाम करा दी है, उनकी शायदियों में देगी। जस्सी को कुछ नहीं पता है इस बारे में।”

“विम्मी कैसी है लवली?” आज बातों का सिलसिला रतजगा करवाएगा ही इसलिए एक-एक शब्द अपने इतिहास से वर्तमान में आने लगा।

लवली ने एक ठंडी सांस लेकर बोलना शुरू किया- “पूछ मत यार उसकी जिंदगी भी भाभी जैसी हो गई थी। रोते थे पापा अकेले में उसके लिए। साल में रवींदर आता पर कुछ ही दिन के लिए। हर बार कहता-’ अब ले जाएगा तब ले जाएगा।’ दो बच्चे भी हो गए। जब भी आता विम्मी के

लिए कपड़ों का मैला ढेर और उसकी रातों को छीनने ही आता। सब कुछ होते हुए पति की गैरमौजूदगी और लारों से परेशान विम्मी भी उकता गई थी उससे। पता है उसका आना मुसीबत लगता था उसे। रात-दिन का चैन हराम, क्यों रानो बता न...।”

“हां दीदी रविंदर पाजी को छूने भी नहीं देती थी और बीच में छोटे काके को सुलाती थी हरदम। और काका भी ऐसा चंट हो गया था कि रविंदर के विम्मी को छूते ही चीखना-रोना शुरू कर देता। बड़े वाला तो नफरत ही करने लगा था अपने पापा से। ‘न छूना मेरी मम्मा को’ साफ कह देता। फिर पापा ने रट पकड़ ली कि अब सबको लेकर ही जाना होगा। बड़ा बवाल मचा घर में पर विम्मी अब चली गई दीदी। इतने साल में अपने घर। पर मेरा हाल तो वही का वही है। इनमें सुधार न होना था न होगा। बस मेरे लिए मेरी ताकत लवली दी और रौनक पाजी हैं।” कहकर रानो जी खोलके हैंसी। साथ बैठकर हमने उसके पति की कमरतोड़ अंग्रेजी की पुराने दिनों जैसी चर्चा की और उसके न सुधरने वाले निकम्मेपन के किस्सों को जी भर कर जिया। कितने रंग साथ चल रहे थे इस बात-चीत में, दर्द की कितनी सतहें। कुछ आज भी भींगी थी तो कितनी खुशक होकर कड़ी धरती हो गई थीं जिनके दुख न रुलाते थे, न टीसते थे।

मीता ने महसूस किया कि जिंदगी के गमों-तकलीफों के बीच खड़ी लवली एक-एक ईंट जोड़कर घर को संवार रही थी। उसे अपनी मेहनत पर भरोसा था और मेहनत तो उसे ताउम्र करनी ही थी। आजकल खुद से चुने गए काम करने में चुनौतियां कई हैं। यहां तो आप नौकरी के तय घंटों से भी अधिक व्यस्त रहते हैं फिर हर रोज तेजी से बदल रहे हालातों में निरंतर नया बनने, साबित करने की उधेड़बुन भी क्या कम है?

“चल अब तो पाजी नहीं न लड़ते तुझसे उन दिनों की तरह?” मीता ने पूछा।

“अब फुर्सत कहां है उन्हें। दूध की एजेंसी दिलवा दी है उन्हें। साबुन वाला काम छोड़ दिया। अब अपना काम है जिसमें मेहनत अपनी और कमाई भी अपनी। किशतों पर दूध की गाड़ी भी ले ली है मीता। दूध बर्बाद भी होता है कई बार और नुकसान भी होता है पर ये तो धंधे का उसूल ही है। नफा-नुकसान लगा ही रहता है। अभी तो काम जमाने में टाइम लगेगा और कर्ज समेत खर्च भी कम नहीं हैं हमारे पर

हम अपनी सच्ची कोशिश कर रहे हैं जीवन के लिए।”

“एक के बाद एक खबर देकर हार्टफेल न करवा देना तू मेरा” मीता बोली। उसे यकीन ही नहीं आ रहा था कि वही लवली है जो एक दिन रात में घर से निकाले जाने के बाद सड़क पर आ गई थी।

“फुंक के जल मत। इतने साल बाद भी उसी हालत में मिलती तो क्या तुझे खुशी होती? अब तेरे पाजी मान गए हैं मेरा लोहा। मेहनती तो पहले ही थे जब से अपना काम हुआ है बहुत खुश रहते हैं। शुरू में झिझके पर अब भरोसा जाग गया है। अपनी मेहनत के बूते बच्चों के लिए हम खड़े हैं, ऐसे में गिरेंगे भी, चोट भी खाएंगे, थकेंगे भी पर चलते रहेंगे। बच्चों का जीवन बनाना है फिर अपने घर का सपना भी पूरा करना है मुझे।”

“गुरु लवलीदेव हमें भी कोई मंत्र देव।” मजाकिया लहजे में मीता बोली। खाना खाने के बाद भी रात न जाने कितने किस्सों में काली हुई। पर दिन को निकलना ही था मीता को जाना ही था। अंकल जी के बहाने से दो बिछड़ी दोस्त फिर एक हो गई थीं।

“देख भई मीता इस बार जा रही है तो गांठ बांधकर जा कि तू आती रहेगी। सालों के लिए गायब न हो जाना अब।”

“और तू भी तो बांध लेना गांठ जरा...माना तू बड़ी बिजी है पर हमारा भी कोई हक है न तेरे कीमती टाइम पर।”

रात ने एक करवट में न जाने कितनी खुशनुमा सुबहें भर दीं दोनों के बीच। चलते-चलते दोनों फिर गले लगीं। भींगी आंखों में न कोई तकलीफ थी न कोई दूरी।

कायदे से कहानी यहां खत्म हो जानी चाहिए पर चलते-चलते एक घटना और जोड़ लीजिए।

मिलने-जुलने, फोन करने का सिलसिला इस बार जो चला तो चलता ही गया। लवली कभी मीता के घर तो कभी मीता लवली के घर और कभी दोनों कहीं बाहर अक्सर मिलने लगीं। ऐसा नहीं था कि दोनों की जिंदगियों के अपने-अपने दुख और संघर्ष शेष नहीं थे पर उस साथ से मिलने वाला हौसला और खुशी सब पर हावी थी। अपने लिए अपने से ही निकाली गई इस फुर्सत ने उन्हें फिर बड़े सवालियों से

उलझती जिंदगियों से निकालकर कुछ वक्त के लिए ही सही बेपरवाह लड़कियों की तरह बना दिया था। ऐसे ही एक दिन लवली के घर पहुंचने पर नीचे से दिखती उसकी बालकनी में लवली पीठ किए बैठी दिखी। माहौल सितार की धुन से सराबोर था और सितार का ऊपरी हिस्सा उसके कंधे और गर्दन के बीच से झांक रहा था। पूरी तौर पर नहीं पर हरकत करती उसकी उंगलियां न दिखाई देकर भी महसूस हो रही थीं। मीता चकित थी इतनी जल्दी तो नहीं सीख सकती लवली इतना अच्छा सितार बजाना। फिर कब? कैसे? ये केवल सरगम नहीं थी कोई पक्का राग था। यादों से धूल झाड़ते ही सुराग मिल गया उसे, संगीत में एम.ए. किया था मीता ने। उसके ससुर कहते थे न-“एम.ए. नहीं एवेंइ किया है इसने।”

उसने मीता को कभी ये नहीं बताया कि सितार उसका वाद्य रहा है शायद इसीलिए कि डाल दिया गया होगा किसी कबाड़ में उसे निरर्थक मानकर। तोड़ दिए गए होंगे उसके

तार लवली का संगीत छीनने को। फेंक दिया होगा मिज़राब उसे असुविधा के बीच धकेलने के लिए, तोड़ दी गई होगी उन हाथों की हिम्मत और कुचल दिए होंगे मन के सारे अरमान, उसे अशिक्षितों की पांत में खड़ा करने के लिए। वही लवली अपमान और कुंठा के सारे किले ध्वस्त करके हौसलों के पंखों पर सवार, ढूँढ़कर निकाल लाई अपना टूटा हुआ सितार। एक-एक करके जोड़ती गई सारे तार। मिज़राब तो फिर भी कहीं न मिला पर उंगलियों की हिम्मत उसके हुनर के ज़िंदा होने का सबूत था और हवा में गूँज रहा संगीत उसका प्रमाण।

मीता ने सोचा आज कहीं नहीं जाएंगे, बस यहीं रुककर जीवन का सच्चा संगीत सुनेंगे दोनों साथ।

---

ई-112, आस्था कुंज,  
सेक्टर 18, रोहिणी, दिल्ली-89  
मो. 9811585399

सौमित्र

## तलछट

उन दिनों मैं बहुत तेज भागता था। या शायद ऐसा मुझे लगता होगा बस। क्योंकि कुछ लोग तो मुझसे पहले ही अपने अपने ठिकाने पहुँच गए। मैं तब बहुत छोटा था। तीन-चार बरस की उम्र रही होगी मेरी। मेरे बहुत से नन्हें-पतरे साथी थे। मैं सबका नेता। हम सब सुबह-सुबह घर से स्कूल को निकल जाते एक लारी में बैठके। माँ बालों में तेल डालके तैयार कर देती थी। उससे पहले मार के उठाती भी थी। नल के नीचे बिठाने के बाद मुझे निकाल लिया जाता। मैं नल के नीचे उखरू बैठा रोता रहता। फिर मुझे तौलिया से पोछा जाता। उस तौलिया की खरखरी मेरी पीठ पर बहुत चुभती थी। साथ में जब सर पोछा जाता तो दिमाग में धुम्मी आ जाती। नेकर-कमीज पहनकर, मैं खाने का डिब्बा ले के पड़ोस वाले शीशम के पेड़ के नीचे आ जाता, लॉरी का इंतजार करने। लॉरी के आगे ट्रैक्टर लगा रहता और वो पचास सीटों वाली एक छोटी सी बस को खींचता। उस बस में घुसते ही मैं नेता बन जाता था। मेरी शादिर्गी में बहुत से छूटकू पुटकु थे। चुटकी पुटकियाँ थीं। मैंने उन सब महिलाओं और पुरुषों को अपने बचपने में रोते पोतते देखा था जो आज न जाने कहाँ कहाँ हैं। लॉरी में हम लोग खूब चिल्लाते थे। लॉरी उस कसबे का पूरा चक्कर लगा के स्कूल तक पहुँचाती। पहले पहल बहुत से क्वार्टर्स पड़ते। फिर दूसरे स्कूल। फिर बड़ा बाज़ार। फिर रेलवे स्टेशन। फिर फैक्टरी की चहारदीवारी। बीच में बहुत से खेत। रास्ते में खूब बंदर दिखते थे। हम सब जोर से चिल्लाते-बंदर ले रोटी। तेरी माँ मोटी। उन दिनों मैंने एक नया मखौला किसी छोकरे के मुँह से और सुना था।

लाम नाम छत्त है  
पंडित जी का वत्त है  
पंडित जी आलू नहीं ठाँपेंगे।

मुझे पहली बार सुनने में नया और अजीब लगा था। पर क्योंकि मतलब की ज़रा भी समझ नहीं थी सो मैं भी जोर-जोर से चिल्लाता।

लाम नाम छत है।

स्कूल में पहुँचते ही लॉरी में से एक आया हम सबको उतारती। उतरते ही हम सब भागते। क्योंकि मैं उन सबका गुरु था, सो मैं सबसे पहले भागता था। आया हाय-हाय करके हम सबके बर्गों पर मुक्के मारती और खूब गालियाँ देती। हमें उसे छेड़ने में बहुत मजा आता। कभी-कभी हममें से कुछ गिर पड़ते और टुड़डी और घुटनों में से खून बह निकलता। रोते-पड़ते, हँसते-कूदते हम लोग प्रार्थना के लिए खड़े होते। हमारी टीचरें हाथ में एक फुटा रखती। जो प्रार्थना के वक्त बात करता नज़र आता, उसे एक तड़ के पड़ती। स्कूल के पीछे एक बड़ा खेत था। और उसके बाद एक बड़ी नहर। हम सब बच्चों को उस तरफ न जाने की सख्त हिदायत थी। अक्सर दूसरी तरफ बहुत से जानवर घूमते मिलते और साथ ही बहुत बार उधर चीलों को मँडराते भी मैंने देखा था। उस तरफ शायद एक शमशान घाट भी था। हमारे स्कूल का रुख कुछ इस तरह था कि हम बरसों बरस वहाँ पढ़ते रहते पर उसकी उपस्थिति का पता न चल पाता। खेतों और नहर के बीच एक छोटे दायरे का घना जंगल भी था। सब बच्चों को पता था कि वहाँ लॉयन और टायगर रहते हैं सो हम लाग कभी उस तरफ जाने की सोचते भी नहीं थे। नहर के किनारे की सड़क मुख्य हाइवे से एक संकरे रास्ते से जुड़ी थी। उस पर एक छोटा सा मंदिर, एक दो ढाबे और कुछ फूलों की दुकानें थीं। वहाँ अक्सर लोग आते रहते होंगे क्योंकि वहाँ से बहुत से स्कूटर, रिक्षो, बुगियाँ, साइकिलें आती जाती रहतीं। ऐसा मैंने तब देखा था जब किसी त्योहार के दिन पापा-मम्मी मुझे वहाँ नहलाने लाए थे। नहर के घाट की पत्थर की सीढ़ियों पर बैठकर मम्मी ने खूब रगड़-रगड़ के मुझे नहलाया था। पापा ने गुडपी-गुडप तीन चार डुबकियाँ लगवा दी थीं मुझे, उस नहर के ठण्डे-ठण्डे पानी में। उस रोज़ वहाँ छोटा-मोटा मेला ज़रूर रहा होगा। हाथ बल्ली में भूसे के छाते वाले बहुत से खिलौने लगाए घूम रहे थे। बुढ़िया के बालों वाली मीठी गुलाबी और हरी भूस बिक रही थी। मूँगफली और चाट वाले ठेला लगाए खड़े थे। बहुत सी बूढ़ी औरतें और आदमी रिक्षों में बैठे-बैठे आ रहे थे। उनके हाथों में पूजा का बहुत सा सामान था। कुछ पंडित और नाई मिलकर बहुत छोटे-छोटे बच्चों के बालों में उस्तरा फेर के उनके बाल उतार रहे थे।

मुझे वो क्षण याद नहीं रहता पर मम्मी ने जैसे ही तौलिया के खरखरे रोयों से फिर पीठ पोछी, मुझे चुभन से होने वाली रुलाई छूटने ही वाली थी कि वही शब्द मेरे कान में पड़े।

‘राम नाम सत्त है

लाम नाम छत है।’

मैंने दृष्टि चारों ओर फेंकके दूढ़ने की कोशिश की कि कहीं मेरा लॉरी वाला दोस्त तो आसपास नहीं। पर वो कहीं नहीं था। पन्द्रह-बीस लोगों की भीड़ थी। पाँच छः के कंधों पर बाँस की चारपाई की तरह कुछ था। उसपर कोई आदमी शायद कम्बल ओढ़े लेटा था। बहुत से गेंदे के फूल ऊपर बिखरें थे और सामने एक लड़का मट्टी की हाँड़ी लिए आगे-आगे चल रहा था। माँ ने उधर देखके मुझे साड़ी की ओट में खींच लिया। पापा ने शीश पर हथेली रख दी। मुझे लगा कि ऊपर लेटे पंडित का वक्त खत्म होने वाला है और शायद अब वह आलू खा सकेगा।

हरीश जिसे तुतला नितेदर हलीद कहता था, मुझसे बहुत हड़कता था। मैंने उसे छोटा जानकर कई बार लात-घूते धर दिये थे। विशेषकर उसके पेट में, जहाँ घूसा मार मुझे अजीब सी तृप्ति होती। मैं पूरी मुट्ठी बनाके अमिताभ बच्चन की तरह जोर से घुमाके देता। साथ ही मुँह से ध्वनि निकलती ‘भिशुभ।’ हरीश भाग के निकल जाता और फिर कहीं छिप के देर तक रोता रहता। मुझसे पिटकर वो कभी-कभी आया के पास चला जाता। आया उसे मैडम के पास ले जाती। मैडम बड़ी मैडम को बोलती। बड़ी मैडम मुझे खड़े फुटे से पीटती। हरीश का नेकर हमेशा ढीला हरता। और उसकी कमीज हमेशा गुजली रहती। मुँह पे ढेर सी फुंसियाँ। उससे कोई ज़्यादा बात नहीं करता था क्योंकि सब उसे गंदा समझते। वो हर दूसरे-चौथे दिन नेकर में पेशाब कर देता। आया उसे नल के नीचे ले जाके नंगा कर देती। और फिर वो घंटे-दो घंटे सारे स्कूल में नंगा घूमता। हम सब उसे नंगू-धड़ंगू कहके चिढ़ाते। खेलने के वक्त वो सबसे धीमा खिलाड़ी होता। खाने के वक्त कोई उसका खाना नहीं खाता। वो अकेला खाने का डिब्बा खोल के कुछ-कुछ चबाता रहता। नितेन्द्र जिसे सब बन्दर कहते थे, ने बताया था कि वो भंडी का लड़का है। नितेन्द्र, जो भंगी को भंडी कह पाता था, वो सब जानता था इसके बार में। इसके माँ बाप उसके घर के पास के एक क्वार्टर में रहते थे। उसने इसके बाप को तमाम भंडियों के साथ, घेरकर सुअर मारते देखा था। नितेन्द्र अब सुअर को मरता देख नहीं डरता था। जबकि पहले ऐसा

देखके वह चिल्ला चिल्लाकर रोता था। मैंने नितेन्द्र से पूछा था 'ये भंड़ी क्या होता है?' उसने बस इतना बताया कि 'भंड़ी वो होता है जो सबकी टट्टी साफ करता है।' मेरी टट्टी तो बहुत बार मम्मी साफ करती थीं सो तब कुछ दिनों तक मुझे लगा कि शायद मम्मी भी भंड़ी हैं।

हरीश की मम्मी को मेरी मम्मी जानती थी। पर मुझे कई दिनों बाद ही पता चल पाया। एक दिन स्कूल में जब हरीश बहुत रो रहा था, तब आया ने चपरासी को साइकल पर भेज उसकी मम्मी को बुलावा भेजा। वो एक पुरानी पोलिस्टर की साड़ी लपेटे थीं, जिसके पीले रंग पर मैल की गहरी परतें और गुथी हुई स्थाई सिलवटें थीं। उसने गलाबी ब्लाउज़ पहना था, जिसका बाँहों पर ऊपर तक चूड़ियाँ चढ़ी थीं। उसके चमकते हुए पीले दाँत थे और माथे पर बड़ी सी लाल बिन्दी। वो बालों को तेल में पिरो के गूँथी थीं। उसका पेट बड़ा सा, बहुत फूला-फूला जान पड़ता था। तब मुझे समझ नहीं थी पर आज जानता हूँ कि वो उस वक़्त गर्भवती थीं। वो हरीश का हाथ पकड़ कर खीचके ले गई। हम तीन चार लड़के हरीश का जाना देख रहे थे। मैं उस औरत को पहचान गया था। तब तक नितेन्द्र ने एक और सूचना दी- 'जे लामलौताल दमादाल ती दूछती बीवी है।' मतलब कि ये रामौतार जमादार की दूसरी बीवी है। पहली ने बहुत पहले कमरा बन्द करके मिट्टी का तेल छिड़क के आग लगा ली थी जिसमें वो और हरीश की बड़ी बहन जलकर खत्म हो गए थे। ऐसी सूचनाओं से मेरा जी बहुत घबरा जाता था उन दिनों।

हरीश की दूसरी मम्मी हमारे यहाँ काम करने आती थी। मुझे उसकी आँखों में लगा गहरा काजल और मुँह में ठुँसी बीड़ी की आज तक याद है। पापा जब संडास में बैठे होते तब मम्मी अक्सर मुझे आँगन का दरवाज़ा खोलकर घर से बाहर की नाली पर बैठ देतीं। दूर नज़र दौड़ाने पर मुझे अपने जैसे और दस पाँच बच्चे नाली पर बैठे नज़र आ जाते। वहीं बहुतबार मैंने उसकों नाली में अपनी सीकों वाली झाड़ू फिराते देखा था। जब वो हमारे घर की तरफ आती, तो घर की किवाड़ खड़खड़ा के मम्मी को बाहर बुला लेती। मम्मी बाल्टी भर के पानी छपाक से नाली में फेंक देती और वो खरखरी झाड़ू से, धार का फायदा उठा सब गंदगी खींच लेती। मुझे उन दिनों, उस झाड़ू की नाली में घिस घिस के उठती आवाज़ बहुत कौतूहल देती। अक्सर मम्मी उसे रात की बची रोटी और साग दे देतीं, जिसे वह अपनी कमर में लिपटी, पालीथीन की झोलੀ में रख लेती।

जिस दिन मुझे पता चला था कि हरीश की मम्मी जलके मर गई, उसके कई रोज बाद तक मैं सहमा-सहमा रहा था। नितेन्द्र ने ये भी बताया था कि उसकी माँ के जूलूस में कुछ लोग 'लाम-लाम छत्त है' बोल रहे थे। ऐसा वो क्यों बोलते थे ये न मुझे मालूम था, न नितेन्द्र को। पर शायद हरीश को जरूर पता होगा, ऐसा मैं सोचता था। मम्मी को जब पता चला कि शांति, हरीश की नई माँ, का लड़का मेरे स्कूल में पढ़ता है तो वो भी विचलित हो गयी थी। मुझे याद है पापा ने बहुत प्यार से बुलाकर मुझे समझाया था कि शांति के लड़के से मैं दूर रहूँ। सरकारी स्कूलों में बच्चे पढ़ाने का शायद यही एक नुकसान था, कि सब तबकों के लोग अपने बच्चे भेज सकते थे वहाँ, ऐसे में छोटे में ही बच्चों को गंदी बातें सीखने को मिल सकती थीं। स्कूल में भी शायद ऐसे बच्चों को रखने-पढ़ाने का तरीका कुछ अलग था। पाँच टीचरों वाले स्कूल में हमेशा कुछ टीचर, ऐसे बच्चों को छूने से बचती। मुझे याद है जब सब बच्चों की कॉपी जाँच रही होती तो हरीश की कॉपी को बिना छूए एक मैडम ऐसे ही उसे थामें रखने को बोलती। भलमनसी के लिए शायद उसे गुड बोलकर, अपना काम निकाल लेती। आयाओं के लिए ये मजबूरी थी। कुछ आयाएं शायद उसी तबके से आती होंगी। वो अपना अलग झुण्ड बनाकर बैठतीं। उनके साथ बाकी आयाएं खाना नहीं खातीं। जबकि चेहरे से और वेशभूषा से वो बहुत अलग आर्थिक स्थिति वाली न लगतीं। हम सब आयाओं को आन्टी कहते। और उनसे ऐसे बात करते जैसे-आन्टी आन्टी! छूरे छूरे ने छूछू तर दी है बड़ी मैडम ने आप को बुलाया है। वो वाली आया कहती-मुझे नहीं रामकली को बुलाया होगा। ठहर मैं अभी भेज देती हूँ। फिर वो धीमे मुँह कुछ बकती हुई रामकली रामकली चिल्लाने लगती।

काफी दिनों बाद एक दिन मैंने फिर शांति को स्कूल में देखा था। उस दिन हरीश को सुबह से दस्त आ रहे थे। रामकली और फूलकली उसे साफ कर करके सुचाते-सुचाते परेशान थीं। बड़ी मैडम ने उसे नल के पास बिठाने को बोल दिया था। वो नल एक हैण्डपम्प था जिसके नीचे सीमेंट का चबूतरा था। हरीश शर्ट और नीचा स्वेटर पहने था और आया ने उसका नेकर उतारकर पास की घास पर रख दिया था वो उकड़ूँ बैठ के रोए जा रहा था। रेसिस के टाइम में आप-पास पन्द्रह-बीस बच्चों ने हैण्डपम्प के पास घेरा लगा लिया था। सबको हरीश को नंगू देखते रहने की ख्वाइश थी ताकि अगले दिन उसे फिर चिढ़ा सकें। मैं भी उस घेरे में था। हमेशा

की तरह मैं हरीश को देखके आतंकित सा हो गया था। मुझे बहुत विचित्र सी भयीय अनुभूति होती उसे देखकर। शांति जब रिक्षो से उतरी तो उसे देखके सारी तमाशबीन भीड़ तितरबितर हो गयी। नितेन्द्र बोला-चल दूर चलें। भंदन है। वो मुझे हाथ पकड़के ले गया। फिर मैं दूर बेंच पे बैठा-बैठा उन्हें देखता रहा। शांति का पेट बहुत फूला हुआ था। उसकी आँखें बहुत सूजी-सूजी लग रही थीं। उसके कपड़े वैसे ही मटमैले चमकीले रंगों वाले। आया उससे बोल रही थी।

‘ऐं यों सुबो से दस्तम दस्त किए जा रहा है, का खिलाया था याको।’

शांति बिना उत्तर दिये, हरीश का हाथ पकड़ के उसको ले गयी। हफ्ता दस दिन तक हरीश नहीं आया स्कूल उसके बाद।

मैं उन दिनों बहुत तेज भागता था। अपने छोटे-मोटे साथियों का मैं नेता था। उस रोज़ हम लोगों को खूब शरारत चढ़ी थी। हम पाँच छः बच्चे सबकी नज़र बचाके, बाउंडरी के तारों में से लेट के निकलकर भाग आए थे स्कूल से। नितेन्द्र को सबसे पहले ये बात सूझी थी। उसी ने बताया था कि सामने के खेतों में जहाँ खूब गन्ने लगे हैं, वहाँ ईश्वर के पास कुछ मकान हैं, वहाँ कुछ जगहों पर दन्ने का रख निकालके दुड़ बनाता है। हम नेकर बुशर्ट में भाग चले थे दुड़ थाने। खेत में चलते चलते कुछ दूरी पर वो जंगल दिख रहा था जिसके पार नहर थी। सब आतंकित थे कि गुड़ के चक्कर में शेर चीते न मारके खा जाये हमको। दुपहरी भर खेत में भटकने पर जब कुछ नहीं मिला तो हम जंगल में भाग चले। जंगल क्या था, वो अमरूद और जामुन के पेड़ों का बाग था। वहाँ से थोड़ी दूर पर नहर साफ दिखती थी। मुझे देखते ही ध्यान हो आया कि यह वही जगह है, जहाँ पापा-मम्मी नहलाने लाए थे मुझे। मैंने सबको सम्बोधित करके कहा। ‘चलो नहर तक की दौड़ लगाते हैं।’ मेरा बस कहना था सब उस तरफ दौड़ने लगे। इस तरफ मैं कुल मिलाके दूसरी बार आया था। पहली बार की याद करके मैं इधर-उधर उन लोगों को ढूँढ़ने लगा जो वैसे कंधे पर चारपाई में लेटे आदमी लादे चलते थे। बात ही बात में एक आठ-दस लोगों का जूलूस दिखाई दिया। ठीक उस दिन की तरह, पर जूलूस वाले लड़के-आदमी वैसे साफ सुथरे न थे। गंदे के फूल भी बहुत कम दिख रहे थे। चारपाई के कम्बल में से एक तेल चिपड़ी चोटी बाहर खिसक आई थी।

राम नाम सत्य है!

नितेन्द्र देख के चिल्लाया-भादो!! लामऔतार जामादाल है। मैं थोड़ी देर वहाँ खड़ा रहा। रामऔतार अजीब सी शक्ल बनाकर चिल्ला-चिल्ला के आगे बढ़ रहा था। वो बेहोशी में बोल रहा था- ‘खाती न थी, पीती न थी। मर गई। मर गई। खाती न थी। पीती न थी।’

मैं भयाक्रांत वहाँ से भगने लगा। मैं डर गया था। मैं उन शब्दों को सुनके हमेशा डर जाता था। लॉरी ने हमको शाम तक घर छोड़ दिया। एक आया ने हमको खोज निकाला था। फिर फुटे से हमारी खूब मरम्मत हुई थी। शांति के मरने की खबर मम्मी को भी थी। मौहल्ले की सारी औरतों में केवल इसी बात की चर्चा थी। शांति की बातों को याद करके मम्मी कई रातों तक नींद में उठ-उठ कर बैठ जाती थीं। पर बात वहीं खत्म नहीं हुई थी। मुझे हमेशा ये ध्यान आता कि हरीश अब स्कूल क्यों नहीं आता है? एक दिन मैं आया रामकली के पास गया और उससे पूछा।

‘हरीश अब स्कूल क्यों नहीं आता?’

रामकली बात छुपाती सी बोली। ‘तुझे का करना बाबू तू जा के खेल।’

मेरे ना मानने पर बोली- ‘बेटा वो माता को चढ़ गया। उसे खूब बुखार हुआ। फिर डॉक्टर उसे बचा नहीं पाए।’

मुझे ऐसे लगा जैसे वो कहीं दूर जाके रहने लगा है। शाम को मैं मम्मी जी से चिपक गया और फिर खेलने भी नहीं गया उस दिन। उसके बाद मैंने रामऔतार जमादार को एक बार तब देख वो होली के बाद त्यौहारी माँगने आया था। मैं उसे देखते ही दौड़ गया था भीतर। उन दिनों मैं बहुत तेज दौड़ता था। शायद मैं इतना दौड़ा हूँ कि तब से उन सब स्थितियों से दूर निकल आया हूँ। लौट के देखने पर सब गया गुज़रा लगता है।

Flat No. - S-2,  
Lakshmi Enclave,  
E.C.C. Road  
White Fields,  
Bangalore - 66  
Mob. 9740344992

जकीया जुबैरी

## दस्तक....

दरख्तों के पत्तों ने जैसे सांस लेना रोक दिया था....

दरख्तों पर बैठी चिड़ियों का दम घुटा जा रहा था....बादल जो उड़ उड़कर हवा से अठखेलियां कर रहे थे वो भी एक जगह जमकर रह गए थे... दम-बखुद... बादलों का रंग सफ़ेद से सुरमई और सुरमई से गहरा सुरमई होता जा रहा था। उस स्तब्ध-चकित वातावरण में अचानक बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कड़क आँखें और कान बंद कर लेने पर मजबूर कर रही थी। शायद पूरा माहौल क्रोधित था।

क्रोधित तो माएँ थीं पर चुप बैठों अपने औरत होने का रोना घुट घुट कर अंदर ही अंदर रोए जा रही थीं। हिचकियाँ आती थीं पर उन हिचकियों का गला भी घोंट देती थीं...ये आदेश था कि घर की औरतों की रोने और हँसने की आवाज़ बाहर के मर्दों को सुनाई नहीं देनी चाहिए मजहब के खिलाफ़ है।

आज सारा परिवार पंचों का फ़ैसला सुनने एक ही छत के नीचे जमा हो गया था। औरतें गरदन सनें धँसाए ज़मीन को एक टुक घूरते, अन्जाने में चुपके-चुपके पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेदे जा रही थीं...विनती किए जा रही थीं.... हे मेरे मालिक दया कर, रहम कर, करम कर मेरे मौला.... क्या करे वो बेचारा ऊपर वाला भी मजबूर सा लगने लगा है। परवरदिगार तो वो माँ है जो हर ज़िद पूरी कर देता है और ग़लती भी माफ़ कर देता है इस आशा में कि शायद यह अंतिम ग़लती होगी। अंतिम तो उस समय होगी जब कोई यह माने कि इसको ग़लती कहते हैं... !

पंचों को पंचायत लगाना तो आता है पर ये भूल जाते हैं कि फ़ैसला इन्सानियत के दायरे में रहकर करना होता है - जहाँ हवस होती है, लालच का राज होता है, सख्ती और ज़ुल्म बड़ेपन की निशानी होती है वहाँ आज फिर पंचों ने औरतों को जानवर से भी बदतर और मर्दों को उनका मालिक का रुतबा देते हुए फ़ैसला सुना दिया था। ऐसा फ़ैसला सुनाते हुए जैसे उनकी अपनी राल टपक रही थी....काश! इस फ़ैसले का फ़ायदा हम उठा सकते। काश...! हमारे बेटे ने कोर्ट में विवाह किया होता....काश ये हो जाता और काश वो हो जाता... सोचते जाते और हाथ मलते जाते....कि ये अधखिली कलियाँ काश हमारे हिस्से में आ जातीं। चलो कोई बात नहीं एक बार की जूठी भी चलेगी....



आज वो सरपंच बना बैठा उन अधखिली कलियों को हासिल करने की उधेड़बुन में लगा हुआ था जिसको गांव वाले अल्लाह का नुमाइन्दा मानते हैं... जिस पर पूरा भरोसा करके सरपंच की गद्दी पर विराजमान करवा कर अपनी जिन्दगी के फ़ैसले उसके हवाले कर देते हैं... उनकी लम्बी जिन्दगी के लिये अल्लाह से दुआ करते हैं और पूरे मान से अपने भाग्य को उनकी झोली में डाल देते हैं कि सरपंचजी तो हमारे माई बाप हैं हमारे लिए अपनी जान भी दे देंगे....पर हमको दुखी नहीं होने देंगे कभी भी ग़लत फ़ैसला नहीं सुनाएँगे.....

पर आज ये हो क्या गया...! ऐसा हो कैसे सकता है...!

एक कोने में घुसी बैठी दो मासूम प्यारी प्यारी बच्चियाँ भौंचक्की सी समझ नहीं पा रही हैं कि “वानी” किस बला को कहते हैं....बार बार सबके होंठों पर एक ही बात थी...इतनी छोटी बच्चियों पर वानी का क़ानून नहीं लागू किया जा सकता। हम ऐसा नहीं होने देंगी....पंचायत को अपना फ़ैसला बदलना होगा। बच्चियाँ बैठी अपने नाम भी बार बार सुन रही थीं। एक दूसरे को चुपके से देख लेतीं और खामोश बैठी रहतीं। उनको ये अंदाज़ा हो गया था कि बात है कोई गड़बड़ है जो उनको आज घर में रहने को कहा गया है...वरना वो तो तितली बनी तितलियों के पीछे अपने छोटे छोटे मुन्ने मुन्ने पैरों से भागती रहतीं..!

तुम्हारे परिवार के एक मर्द ने गलती की है तो सज़ा भी तुम सबको ही भुगतनी होगी....सरपंचजी ने पेशानी पर बल डालते हुए गुस्से में रिदा के अब्बूजी से कहा। वो मरदूद तो ना जाने कहाँ जाकर मरे हैं कि पुलिस भी हार गई है दूँद दूँद कर। रिदा के अब्बू लम्बे चौड़े बड़ी बड़ी मूँछों समेत सरपंच जी के पैरों पर गिर पड़े....आंसुओं से मूँछें गीली होकर नीचे को झुक गईं...सरपंच को अपना पैर भी गीला होता महसूस हुआ....पर वो पत्थर की दीवार बना खड़ा रहा।

बाप ने रहम की भीख मांगी... दुहाई दी अपनी बच्ची और अपने मरे हुए भाई की बच्ची जो रिदा के साथ ही पली बढ़ी थी। उन पर ऐसा ज़ुल्म न किया जाए। अभी उनकी उम्र ही क्या है... उनका कुसूर क्या है...! कच्ची उमरें हैं, खेलने खाने के दिन हैं उनके.....दस-ग्यारह वर्ष

की लड़कियाँ तो फूलों से लदी ऐसी डाली होती हैं जो कि हवा के एक हल्के से झोंके से लचक के झूम झूम जाती हैं...उनकी खुशबू पूरे माहौल को सुगंधित कर देती है। ये नन्ही मुन्नी सी बच्चियाँ जब घर के बाहर आँख-मिचौली खेल रही होती हैं तो कभी कभी सरपंच जी को आता देख कर उनकी ओर तेज़ी से दौड़ कर पहुँच जातीं उनके पैर छू कर एक दूसरे पर रोब जमातीं कि पहले मैंने पैर छुआ दूसरी कहती मैं छूने वाली थी तूने मुझे धक्का दे दिया। फिर मामला सरपंच जी की कचहरी में जाता.....

“सरपंच बाबा आप बताइए कि पहले कौन पहुँचा था?”

“किसने पहले पैर छूए थे...?” दूसरी भला क्यों पीछे रहती।

दोनों के सिरों पर हाथ फेरते हुए सरपंच जी कहते “मेरे दो पैर हैं तुम दोनों ने साथ ही छुआ था।”

रिदा सोचती सरपंचजी बेईमानी कर रहे हैं रीमा तो मुझसे कितने पीछे थी तो उनको मेरे साथ क्यों दिखाई पड़ रही है...? वो सोचती रीमा तो मेरे जितना तेज़ भाग भी नहीं सकती मैं ग्यारह वर्ष की हूँ और रीमा केवल नौ वर्ष की... वो दोनों थोड़ी दूर तक सरपंच जी के हाथ पकड़े उनके साथ साथ चलतीं और फिर जैसे ही ढलान नज़र आती दोनों हाथ छोड़ कर ढाल पर लेटकर गोल गोल लुढ़कती हुई सरपंच जी से बहुत दूर निकल जातीं।

अगर कभी रास्ते में पत्थर या गढ़ा आ जाता तो चिल्लातीं सरपंच बाबा बचाइए...बचाइए कहती हुई किसी तरह अपने को आप ही बचा लेतीं और खिल खिलाती हुई खड़ी हो जातीं उलझे हुए बालों में घास के तिनके फंसे हुए, मुंह पर मिट्टी के धब्बे लगे हुए....उठतीं और एक दूसरे को दौड़ाती....पकड़ती...हँसती...गुनगुनाती उछलती कूदती हुई अपने घर की ओर भाग जातीं। सरपंच जी का जी भारी हो जाता उनको अपनी नवासी याद आने लगती वो भी आज इतनी ही बड़ी होती जैसे रीमा। कैसे डेंगू बुखार में देखते ही देखते चली गई। सरपंच जी का जी घबराने लगता इन बच्चियों को देखकर। अपनी नीली बहुत याद आती...कलेजा मसोसने लगता। सरपंचजी उन बच्चियों को दूर तक देखते रहते जब तक वे आँखों से ओझल ना हो जातीं।

घर में आज फिर वही मातम जैसा माहौल था। सभी सिर जोड़े बैठे थे। कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा था। औरतें खाना पकाना भूल गई थीं मर्द खाना खाना भूले हुए थे। किसी को भी अपना होश नहीं था। बच्चे बेचारे बड़ों को परेशान देख कर चुप तो थे पर भूख से बेहाल भी थे। बासी तिवासी खाना, सूखी रोटियाँ खा खा कर पेट भर रहे थे।

आज सबको एहसास हो रहा था अगर लड़के लड़की ने अपनी पसंद से चुपके से शादी कर ली है तो इसमें हरज क्या है - आखिर वे बालिग हैं उनको इजाजत है अपनी मरजी से शादी कर लेने की। मज़हब में तो नहीं मना है। जो दुःख खाए जा रहा था वो था खानदान से बाहर शादी कर लेने का। मुसलमान तो दोनों खानदान हैं पर जातें अलग हैं। लड़की वालों को ये ग़म घुन की तरह चाटे जा रहा था कि हमारी लड़की ने नाक कटवा दी है। भला उसकी हिम्मत कैसे हुई अपने से नीची जात वालों के यहाँ शादी कर लेने की। अवश्य लड़के ने भड़काया होगा। वरना हमारी लड़की तो समझदार थी।

कभी वो लोग सोचते उन्होंने बचपन ही में उसकी शादी कुरान-शरीफ़ ही से क्यों ना कर दी... ! अगर सिंधियों के यहाँ का ये रिवाज है तो हम भी तो सिंध के बॉर्डर पर ही रहते हैं। हमारा गाँव आधा पंजाब और आधा सिंध में है। कुरान-शरीफ़ से शादी करके अपनी लड़की अपने ही घर में बूढ़ी हो जाती है....और कोई झंझट भी नहीं होता। वो कुरान-शरीफ़ की सेवा करके जन्नत में जगह बना लेती है और उसके नाम की जायदाद भी घर की घर ही में रह जाती है।

हाय... हाय... ! ये क्या हो गया अब हम इस मुसीबत से बाहर कैसे निकलेंगे....लड़के को कहाँ से पकड़ कर लाएँ....लड़की के घर वाले बार बार लड़के की दो बहनों की डिमांड किए जा रहे थे। पंचायत ने भी फ़ैसला उन्हीं के हक़ में कर दिया था। क्योंकि लड़के से छोटे चार भाई और थे... बहन एक ही थी ग्यारह वर्ष की रिदा.... भोली भाली गुड़िया जैसी...पास ही के स्कूल में पढ़ने जाती। उसको बड़े होकर टीचर बनने का शौक़ है। खुद भी पढ़ना चाहती है और पढ़ कर गाँव के हर बच्चे तक तालीम की रौशनी पहुंचाना चाहती है।

हालांकि रीमा से रिदा केवल दो वर्ष बड़ी है पर

उसको बिलकुल छोटी सी बच्ची की तरह प्यार करती है। उसके सुनहरे बालों में कंधी कर कर के उसको सजाती बनाती रहती है। आज भी उसने रीमा को खूब अच्छे अच्छे कपड़े पहना कर तैयार किया। आप भी रेशमी शलवार-सूट पहन कर तैयार हुई। आज दोनों बहने पास वाले गाँव में छोटे चाचा के घर मिलने जा रही थीं। दोनों माँओं ने भी लंबे लंबे बुरके पहन लिए और निकलने को तैयार ही हुई थीं कि पंचों में से एक पंच भागते हुए चले आ रहे थे एक पत्र हाथ में लिए हुए।

माँएं घर में वापस भेज दी गई बच्चियों के हाथ पकड़े झपाक से दहलीज़ लांघती पीछे के आँगन में पहुँच गईं। पति के हाथ में पत्र देकर सिर पकड़ कर एक झिलंगी सी खटिया पर बैठ गईं। दोनों के बोझ से खटिया कुछ और नीचे को झूल गई। देवरांनी जेठानी दोनों एक दूसरे से सटी हुई बैठी थीं....एक दूसरे का सहारा बनी हुई। बुर्के में लिपटी हुई। ये समाचार तो हर ओर हवाओं के साथ साथ सूखे पत्तों की तरह उड़ता फिर रहा था कि पंचों ने ग़ज़ब का फ़ैसला सुना दिया है। कैसा ज़माना आ गया है भैया... बाप ने अपनी बेटियों के भाग्य का मानपत्र पढ़ा और चकराकर गिरते गिरते बचा। बैठ गया वो भी सामने ही पड़ी हुई चौकी पर। वो सोच रहा था इतनी मिन्नत समाजत करने पर पैर तक पकड़ लेने पर शायद सरपंच जी का दिल पिघल जाए। ये नन्ही मुन्नी कलियां सरपंच जी की गोद में खेती हैं। वो अवश्य ईमानदारी का फ़ैसला सुनाएंगे। पर ऐसा कैसे होता..!! सरपंचजी की तो व्याकुलता बढ़ती जा रही थी कि कितनी जल्दी ये लड़कियां अपने घर से निकलें और ये बूढ़ा कुत्ता नन्ही मुन्नी नाजुक सी बिल्लियों को भँभोड़ दे...

दोनों माँएँ एक अंतिम आशा की किरण के सहारे चलती हुई सरपंच जी की पत्नी के यहाँ पहुँचीं कि उनसे सिफ़ारिश करवाएँ शायद कुछ काम बन जाए। सरपंच की पत्नी तो भरी बैठी थीं कि “अब ऐसा ज़माना आ गया है कि लड़का लड़की को लेकर भाग गया...अपनी मर्जी का ब्याह रचा लिया....इसी दिन के लिए माँ बाप जन्म देते हैं...! उस हरामखोर को इसका दण्ड मिलना चाहिए। जैसे वो किसी की इज़्जत ले गया है वैसे ही उसको अपनी इज़्जत भी देनी पड़ेगी। जब उसकी अपनी बहनें दूसरों के बिस्तर को गरम करेंगी तब होगा एहसास उसे।”

“ऐसा ज़ुल्म न करें आपलोग हमारी छोटी छोटी गुड़ियों पर। उनका कुसूर क्या है? अभी तो उन्होंने अपने जीवन में कुछ देखा ही नहीं वो जीने से पहले ही मार डाली जाएंगी..!! रिदा को पढ़ने का शौक़ है टीचर बनना चाहती है..!! अपने ही गांव में पढ़ाना चाहती है....”

“और सुनो पढ़ा लिखाकर इसको भी आज़ाद खुल्ली छुट्टी दे देना कि भाग जाए किसी के साथ मर्जी का ब्याह रचाकर...!”

“नहीं सरपंच अम्मा हम ऐसा नहीं होने देंगी। हम आपकी मर्जी से उनका ब्याह करेंगे जब वो सयानी हो जाएंगी। अभी तो बहुत छोटी हैं वो दोनों। उनका तो कोई कसूर भी नहीं है। ज़ुर्म तो भाई ने किया है....सज़ा इन बच्चियों को दी जा रही है...ये किस ज़माने का दस्तूर है...! आज तो हम पढ़े लिखे संसार में जी रहे हैं। इतनी छोटी बच्चियों को वानी की सूली पर क्यों चढ़ाया जा रहा है? औरतें कब तक जानवरों की तरह हंकाई जाती रहेंगी। कब तक मर्दों के पैरों की जूतियाँ बनी रहेंगी। कब तक पैदा होने से पहले मार डाली जाएंगी। हमको इंसाफ़ चाहिए। आप हमारी माँ हैं। आप सरपंच जी से हमारे लिए विनती कीजिए। इन बच्चियों को अंधे कुएं में गिरने से बचाइए.....”

दोनों माँएँ सरपंच जी की पहली पत्नी के पैर पकड़े गिड़गिड़ा रही थीं और वह एक बेजान खम्बा बनी खड़ी अपने अहम की पूर्ति होने दे रही थीं। कुछ और तन गई थीं। आखिर सरपंच की पत्नी थीं... कोई मामूली बात तो नहीं है। उनको स्वयं भी तो इस घर में रहना है। अगर सरपंच जी की हाँ में हाँ ना मिलाएंगी तो कल को ये भी चुटिया पकड़कर कोई इल्जाम लगाकर गाँव बदर कर दी जाएंगी। आखिर वो भी तो औरत ही हैं।

“और हाँ, सुनो। इन लड़कियों को स्कूल से दूर ही रखना। पढ़ लिख कर ही हर बात में मीन मीख निकालना आ जाता है। सवाल उठने लगते हैं। जवाब मांगा जाता है। औरतों को मना है मर्दों से सवाल करना। पति तो परमात्मा होता है। परमेश्वर होता है...वो जवाब नहीं देता...उससे जवाब तलब करना भी पाप है...”

दोनों माँओं की हाथों की गिरफ्त ढीली पड़ गई थी। वो पैर जिनपर वो पड़ी हुई थीं रहम और करम मांग रही थीं

वो पैर कब के वहाँ से खिसक चुके थे। वो धरती के विशाल सीने पर पड़ी आँसू बहाए जा रही थीं। धरती माता भी सूखी थीं सारे आँसू ज़ब्त हुए जा रहे थे। धरती भी तो माँ ही होती है...मजबूर....खामोश....रौंदी जाती हुई....जख्म खाती हुई...रिस्ते जख्म...बहते जख्म....सड़ते जख्म...जवाब में केवल खमोशी सहते रहना और जीवित रहना....मरने की भी इजाज़त नहीं...!

तीसरे नंबर की पत्नी खड़ी सब कुछ सुन रही थीं। उन्हें इन कमज़ोर औरतों पर बेहद दया आ रही थी। वो थोड़ा बहुत पढ़ी लिखी भी थीं। क्योंकि वो आप भी सरपंच जी से चालीस वर्ष छोटी थीं तो समझती थीं मर्दों की सोच को। जब उन्होंने घूँघट से झांक कर सरपंच को देखा था तो कितना तड़पी थीं। रुई के गद्दे पर पड़ी लाल गुलाब की पल्लियाँ चुभने लगी थीं...और रुई का गद्दा पत्थर बनकर जख्मी कर रहा था। जी चाह रहा था कि पंख लग जाएँ और चुपके से उड़ जाएँ इससे पहले कि सरपंच उनको हाथ लगाए। पर ऐसा ना हो सका। वही हुआ जो बेबस लड़कियों के साथ होता आया है। पहली दोनों पत्नियों से काफ़ी छोटी होने के नाते सरपंच से नखरे भी उठवा लेती थीं। आज भी सरपंच जब आधी रात को झूमते हुए घर में आए तो छोटी ने लपक कर बाजू से पकड़ कर अपने शरीर के स्पर्श से सरपंच को पागल कर दिया। वो भूखे कुत्ते की भाँति हड्डी के पीछे पीछे चलता चला गया। मँझली बहुत झुलसी...आज उनकी बारी थी।

छोटी ने सरपंच पर जादू चला दिया था आज...! उसको समझाया कि इतनी छोटी बच्चियों को क्यों मौत के कुएं में ढकेल रहे हैं। सरपंच का नशा उतर चुका था... जानवर से थोड़ा बहुत इन्सान बन चुका था। सोचने लगा था। छोटी को खींचकर गोद में लिटाकर उसके शरीर के हर हर कोने पर झाड़ू फेरता रहा...दुलार करता रहा...!

दोनों बेटियाँ परेशान अपनी माओं की राह तक रही थीं। अब्बूजान आँगन में टहले जा रहे थे। कभी कभी कमीज़ के दामन से आँसू खुशक कर लेते। सब से मुंह फेरकर। छुपाकर। मर्द रोया नहीं करते। उनको तो रुलाना होता है। पर आज....ये क्या हो गया कि अब्बूजान भी रो रहे हैं....और वो भी लड़कियों के लिए...! मर्द औरतों के लिए रोया नहीं करते। उनको क़ाबू में रखते हैं...दबाकर।

रिदा की मासूम सोच इतना सोच सकती थी क्योंकि वो स्कूल जाती थी टीचर बनना चाहती थी। ज़ेहन के खाने खुल रहे थे। पढ़ाई इसीलिए मना है कि ज़ेहन खुलने ना पाए।

सारी रात सब जागते रहे थे...दोनों बच्चियाँ जहाँ बैठी थीं वहीं लुढ़क गई थीं.... बचपन की टूटकर आती हुई नौद...आँखें बंद थीं कंवल की मुलायम पल्लियों की मानिंद अधखिली पुरसुकून...होंठों पर हल्की सी मुस्कराहट....बाल बिखरे हुए मुँह पर हल्का सा जाल बुने हुए उसमें से दोनों का गुलाबी रंग झाँकता हुआ उनको कोई खबर नहीं कि अब्बूजान ने उनकी क्रिस्मत का क्या फ़ैसला कर लिया है।

दूसरा दिन आने वाला था। सूर्य देवता धरती की गोद से उभर रहे थे...चारों ओर लाली फैली हुई थी। वो माँ की गोद से निकलकर ऊपर को चढ़ रहे थे। हाँ! माँ की गोद से...धरती उनकी भी माँ होती है। पर थोड़ी ही देर में सूर्यदेवता ऊपर को चढ़ते गए और माँ यहाँ भी पीछे रह गई। जिसको जन्म दिया उसी के नीचे रह गई।...दब गई। देखते ही देखते सूरज ने सारे जहाँ का कार्यक्रम अपने हाथों में ले लिया। कब दोपहर को शाम में परिवर्तित करना है और कब खुद छुपकर शाम को गहरी करते हुए रात में तब्दील कर देना है ये सारे कानून सूरज ही बनाता है। वो भी सरपंच होता है अपने जहाँ का। शायद इन सरपंचजी की भाँति ज़ालिम नहीं...

रिदा और रीमा को स्कूल जाने की जल्दी पड़ी होती थी उनको पढ़ना और खेलना दोनों बहुत प्रिय थे। मगर आज बाप ने हुकुम दे दिया था कि बच्चियाँ घर से बाहर नहीं जाएंगी। मैं देखता हूँ मुझसे कौन मेरी बेटियों को छीन कर ले जा सकता है। जो भी आएगा उसको और बच्चियों को गोली से उड़ा कर अपने को भी मार लूँगा। दोनों माँ काँप गई। बच्चियों को अपनी गोदों में भींच लिया। छुपा लिया अपने झीरे दुपट्टे के आँचल में।

बाहर खटका हुआ। सब चौकने हो गए। बाप भागा अपने कमरे की ओर जहाँ बंदूक रखी थी। माँ और दोनों बच्चियाँ भी उसी ओर को दौड़ पड़ीं।

बच्चियों का भाई भागा हुआ आया कि सरपंच जी का आदमी आया है...अब्बूजान आपको सरपंच जी ने बुलाया है।

पंचायत फिर से बैठ गई थी। बाप अपनी रात भर कि जागी आँखों बिखरे बालों मलगुजे कपड़ों में बंदूक लिए पागलों की तरह भागता हुआ पहुँचा। सरपंच जी के कुछ कहने से पहले हाँफती हुई आवाज़ में ज़ोर से चिल्लाया....“सरपंच जी सुन लीजिए मैं अपनी बेटियों को बलि नहीं चढ़ाने दूँगा। मैं अपने साथ बेटियों को भी मार डालूँगा पर अपने से जुदा नहीं होने दूँगा।”

सरपंच जी ने उस से बैठ जाने को कहा।

आप लोग पापी हैं। आपके नज़दीक प्यार एक शरीर होता है। नारी केवल एक खिलौना होती है। वो जन्म लेती है पुरुषों की सेवा करने...उनके बिस्तर गरम करने....उनकी अय्याशी का साधन बनने... उनके जूते खाने... उनके दिये बच्चे पालने और फिर अगर लड़की है तो जैसे चाहे वैसे ही उसकी बलि दे देने। मैं आप लोगों के संग नहीं बैटूँगा। आप बताइये क्या कहना है आपको... ?

सरपंचजी उठे और उसकी तरफ बढ़े...उसने बंदूक तान ली...

सरपंचजी ने आज जैसे फ़ैसला कर लिया था कि एक ही बार बोलेंगे। उन्होंने हाथ रखकर बंदूक की नाली को नीचे करते हुए कहा....“तुम्हारी बेटियाँ हमारी भी बेटियाँ हैं।” सरपंच के मुँह से उसकी तीसरी पत्नी बोल रही थी, “सरपंच के नाते उनकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इस बरसों पुरानी रीत के बारे में फिर से विचार किया जाएगा। हमें भी वक्रत की करवट से साथ बदलना होगा।”

बाप हैरान... बन्दूक नीची हो गई... सूरज की गुनगुनी धूप अचानक गीत गाने लगी... हल्की हल्की हवा सन्नाटे में छेद करने का प्रयास कर रही थी...कोई शब्द नहीं... कोई आवाज़ नहीं... बस बदलाव की दस्तक सुनाई दे रही थी।

zakiaz@aol.com

Mob +447438236109

अर्चना वर्मा

## व्योम में वास है विचारों का : एक शाम का वृत्तान्त बेतरतीब

28 अगस्त, 1915

हत्तरे की। फिर वही हरकत। हाथों ने फिर अपने आप 2015 की जगह पर 1915 लिख दिया है। पिछले पन्द्रह साल से यही कर रहे हैं। बार बार टोके, सुधारे जाने के बावजूद! जैसे मैं अचेतन में अभी उसी शताब्दी में बसती हूँ, उन्नीसवीं में। यह भी याद नहीं आता कि जिस शताब्दी में बसती हूँ उसका सन पन्द्रह मेरे पैदा होने के पहले ही बीत चुका था। लेकिन गलती करने के लिये याद थोड़े ही रखना होता है। इतनी बार हो चुका; फिर भी बार बार दोहराया जाता है। उसके बाद या तो खुद ही नज़र जाती है या फिर कोई टोक कर सुधारता है।

तो करेक्शन प्लीज़, 28 अगस्त, 2015। राजेन्द्र-यादव-कथा-सम्मान-समारोह। शाम का कार्यक्रम तो तय था। बाकी सुबह से लेकर शाम तक के लिये सबकुछ अनिश्चित।

कम्प्यूटर खोलते ही कौंध कर लुप्त हो जाने वाले पहले काले पन्ने पर सफ़ेद अक्षरों में लिखी एक पंक्ति कौंधी और लुप्त हो जाने के बावजूद हमेशा की तरह अटकी रह गयी ज़रा देर - मेमोरी रन्स ऐट सिग्नल चैनल। इकलौती धारा में चलती है स्मृति।

क्या सचमुच ?

मुझे कोई पोस्ट नहीं लिखनी थी आज। लेकिन फ़ेस-बुक पर गयी। राजेन्द्र यादव के जाने के बाद उनके इस दूसरे जन्मदिन पर मुझे आस-पास सिर्फ़ यह महसूस करना था कि अनुपस्थिति के अहसास को धीरे-धीरे कैसे अपने भीतर सोखकर ज़िन्दगी एक सहज उपस्थिति में बदल लेती है, इतनी सहज कि अपनी तरफ़ अलग से ध्यान भी नहीं खींचती! वह जो गया था, वह अस्ल में कहीं गया नहीं था, बस उसकी उपस्थिति दिखाई देनी बन्द हो गयी थी, वैसे ही उसकी अनुपस्थिति भी दिखाई देनी बन्द हो जायेगी और अदृश्य ही वह उपस्थित हो जायेगा फिर से।

नहीं मुझे कोई पोस्ट नहीं लिखनी थी आज।

फ़ेसबुक भरापूरा था इबारतों से। कहीं स्मरण-नमन, कहीं निकटता की अभिव्यक्ति, कहीं उन पर अपने अधिकार का दावा जताने के लिये उनके परिवार को किसी का धिक्कार भी, कहीं उनका न रहना किसी के लिये सौभाग्य की निशानी...जो गया था, चला ही गया था अन्तिम रूप से; उससे प्यार किया जा सकता था, या घृणा, लेकिन उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता था किसी हाल में।

खिसकाती रही स्क्रीन को ऊपर से नीचे, देखती रही एक के बाद एक इबारतें, कभी कभी सोचती रही कहीं कुछ दर्ज करूँ, लेकिन टाल जाती रही। अगर कल तक भी ऐसी ही ज़रूरत महसूस होती रही तो कल ही दर्ज करूँगी।

सब सच ही रहे होंगे अपनी अपनी भावनाओं में; उत्कट भी रही ही होंगी भावनाएँ; आज के दिन भी फ़ेसबुक पर ऐसा कुछ दर्ज कर देने के लिये, “जिस परिवार की ओर अपने लिये एक छोटी सी क्षमा-दृष्टि के लिये याचक की तरह देखते रहे वही परिवार आप की मृत्यु के बाद आपकी तस्वीर लगाकर गर्व के साथ जन्मदिन मना रहा है।” क्या व्यक्त कर रही होगी यह टिप्पणी?

मनू दी याद आई, टिंकू भी। और वही, याद में, अटकी रहीं देर तक। अटके रहे इस टिप्पणी के शब्द भी। कैसा महसूस हुआ होगा उन्हें? राजेन्द्र यादव की तकलीफ़ से हमदर्दी इज़ीक्वैल्टू परिवार के लिये ऐसी क्रूर, निर्दय हिंसा! क्यों? फ़ेसबुक पर क्यों? किसे जताने के लिये? संसार को? परिवार को? अपने आपको? राजेन्द्र यादव के लिये वफ़ादारी का सबूत? परिवार के मुकाबले खुद को अपने अधिकार की सनद? आखिर क्या?

पिछले पचास सालों का इस दम्पति का साथ और संगत याद में घूमता रहा। दोनों लेखक, दोनों दोस्त, दोनों एक दूसरे की कमजोरियों और ताकतों के साथ एक दूसरे को भीतर तक जानते हुए, समझते हुए, लेकिन इतनी सारी समानताओं के बावजूद दोनों बिल्कुल अलग-अलग दो संसारों के वासी, एक दूसरे की ज़रूरतों को जानने के बावजूद अपने आप को तोड़कर एक दूसरे के साँचे में ढलने में असमर्थ, या कहूँ न ढलने की ज़िद पर आमादा। टूटने और बिखरने की ऐसी स्थितियों में फिर से बिखरे हुए टुकड़े चुने जाते हैं। राजेन्द्र यादव की तकलीफ़ को बहुत निकट से जानने का

दावा करनेवाले के लिये क्या इतना असम्भव है यह समझना कि उस स्थिति में शामिल हर व्यक्ति किसी यातना से गुज़रा होगा? सबसे ज्यादा तो वही जो सबसे ज्यादा निरीह और निरपराध रहा होगा! क्विकफ़िक्स कैन फ़िक्स एवरीथिंग एक्सेप्ट ब्रोकेन हार्ट्स, कहा जाता था विज्ञापनों की इबारत में। तब फ़ेवीकोल नहीं आया था। काँच की, चीनी मिट्टी की और ऐसी ही पता नहीं किस-किस सामान की नाजुक चीज़ों के नाजुक टुकड़े दिखाये गये होते थे उनकी तस्वीरों में। टूटे हुए, फिर जोड़े हुए। दिल कोई काँच या चीनी मिट्टी का थोड़े ही है जो क्विकफ़िक्स उसको जोड़ेगा। चीनी मिट्टी और काँच जैसे बेहूदा बिम्ब क्यों चुने गये दिल के लिये?

लेकिन इतनी दूर तक, इतनी देर तक सोचती क्यों रही मैं? बिना सोचे लिख दी गयीं फ़ेसबुक की टिप्पणियाँ इतनी देर तक अटकने-अटकाने के लिये थोड़े ही होती हैं। लेकिन उबरने के पहले ही सुनाई दे गयी यह अगली किसी की रिकॉर्ड की गयी आवाज़, “अपने दुर्भाग्य और हम सबके सौभाग्य से राजेन्द्र यादव के दिवंगत हो जाने के बाद...” राजेन्द्र यादव ने खुद सुनी होती यह बात तो निस्संदेह अपना पुरजोर मशहूर ठहाका लगाया होता। हम न मरहिं मरिहैं संसारा उन्होंने लिखा था। लेकिन मैं स्तब्ध रह गयी। मुझको हँसी नहीं आई। रोना भी नहीं आया। थिर होने के बाद कौतूहल उठा, क्या व्यक्त कर रही होगी यह टिप्पणी? क्रोध? ईर्ष्या? क्या...?

लेकिन न यह इबारत, न यह आवाज़ - इस पर भी कुछ दर्ज नहीं करूँगी। आज नहीं। कल तक भी ऐसा ही लगता रहा, तो कल शायद। इसके पहले कि यादों का यह समवेत हाहाकार महज एक रस्म अदायगी में बदल जाय, इसके पहले कि रस्म अदायगी- सा यह उद्देलन हास्यास्पद में विघटित हो जाय, इसके पहले ही यह अध्याय बन्द होना चाहिये; इस खयाल से निकला था यह फ़ैसला। समवेत उद्देलन में यह समस्या होती है। उसमें अगर आप खुद शामिल न हों तो दूसरे लोग एक दृश्य की तरह दिखाई देते हैं और इस किस्म का हाहाकार हास्यास्पद लगने लगता है। सुबह उठी थी, सामने देखा था कैलेण्डर में, 28 अगस्त है, याद किया था, शाम को राजेन्द्र-कथा-सम्मान कार्यक्रम है, सोचा था आज कोई पोस्ट नहीं लिखनी। तब बहुत हलका महसूस किया था लेकिन अब फ़ेसबुक में दूसरों की पोस्ट पढ़ते पढ़ते ही शाम को जब कार्यक्रम में पहुँची, सिर बेतरह भारी हो चुका था।

जमावड़ा था, जमावड़े में परिचित लोग थे। कार्यक्रम का समय हो चला था। फ़ेसबुक दिवस की कोई चर्चा नहीं थी, असहजता सी थी हवा में ज़रूर! संजय सहाय ने मुस्कुरा कर हाथ जोड़े थे। स्वागत में। और मिलवाया था, “ये ... मेरी बेटी।” मैंने इशारे की दिशा में देखा। छोटी सी, दुबली पतली, सांवली, सलोनी। कहा, “हम शायद पहले भी मिल चुके हैं न?”

उसके चेहरे पर एक असमंजस का भाव आया। “मेरे खयाल से तो नहीं।”

“वहाँ, एक बार गया मैं...” मैंने याद दिलाने की कोशिश की। इस बार उसके असमंजस में संजय भी शामिल थे, “गया मैं? नहीं तो... वहाँ कहाँ, आप किसी और के साथ कन्फ़्यूज कर रही हैं।”

“गया तो मैं कभी गयी ही नहीं...” उसने कहा।

अचानक अपने आप समझ में आ गया। मैंने जो “मेरी बेटी” सुना; असल में संजय सहाय ने करगेती कहा था। उस वाक्य में जो डॉट डॉट डॉट है उस जगह पर प्रकृति भर लीजिये। आसपास की परिचित समवेत भिनभिनाहट में सुनाई नहीं दिया था।

प्रकृति करगेती। उस शाम की; नहीं, इस साल की विजेता।

कार्यक्रम की शुरुआती औपचारिकताएँ हो चुकी थीं। प्रकृति करगेती अपनी कहानी की रचना प्रक्रिया पर बोलने के लिये डाइस पर आ रही थी। मेरे भारी सिर के भीतर जमे हुए थक्के में सुगबुग जैसा कुछ सरक सा रहा था। मेमोरी रन्स ऐट सिंगल चैनल। दिमाग में कम्प्यूटर के काले स्क्रीन के सफ़ेद अक्षर कौंधकर बुझ गये थे। स्मृति चलने के लिये अपनी इकलौती धारा ऐसे ही खोजती होगी क्या? सुगबुग के साथ? लेकिन वह तो कम्प्यूटर की स्मृति है, मेरा दिमाग कम्प्यूटर थोड़े ही है, यहाँ तो एक साथ अनेक होती हैं प्रस्थान की दिशाएँ... और चकराते हुए सिर में कुछ सरकता हुआ सा महसूस होता है। प्रकृति करगेती बता रही थी पढ़ाई के लिये अपने छोटे शहर से दिल्ली आना, साउथ एक्स मार्केट की शो विन्डोज़ की चकाचौंध में खड़े मुस्कुराते सजीले बुत, उसकी विजयिनी कहानी ऐसे ही बुत के बारे में है, हंस के जनवरी अंक में छपी है, अंक मेरे देखने से रह गया है। सभी कुछ देखने से रह जाया करता है आजकल। पढ़ने में फिसड़डी

रही जा रही हूँ, लग कर देखना शुरू करूँगी। युवा लेखन के बारे में यँही उड़ते, फिसलते से आभास, थोड़ा ठोस तरीके से पकड़ने देखने की ज़रूरत है। ज़रा देर पहले कार्यक्रम शुरू करते समय संजय सहाय ने साल भर की कहानियों में से पुरस्कार के लिये चुनाव की प्रक्रिया बताते हुए उसी अंक में छपी असगर वजाहत की कहानी का जिक्र भी किया था। वह भी शो-विण्डो और बुत के बारे में थी। दोनों एक दूसरे से उलट। पता नहीं उलट का मतलब क्या है, कहानी पढ़े बिना कैसे कहा जा सकता है?

मेमोरी चलती है सिंगल चैनल में। साहचर्य का नतीजा शायद! कमलानगर में दोनों हाथों में शॉपिंग बैग उठाये, बोझ का अहसास कम करने के लिये तेज़ी से चाल बढ़ाते हुए गलियारे से गुजर रही थी। अचानक महसूस हुआ कि कोई पीछे छूट गया। वैसे यह कोई खास बात नहीं थी। कमलानगर के गलियारों में छात्र छात्राएँ बहुत मिला करते थे। देखकर ठहर जाते थे। गुडाफ़्टरनून या गुडीवर्निंग कहने के लिये, हाथ से शॉपिंग बैग ले लेने, सवारी ढूँढ देने, सवारी तक पहुँचा देने के लिये।

तेज़ी की झोंक में लगा, किसी के बहुत पास से गुजरी फिर भी अनदेखा छूट गया कोई, शायद कोई खड़ा था इन्तज़ार में, शायद उसे कुछ कहना रहा हो। ठिठक गयी। वापस मुड़ी। गलियारे की रेलपेल में कोई परिचित नहीं दिखा। हाथों के बैग भीड़ में टकराते फँसते दिक्कत में डाल रहे थे। जगह बनाते, खिसकते दीवार वाली साइड पर निकली तो देखा सामने। शोविण्डो में बुत। उसके कपड़ों के शोख रंगों की जो झाँई सी पड़ी थी उससे पहचाना, यही था। था नहीं, थी, जिसके लिये लौटी थी। सुन्दर अजन्ता सा मुखड़ा। कटा छँटा, छरहरा जिस्म। जब साँचे में ही ढाल कर निकालना है तो चाहे जितना सुडौल बना लो।

बहुत पहले की बात है। प्रकृति करगेती शायद तब पैदा भी न हुई हो। या पैदा तो हो गयी हो लेकिन बहुत छोटी सी रही हो। नन्ही मुन्नी बच्ची। दिल्ली की शोविण्डो में पहला बुत। करेक्शन, कमलानगर की शोविण्डो में मेरा देखा हुआ पहला बुत जो बुत जैसा लगा ही नहीं पहले-पहल। खिड़कियाँ तब इतनी ऊँची, ऐसी चकाचौंध नहीं थीं जैसी प्रकृति ने देखीं। आदमकद से कई गुना ऊपर, सिर उठाकर देखने को मज़बूर करने वाली। तब ग्राउण्ड लेवल पर गलियारों से गुजरते बुतों के साथ खड़े होने का, उनके जीवित होने का भ्रम हो सकता था। पैकेजिंग की महिमा की

शुरुआत बस हुई सी ही थी, अब की तरह शिखर पर नहीं पहुँची थी। उनकी पोशाकें भी अक्सर साड़ी या सलवार कमीज या स्कर्ट, बुत तब हमारी तरह के बनाये जाते थे ज्यादातर, हम बुतों को देख कर उनके जैसा बनने की या फिर इसकी तमन्ना पालने की नौबत को नहीं पहुँचे थे तबतक भी। तो कमर के ऊपर देह के आकार को रेखांकित करता, बाएँ कन्धे तक उठता चला जाता चौड़ा कण्ट्रास्ट बॉर्डर, घुटनों से कमर तक के शरीर को मछली के से आकार में समेटता कुहनी के सलीकेदार मोड़ में सँभाल कर इकट्ठा किया गया, कुहनी से बायें कन्धे तक फैल कर झरने की तरह नीचे गिरता साड़ी का पल्ला, मुस्कुराती आंखें, गर्दन तक खिसका हुआ ढीला सा जूड़ा – नामुमकिन था सोचना कि वह ज़िन्दा औरत नहीं है। उतना ही आसान था यह महसूस करना भी है तो मूर्ति ही लेकिन ज़िन्दा हो उठी है।

उस बुत ने बरबस माधवी मधुरांजलि की याद दिलायी थी। हालाँकि देखने में दोनों में कोई समानता नहीं थी।

इस किस्म के ‘पहले-पहल’ की तारीख-महीना-साल भी तो दर्ज नहीं करता कोई। फिलहाल दिमाग में ऐसी हर बात का समय सन्दर्भ 1990 हो गया है। लेकिन हो सकता है, उसके थोड़ा और पहले या ज़रा और बाद! 1980 या शायद 85 के आसपास की बात रही हो। शायद 1990 या 95 हो गया हो। माधवी मधुरांजलि आज भी याद आ जाती है कभी-कभी। उस बुत की तरह वह भी पहली थी। पहली का मतलब हिन्दी ऑनर्स में पहली वरना साइन्स और इंगलिश, इकॉमिक्स वगैरह अन्य विभागों में पिछले कई सालों से यह सिलसिला चल रहा था।

दूसरे भी कुछ प्रदेश थे जहाँ से दिल्ली आने वाले छात्रों की गिनती बढ़ रही थी, नॉर्थ ईस्ट, उड़ीसा, फिर उत्तर प्रदेश भी जहाँ बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ जैसे अपने खुद के पुराने विश्वविद्यालय मौजूद थे और आस-पास के कई इलाकों के लिये उच्च शिक्षा के सम्मानित प्रतिष्ठित केन्द्र थे लेकिन बिहार से तो ऐसा लगता था मानो दिल्ली की दिशा में बाकायदा भगदड़ चालू हो चुकी थी। दूसरे प्रदेशों और दूसरे विभागों के बारे में तो सोचा जा सकता था कि वहाँ उन विषयों में उच्चतर शिक्षा की पर्याप्त उचित और ‘अप-टू-डेट’ व्यवस्था शायद न होगी, कई ऐसी भी जगहें थीं जहाँ लगातार कई सालों तक बार बार की अदूरदर्शी हड़तालें के नतीजे अन्ततः स्थगित सत्रों के रूप में सामने आ रहे थे, तीन साल की पढ़ाई छः सात साल में भी पूरी होने की नौबत नहीं

रही थी जबकि दिल्ली अभी तक बची हुई थी। लेकिन बेशक ताज्जुब की बात थी बिहार जैसे हिन्दीभाषी प्रदेश से हिन्दी में ऑनर्स की पढ़ाई के लिये दिल्ली भेजा जाना, वह भी लड़कियों का, और होस्टल में जगह न मिलने के हालात में लड़कियों का किराये पर कमरे लेकर दो चार के झुण्ड में या अकेले रहना ऊपर से! यह किसी छोटी मोटी क्रान्ति की सूचना से कम न था। हिन्दी के छात्र छात्राएँ अमूमन जिस तबके से आते हैं उसे देखते हुए तो और भी ज्यादा। हम अपने वक्तों की याद करते। इस तरह कहीं किसी बेगाने अनजान शहर में लड़कियों का किराये पर कमरा लेकर पढ़ाई पूरी करने के लिये छोड़ दिये जाने का खयाल भी तब दिमाग में भूले से भी लाया नहीं जा सकता था, भले ही अनपढ़ या कमपढ़ रह जाया जाता। विस्मित भाव से हम अनुमान लगाते इन लड़कियों के माँ-बाप के बारे में। हिम्मत की हद है या हिमाकत की। कौन नहीं जानता अनदेखे अनजान शहरों में यूँ अकेली छोड़ दी गयी लड़कियों के साथ क्या क्या नहीं हो सकता, आज हास्यास्पद लगता है लेकिन तब हम एक गर्ल्स कॉलेज के हिन्दी विभाग की अध्यापिकाएँ आपस में यही कहते सुनते पाये जाते। ‘क्या क्या नहीं’ की हद छलात्कार या बलात्कार और शुचिता-भंग के इर्द-गिर्द घूम कर रह जाती। कितनी तरह की असुरक्षाएँ और मजबूरियाँ झेल रही होंगी लड़कियाँ। अखण्ड-कौमार्य और एकनिष्ठ समर्पण की घुट्टी पर पाली गयी वह पीढ़ी इसके आगे अपनी इच्छा और पहल की बात तो शायद सोचने की भी हिम्मत नहीं कर सकती थी, यह भी नहीं कि असुरक्षा और मजबूरी एक हद से गुजर जाने के बाद निडरता और लापरवाही में बदल जाती है, बदल जानी ही चाहिये। ज़िन्दगी से बड़ा कुछ और नहीं है।

बाद में तो दल के दल आ उतरने लगे और आदत सी हो गयी अपनी कक्षा में उनकी मौजूदगी की, फिर उनकी बहुसंख्यकता की। लेकिन उस साल – 20वीं सदी के शायद 80 या 85 या 90 या हो सकता कि 92-94 तक के भी किसी साल में हिन्दी आनर्स के पहले साल की पहली क्लास में हाजिरी लेते हुए इस नाम पर मैं अटकी थी, माधवी मधुरांजलि। वह “प्रेजेण्ट प्लीज़” कहने के बाद खुद ही मानो सफ़ाई देती हुई सी बोली, “हमारी तरफ़ ऐसे ही नाम रखते हैं।”

हालाँकि मैंने उससे कहा कुछ नहीं था लेकिन इसके पहले ही शायद इतनी बार कुछ न कुछ कहा सुना जा चुका था कि वह यहाँ, दिल्ली शहर में अपने नाम को लेकर कुछ असहज, आत्म-सजग सी हो उठी थी। “ऐसे ही नाम का



मतलब कैसे नाम “ के जवाब उसने बताया था कि “हमारी तरफ कुछ जातों में जातनाम नहीं लिखते। जातनाम पता चलने से उत्पीड़न होता है। तो नाम के साथ उपनाम जैसा कुछ जोड़ देते हैं कि अधूरा सा न लगे।” मधुरांजलि उसके नाम का वही वाला हिस्सा था।

मैंने पूछा नहीं ‘कुछ जातों’ का मतलब कौन सी जातों में, उसने बताया नहीं; हालाँकि दिमाग में यह आया ज़रूर था, ऐसा जग-जाहिराना किस्म का ‘काव्यात्मक’ नाम जो रख सकते हैं कि चिढ़ाने और छेड़ने के काम लाया जा सके, वे किसी छिपाने लायक जातनाम वाले तो नहीं होंगे। यानी कि छिपाने ‘लायक’ जातनाम मेरे दिमाग में किन्हीं खास समुदायों के लिये दर्ज थे। सोचते ही अपना यह पूर्वग्रह अपने आप ही तस्लीम भी किया गया और शायद इसी सकपकाहट के संकोच में वह सवाल मैं टाल गयी। “हमारी तरफ” का मतलब ज़रूर पूछा जिसके उत्तर में उसने बिहार के एक छोटे से शहर का नाम लिया था।

उस शहर के नाम की जगह एक छोटा शहर कहने का मतलब यह न निकाल बैठें कृपया, कि असल में शहर कोई है नहीं, या कहानी मनगढ़न्त है। वह शहर सचमुच है और कहानी भी सचमुच घटित हुई, शत-प्रतिशत; लेकिन उसका पता-ठिकाना गुम रखने के मकसद से यहाँ बताया नहीं जा रहा है। कहीं पड़ताल की मंशा से या बेमकसद ही महज जिज्ञासा या शुद्ध संयोगवश आप वाकई वहाँ जा धमकें और 1990 या 92 या 94 या शायद 95 के दौरान की मेरी माधवी मधुरांजलि का जो हवाला जानबूझ कर गुमनाम रखा जा रहा है, उसे वहाँ जगजाहिर कर आयेँ! क्योंकि आजकल के अपने हिन्दुस्तान के हालात कुछ ऐसे ही हैं कि एक सिरे पर वह सबकुछ रोजमर्रा की दर से घट ही रहा है जो घटा लेकिन दूसरे सिरे पर नाम भी नहीं लिया जा सकता कि यह घटा; भले ही उस सिरे से चल कर इस सिरे तक आ पहुँचा आदमी; क्षमा करें, औरत; एक ही हो।

इसी दौरान भारत को एक ही वर्ष में दो दो विश्व सुन्दरियाँ दे दी गयी थीं। तेजी से गली गली में ब्यूटी क्लिनिक खुल रहे थे। विश्वविद्यालय से सटी बंगलो रोड से किताबों की कतार की कतार दूकानों रातों-रात गायब होकर कपड़ों की दूकानों में बदल रही थीं और कपड़ों की दूकानों का फ्रैशन-हाउस कहने का चलन शुरू हो रहा था। आस-पास के बाज़ारों में दूकानें अपनी साज सज्जा बदल रही थीं। उनकी खिड़कियाँ शो-विण्डो बन रही थीं – लालसा के झरोखे

जिनमें से झाँक कर कोई दूसरा संसार मुस्कुराता था। एक तरफ कैम्पस की कमलानगर क्राउड थी और दूसरी तरफ कनॉट-प्लेस-क्राउड जिसे अनुप्रास का लोभ छोड़ दिया जाय तो साउथ-डेल्ली कहना चाहिये क्योंकि कनॉट-प्लेस तो अब तक बहुत बेचारा और नाकाफ़ी सा हो चुका था और दिल्ली दक्षिण की ओर बढ़ चली थी। दोपहर से लेकर शाम तक कैम्पस फैल कर कमलानगर के गलियारों में बहने लगता था जिसमें दोनों ही किस्मों की क्राउड मौजूद हुआ करती थी, और ऐसे ही एक गलियारे में एक दिन एक बुत से पहली बार मेरी मुलाकात हुई थी।

चलन नम्बर दो भी शुरू होकर बाढ़ पर था, वेश-केश-क्रॉकरी-खान-पान और बाकी भी बहुत कुछ को ‘स्टेटमेण्ट’ यानी वक्तव्य कहने का चलन; और विश्वविद्यालय परिसर पर वक्तव्य-विशारदों की भीड़ ने ‘अत्त’ मचा रखी थी। वक्तव्यों की विषय सामग्री ‘एटीट्यूड’ था यानी ‘हू केयर्स’, ‘गो टु हेल’, ‘डैम इट’, ‘ओह शिट’, ‘फ्रक यू’ जैसे तकिया-कलाम जो अपने हिन्दी अनुवाद में न तो शालीन रहेंगे और न श्रवण-सुखद ही साबित होंगे। फिर यह आश्चर्य भी तो थी कि इतनी अंग्रेजी तो हर कोई सीख और बोल सकता था और परिसर पर अंग्रेजी का बोलबाला था। इतना फ़र्क ज़रूर आया था कि अंग्रेजीवाले गाली देने के लिये हिन्दी का इस्तेमाल करने लगे थे जिनमें अंग विशेष के फटने या फाड़ देने का ज़िक्र बहुतायत से हुआ करता था। मातृभाषा तो ठहरी आखिर मातृभाषा, असल वजन तो उसी में महसूस होता है न!

यूँ कह लें कि बाढ़ थी, तेजी से ‘प्रलय’ की तरफ दौड़ रही थी, इसलिये भी प्रलय सरीखी जान पड़ रही थी कि बहुत तेज थी और आदत पड़ने का मौका नहीं दे रही थी।

इस पाँव-उखाड़ बहाव में पिछली पीढ़ी – यानी कि वे अध्यापक जन जिनका सीधा साबका कई कई दशकों तक नयी पीढ़ी के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी पड़ता ही रहता है – हक्का-बक्का थी। हर अगला साल पिछले से कुछ ज्यादा अजीब था और हर अगला बैच और भी ज्यादा अजीबोगरीब!

माधवी मधुरांजलि सामान्यतः सुन्दर ही थी, एक अच्छी, अनगढ़, ग्राम्य किस्म की सुन्दरता जिस पर छोटे शहर की छाप अभी बाकी थी लेकिन हिन्दी विभाग में, दिल्ली के भी, विशिष्ट ही कही जायेगी। जहाँ दाखिला लेने वालों का सामान्य-स्तर हमारे जैसे ए ग्रेड कॉलेज में भी

आजकल के नतीजों में अंक-प्रतिशत की अधाधुन्ध बौछार के बावजूद 58-60 प्रतिशत के परे नहीं जाता और जो 'हमारे' जमाने के स्केल पर 'जस्ट-पास' प्रतिशत से हर्गिज ऊपर नहीं कहा जा सकता, वहाँ उसके 80 प्रतिशत अंक थे। उसे दाखिला और भी किसी विषय में मिल सकता था लेकिन उसने हिन्दी को चुना जिसे उसने हमको तो अविश्वसनीय रूप से हिन्दी का प्रेम ही बताया था लेकिन बाद में राज यह खुला था कि इतने अंकों के साथ हिन्दी में होस्टेल में कमरा मिल जाना तय था जबकि बाकी हर विषय में या तो साफ़ मनाही थी या वेटिंग लिस्ट का नगण्यप्रायः चांस लेना पड़ता। किराये के कमरे का खर्चा उठाने लायक हालात उसके परिवार के नहीं थे।

तो हिन्दी आनर्स में दाखिले का फ़ैसला उसके लिये कुछ समझदारी कुछ लाचारी का फ़ैसला था। लेकिन इसके बावजूद अगले ही साल उसने होस्टेल छोड़ दिया था। वजह उसने यह बताई थी कि होस्टेल में फालतू के कायदे कानून बहुत हैं, तरह तरह के प्रतिबन्ध और निषेध। बाढ़ को बाँधता है कोई ? इतना बाँध कर बैठे तो कैसे चलेगी, कितना बढ़ेगी, कहाँ जायेगी कहाँ पहुँचेगी ज़िन्दगी ? पूरे तीन साल। एक तो गुजर ही गया, बस दो और, कोई मजाक है ? इतना वक्त है किसके पास ?

कहानी चूँकि माधवी मधुरांजलि के बारे में नहीं, एक बुत के बारे में है, बल्कि कहानी तो शायद यह है ही नहीं, तो माधवी का वृत्तान्त जरूरी सूचनाएँ देकर समेटा जा सकता है।

कॉलेज कैम्पस पर मेरा घर अपनी छात्राओं के लिये ओपेन-हाउस जैसी जगह हुआ करता था। सप्ताह में दो तीन दिन तो जरूर ऐसा हो ही जाता कि माधवी मधुरांजलि शाम की चाय के समय आ जाती और होस्टेल में डिनर के पहले तक के दो ढाई घण्टे यहीं रहती। उत्सुक, जिज्ञासु, तत्पर, उसके कौतूहल और सवालों का कोई अन्त न था और कुछ महीने बीतते न बीतते तक उसने खुद अपनी टिप्पणियाँ देने लायक हिम्मत भी जुटा ली थी। कभी बचकानी, कभी जिज्ञासु लेकिन हमेशा समझदारी की दिशा में बढ़ती हुई।

पहला साल पार करते-करते वह अपने ग्राम्य, अनगढ़ अछूतेपन से छूटकर खासी सुगढ़ निकल आई थी और कमलानगर-क्राउड के ठप्पे से भी छूटने और कर्नाटप्लेस-क्राउड में शामिल होने की दिशा में अग्रसर दिखाई

देती थी। उसकी हिन्दी में एक ऐसा लचीलापन और प्रवाह था जो इस अंग्रेजीपरस्त कॉलेज ने पहले शायद कभी सुना ही नहीं था, कैम्पस की 'बाइलिंगुअल' यानी कि अंग्रेजी-हिन्दी की संयुक्त वाद-विवाद-प्रतियोगिताओं में शायद पहली बार हो रहा था कि एक हिन्दीभाषी प्रतियोगी बार बार प्रथम पुरस्कार पा रही थी और निर्णायक अपना निर्णय सुनाते समय यह कहना न भूलते थे कि इतनी सरस मधुर हिन्दी इसके पहले उनके सुनने में नहीं आई और उसके नाम के मधुरांजलि वाले हिस्से पर टिप्पणी करना भी। किसी और ने तो एक बार यह सुझाव भी दे ही डाला था कि नाम के किसी हिस्से में मेधाविनी भी होना चाहिये था जिस पर छूटते ही तपाक से उसने जड़ा था, माइसेल्फ़ माधवी एम. एम. अन्जली यानी माधवी मेधाविनी मधुरा अन्जली। ऐटीट्यूड के ज़माने में विनम्रता की जगह आसपास क्या, दूर दूर तक नहीं थी और सीखने में वह तेज थी। सबसे पहले ऐटीट्यूड ही सीखा था। अपनी कक्षा की बाकी छात्राओं के साथ भी उसका रवैया ऐसा ही था जिसकी वजह से वह अलग और अकेली दिखाई देती थी। दूसरे साल में होस्टेल के कायदे कानूनों से छूटकर उसने कॉलेज के बाद के घण्टों में कमलानगर के एक फ़ैशनहाउस में सेल्सगर्ल की नौकरी कर ली थी। दूकान बन्द होने के बाद शो विण्डो में खड़ी बुत को अगले दिन के लिये सँवारना उसकी ड्यूटी में शामिल था और इस काम को वह काफ़ी रच-रच कर करती रही होगी तभी उसकी खिड़की वाली बुत आसपास की सभी खिड़कियों से ज्यादा आकर्षक दिखाई देती थी।

दूसरे साल भी वह वाद विवाद प्रतियोगिताओं में तो जाती रही, ज्यादा पुरस्कार-राशि वाली प्रतियोगिताओं में खास तौर से, और उन्हें जीतती भी रही, लेकिन कक्षाओं में उसकी उपस्थिति गिर कर अनिवार्य न्यूनतम भर रह गयी। उसके कपड़े, जूते, प्रसाधन, वेशभूषा सब बदल चुके थे हालाँकि छुट्टियों में घर जाते वक्त वह अपने जिन कपड़ों को 'अल्ट्रा' कहती थी उन्हें एक सूटकेस में भरकर मेरे घर छोड़ जाती थी। वहाँ इनको पहना तो नहीं ही जा सकता था, यह बताया भी नहीं जा सकता कि यहाँ वह ऐसे कपड़े पहनती है। ब्राण्डेड। कैसे ? कहाँ से ? कितनी तनख्वाह मिलती रही होगी उसे फ़ैशन-हाउस की अपनी नौकरी से ? इन सवालों का जवाब खोजने के लिये बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं हुआ करती। फ़िलहाल उस तफ़सील में जाने की कोई जरूरत नहीं, दरअसल वे मुझे मालूम भी नहीं। जानने में कोई रुचि भी नहीं।

स्टाइल का उसे नशा सा हो गया था। पहले साल की वह माधवी मधुरांजलि उसमें कहीं नहीं बाकी थी जो अपने हर कौतूहल को लेकर सबसे पहले मेरी ओर ही उन्मुख हुआ करती थी। छोटे शहर की पाल-पोस के संस्कार अपर्याप्त लगने तक ही मैं उसके लिये प्रासंगिक रही होऊँगी, अब जिस बहाव में वह थी उसके लिये मैं उसे कोई रास्ता नहीं दिखा सकती थी।

कभी कभार की मुलाकात में अब वह बात करने से बचती सी रहती थी। इसलिये तो शायद नहीं कि उसे कुछ छिपाने की ज़रूरत थी या कि मैं ही कोई कुरेद-बीन करने वाली थी। हमारे हिस्से की दुनिया में भी वह दौर आ पहुँचा था जिसमें इस किस्म के क्रिया-कलाप में छिपाने जैसा कुछ रह नहीं गया था। फिर भी शायद इसलिये कि कहीं कोई लिहाज बाकी था जिसकी वजह से वह मेरे सामने 'ऐटीट्यूड' लेकर प्रकट होना और मेरी अप्रासंगिकता मुझे जताना नहीं चाहती थी। शायद इस बात से बचने के लिये भी कि कहीं कोई ऐसी बहस छिड़ जाय जिसमें उठने वाले तर्कों का जवाब उसके पास न हो। तर्करहित रह जाने का मतलब कायल हो जाना नहीं होता और फ़ैसला कर लिया गया हो तो बहस में न पड़ना ही बेहतर।

जहाँ उसको जाना था उसके लिये अब तक के तर्क, विवेक, मूल्य, संस्कार - कुछ भी उसके काम लायक शायद नहीं रह गया था। लेकिन अब भी उसे भीतर कुछ कुरेदता सा था। शायद! भाषा पर उसका असामान्य अधिकार पढ़ाई और तैयारी के अभाव को ढँकता रहा और ठीक ठाक अंक भी उसे मिलते ही रहे लेकिन उसने समझ लिया था, रास्ता किधर है। फिर तीसरे साल वह छात्र संगठन की राजनीति की तरफ़ मुड़ गयी थी। भावी नेताओं की खेती कैम्पस पर इसी दौरान बोई और सींची जाती है। उसके पास वक्तृता-कौशल था, व्यक्तित्व था और सामने खुला मैदान था। संभावनाएँ अपरिमित थीं।

उस साल वह लगभग गायब सी ही रही। कक्षा से भी, कैम्पस से भी। फ़िलहाल वह विश्वविद्यालय-छात्र-संगठन में कॉलेज-प्रतिनिधि की हैसियत से चुनाव जीत कर अब के छात्र नेताओं के साथ और पिछले कुछ वर्षों में विश्वविद्यालय से निकले और अब उभरते हुए युवा नेताओं के सम्पर्क-साहचर्य में भविष्य का नक्शा लिखने में व्यस्त थी।

लेकिन फिर तभी वह काण्ड हुआ। नैना साहनी की हत्या जो तन्दूर-काण्ड के नाम से मशहूर हुई जिसने न सिर्फ़ उस वक्त बल्कि आने वाले लम्बे वक्तों के लिये भी 'तन्दूर' को एक विकट सन्दर्भ-संकेत बना दिया। आज तक भी वह सन्दर्भ बाकी है, संकेत भी! उसकी भी तफ़सील में जाने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। हाई-सोसायटी के उन गलियारों में ऐसा होता आया है। अनगिनत उदाहरण होते आये हैं, होते रहेंगे। अभी हाल के किस्सों में सुनन्दा पुष्कर और इन्द्राणी मुकर्जी का नाम ले लीजिये। कभी कभार कोई मामला-मसला खुल भी जाया करता है। उनसे अन्दाज़ा भर लगाया जा सकता है कि उस दुनिया के तलपेटे में क्या है औरत की हैसियत। अचानक असुविधाजनक हो उठने वाली कोई लाड़ली, दुलारी हसीना रद्दी काग़ज़ की तरह रफ़ा-दफ़ा कर दी जाते देर नहीं लगती। औरत ही क्यों, निचले-मझोले तबकों से उठ कर ऊपर आते, धूमकेतु की तरह छा जाते मर्द भी ऐसे ही हथ्र को पहुँचाये जाते हैं। नैना साहनी के किस्से में उसके पति का भी शायद यही हथ्रो-हवाल हुआ हो वरना छत्रछाया की मदद मिली होती तो एक कृपापात्र उदीयमान नेता के लिये एक लाश को ठिकाने लगाना क्या मुश्किल था? कौन जाने किसी ने शायद सूराम! ही दिया हो उसकी अचानक पकड़ के लिये!

उसके बाद माधवी से कोई मुलाकात नहीं हुई। कहाँ गयी होगी वह? क्या उसने कोई सबक सीख लिया? क्या उसने रास्ता बदल दिया? क्या उसने मैदान छोड़ दिया? क्या कगार पर जा पहुँचने के पहले ही उसने कदम लौटा लिये? या उसके साथ भी कहीं कोई अनहोनी तो नहीं हो गुजरी?

पता नहीं। इतना पता है कि वह लौट कर घर नहीं गयी। उसके पिता आये थे। कॉलेज में पूछताछ से हतप्रभ और अवाक् रह गये थे। वह कहाँ थी, क्या कर रही थी, उन्हें किसी बात का कोई अन्दाज़ा ही नहीं था। होस्टेल से बार बार चिट्ठियाँ भेजी गयी थीं, फीस जमा करने की, होस्टेल आ पहुँचने की, कमरा दखल कर लेने की आखिरी तारीखों के लिये चेतावनी की, उन तक एक भी पहुँची ही नहीं थी। छुट्टी में घर जाने के लिये होस्टेल से निकलने की तारीख अभिभावक से अनुमति से तय होती है। इसके लिये अभिभावक को होस्टेल के वॉर्डन से बात करनी होती है, चिट्ठी देनी होती है। माधवी तो पहले साल के बाद ही होस्टेल छोड़ चुकी थी, उनसे पता नहीं कौन वॉर्डन के नाम से बात करता

रहा, उनकी भेजी हुई चिट्ठियों को वॉर्डन तक पहुँचने के पहले ही कौन उड़ाता रहा।

वे थाने भी गये। गुमशुदगी की रपट भी लिखवाई लेकिन कहीं कोई सूराग नहीं था। कभी कुछ पता नहीं चला। ये सारी बातें माधवी की दुष्टता और चालाकी के प्रमाण की तरह कॉफी-ब्रेक में गरमागरम चुस्कियों का चटपटा साथ देती रहीं। लेकिन माधवी थी कहाँ?

तो बुत की जिस कहानी के बारे में पहले भी कह चुकी हूँ, वह यहाँ से शुरू होती है। एक खयाल की तरह।

हमारा घर निरन्तर संवाद का कारखाना है, मैं और मेरे दोनों बेटे किसी भी फुरसत में बैठे किसी भी बात पर बतरस में व्यस्त पाये जाते हैं। तो इस खयाल पर भी बात मैंने छोड़ी जिसे लेकर यह कहानी मैं लिखना चाहती थी। कहानी एक लड़की के बारे में थी जिसने एक फ्रैशनहाउस की खिड़की में बुत बनकर खड़े रहने की नौकरी की थी। पहले पहल के बुत थे, शायद बहुत महँगे रहे होंगे, लेकिन आस-पास की दूकानों के साथ प्रतियोगिता में खड़े रह सकने के लिये ज़रूरी थे। तो उस लड़की को स्टाइल का नशा था। अगर वह कहानी मैंने सचमुच लिखी होती तो इस नशे को वक्त, मेहनत और युक्तियाँ लगाकर खड़ा किया होता। लेटेस्ट कपड़े, बैग, जूते ज्यूलरी। लेटेस्ट-लेटेस्ट। एक बार दोबार पहनो, फेंको। लेटेस्ट इससे ज्यादा देर कहाँ चलता है। अगला दिन, अगली पोशाक! वाह, क्या ख़ूब, ग़जब, डैशिंग, किलिंग, रैविशिंग जैसी वाहवाही। रोज़ रोज़ नयी नयी वेशभूषा, केशभूषा, आभूषण, प्रसाधन वगैरह वगैरह का शौक पूरा करने के लिये उसने बिना हिले डुले, बिना पलक झपकाये, बिना साँस लिये काँच की खिड़की में खड़े रहने की नौकरी की लेकिन नौकरी के घण्टों के बाद भी वह इन गलियारों में चलता फिरता बुत बन कर रही आई।

तब का विमर्श “पूँजीवादी भोग-व्यवस्था सत्यानाश सत्यानाश” की लाइन पर चलता था, तब तक भी उपभोक्तावाद दुश्मन ही माना जाता था, अब की तरह स्टैण्डर्ड ऑफ़ लिविंग और क्वालिटी आफ़ लाइफ़ का घालमेल बनकर ब्यूटीज़ ऑफ़ लाइफ़ या प्लेज़र्स आफ़ लिविंग में नहीं बदला था।

दो तीन दिन बाद बड़े बेटे अँजोर ने पूछा था, कहानी हो गयी अम्मा? संवाद के हमारे कारखाने में दोनों बेटों के

लिये हर वक्त चर्चनीय एक खयाल यह भी रहता आया है – कहानियों के लिये अम्मा के खयाल। दिमाग़ में तैरते हुए आते हैं और वैसे ही तैरते हुए से घुल जाते हैं। कहानी अक्सर हुए बिना ही रह जाती है। मैंने ‘अभी कहाँ’ की मुद्रा में हथेलियाँ पलट दीं।

अँजोर ने कहा, “लिख डालो अम्मा, नहीं तो कोई और लिख डालेगा।”

यह भी कोई बात है? कोई और कैसे लिख डालेगा? उन दिनों अँजोर अंग्रेजी में ऑनर्स कर रहे थे, उसके बाद मास-कॉम। वे अजब अजूबे से डिस्कोर्स हिन्दी में तब तक दाखिल नहीं हुए थे जिनसे उनका पाला पड़ रहा था। कोई मजाक है, ऐसे कैसे लिख डालेगा कोई और? मैंने कहा था।

“बिकाँज आइडियाज़ लिव ऑल देयर; इन द ईथर” अँजोर ने कहा था, “जैसे तुम्हारे पास आया है, वैसे ही किसी और के पास भी गया होगा, नहीं तो चला जायेगा।”

मैं सवालिया आँखों से देखती रही थी, वह समझा रहा था, “सोचो, कैसे बताती हो? क्या कहती हो, कहती हो या नहीं? कि खयाल आया है। कहाँ से आया है? खयाल आया तो था लेकिन चला गया? कहाँ चला गया? हमसे ज़्यादा हमारी भाषा को मालूम है हमारे खयालों का सच। वो कहीं से आते हैं। कहीं चले जाते हैं और ईथर किसी की बपौती नहीं है।”

“आइडियाज़ लिव ऑल देयर; इन द ईथर”। मेरे दिमाग़ में अनूदित हुआ था – “व्योम में वास है विचारों का”

वही दिन थे जब संचार के आकाश में सैटेलाइट उतरा था, और केबिल के सहारे घर घर आ पहुँचा था, और उसके बाद दुनिया को दुबारा कभी वही दुनिया नहीं रह जाना था। स्टार चैनल पर साण्टा बारबरा, बोल्टड ऐण्ड ब्यूटीफुल, डाइनेस्टी, बे-वॉच जैसे सीरियल अवतरित हुए थे और स्त्री-शरीर, परिधान और आवरण, प्रेम, परिवार और दाम्पत्य के सम्बन्ध, सौन्दर्य-बोध, लिहाज़, शिष्टाचार, मर्यादा और मूल्य के पुराने बोध पके पुराने पत्तों की तरह झर कर गिरने और धरती की नमी पाकर सड़ गल जाने थे।

कार्यक्रम में समसामयिक कहानी पर प्रियदर्शन का बयान ख़त्म हो चुका है। सविता सिंह प्रकृति करगेती की इस कहानी पर अपना वक्तव्य शुरू कर रही हैं। उन्हें कहानी का विश्लेषण करना है। यहाँ से शुरू किया है उन्होंने, “यह

‘डेथ ऑफ़ द रियल’ की कहानी है।” फिर मैजिकल रियलिज़्म पर एक संक्षिप्त वक्तव्य देने लगी हैं।

उन दिनों स्टार चैनल पर नियमित रूप से एक सीरियल देखती थी मैं – ‘ट्वाइलाइट ज़ोन।’ एक बार मैं एक एपीसोड में पूरा होने वाला। किसी और के लिख डालने की आशंका और उसके पहले खुद लिख लेने की कोशिश में लिखने फाड़ने फेंकने की खींचतान से गुजरते हुए जैसा कि अकसर होता है, अपने आप से बचने और काम से भागने की ज़रूरत से मैं अपना प्रिय सीरियल खोलकर बैठी।

और लीजिये, बात हम बुत की कर रहे थे। एक खिड़की में एक बुत – वह तो मानो किसी बेहद आदिम, प्रागैतिहासिक संसार का सीधा, सरल, सपाट मामला था। यहाँ मेरे सामने टीवी स्क्रीन पर था एक विशालकाय डिपार्टमेंटल स्टोर जिसमें बुतों की पूरी बस्ती बसी हुई थी। जिधर देखो, उधर बुत। झुण्ड में, कतार में, अकेले, दुकेले, स्त्रियों के, बच्चों के, पुरुषों के – पूरा संसार। और किस्सा यह था कि रात को वे सब के सब ज़िन्दा हो उठते थे।

आज बीस साल बाद वह सबकुछ धुँधलके में चला गया है। बस कुछ बिम्ब हैं जो बाकी रह गये हैं। वे भी बस कौंध कर गुम हो जाते हैं। एक दूसरे से अलग। मानो अलग अलग कहानियों के टुकड़े हों और उनके बीच का रिश्ता ओझल हो गया हो, कोशिश के बावजूद मुझे याद न आ रहा हो। याद रह जाने की वैसे कोई वजह भी नहीं, सीरियल तो एक के बाद एक, आते जाते बिलाते ही रहते हैं; सिवाय इसके कि मैं भी एक बुत के बारे में कहानी लिखने की कोशिश कर रही थी और उस वक्त यह सीरियल और उसका यह वाला एपीसोड मैंने देखा। बल्कि वह बरबस मुझे दिखाई दिया और मैंने यह सोचकर लिखने का इरादा छोड़ दिया कि अब इसकी कोई तुक नहीं। ईश्वर मेरे पास आने के पहले ही उधर कहीं और मुलाकात कर चुका है।

अब आज उसके बारे में मैं जो सोच रही हूँ और लिखने जा रही हूँ वह स्मृति के उसी धुँधलके में से कुरेद कर निकाला जा रहा है और इस स्मृति को कल्पना भी कहा जा सकता है बेशक। इन बिम्बों के बीच की खाली जगहों को भरने का काम कल्पना ही करने वाली है और अगर इस आधार पर मैं इसपर अपनी मौलिक रचना होने का दावा कर बैटूँ तो शायद उसे ग़लत भी नहीं माना जा सकता।

अब इसके बाद जो भी कहा जायेगा उसमें शायद

की बहुतायत होगी क्योंकि जो बात कल्पना से कही जा रही है उसके स्मृति होने का भ्रम पाला जा रहा है।

तो शायद यूँ होता था कि वे सारे बुत दिन भर देखते थे ज़िन्दा लोगों को। वे बाहर से, पता नहीं किस दुनिया से आते थे, हँसते खिलखिलाते, चलते फिरते, खरीदते, वापस लौट जाते थे, उस दुनिया के बारे में उत्सुकता जगाते हुए। और रात को जाग कर बुत दिनभर के देखे सुने की चर्चा करते थे। तो शायद यह फ़ैसला हुआ कि रोज़ रात को एक बुत जायेगा, बाहर की दुनिया देखेगा और लौट कर आने के बाद सबको वहाँ के किस्से सुनाएगा। ठहरी हुई दुनिया में कोई व्यतिक्रम तो होगा। लेकिन एक बुत; बुत की शक्ल में एक औरत ही; कहती थी कि जब मैं बाहर जाऊँगी तो लौटकर वापस नहीं आऊँगी। बाकी के बुत समझाते थे, थोड़ी देर का शगल ठीक है लेकिन हमेशा के लिये वहाँ कैसे रहा जा सकता है, जहाँ के बारे में कुछ भी, बिल्कुल कुछ भी, जाना पहचाना नहीं है।

बाकी के बुत शायद सड़क से घूमकर वापस आ जाते थे। लेकिन एक औरत की जिज्ञासा इससे ज्यादा थी। और जब वह बाहर गयी, तो उस दुनिया की कोई भी जगह उसकी जानी पहचानी नहीं थी, सिवाय डिपार्टमेंटल स्टोर के। लेकिन कुछ भी देखे बिना वह लौट कैसे सकती थी। स्टोर में घुसी। लेकिन वहाँ के बारे में भी एक यह बात उसे नहीं मालूम रही होगी कि हर चीज़ खरीदने के लिये पैसा लगता है। पैसा क्या होता है, उसे मालूम ही नहीं रहा होगा क्योंकि बुतों की जिस बस्ती से वह आई थी वहाँ पैसे से मतलब रखने वाले सारे काम इन्सान किया करते थे। तो शायद यह हुआ होगा कि छिपे कैमरा ने उसे चोर मानकर पकड़ा होगा, उसे शायद चोर का मतलब भी मालूम नहीं रहा होगा, शायद उसे मैनेजर के पास ले जाया गया होगा, शायद उसे जेल भेजा गया होगा, या शायद मैनेजर ने पैसे के बदले उससे कुछ और माँगा होगा, शायद उसे उस कुछ और के बारे में भी कुछ मालूम नहीं रहा होगा, शायद। हुआ चाहे जो भी, वह लौट कर नहीं पहुँची और बाकी बुतों ने समझा होगा कि वह बाहर जाना चाहती थी, और वापस नहीं आना चाहती थी। वह आज़ाद होना चाहती थी। शायद हो गयी।

जो भी हुआ रहा हो, ‘शायद’ के घेरे के भीतर उस सीरियल में, ये सब के सब शायदशुदा वाक्य खाली जगह को भरने के व्यायाम में मेरे रचे हुए हैं, ‘तयशुदा’ के घेरे में बस इतना हुआ कि वह कहानी फिर मैंने नहीं लिखी।

कार्यक्रम के समापन में धन्यवाद ज्ञापन के समय अचानक महसूस हुआ कि शुरू होते समय का भारी सिर अन्त तक आकर बिल्कुल हल्का हो चुका है। बहुत दिनों बाद एक बहुत अच्छी शाम। संजय सहाय को बधाई में बताया कि कार्यक्रम बहुत ही सुरुचिपूर्ण, वैचारिक भव्यता और सारतत्त्व से भरपूर था। इतने गुरु गंभीर शब्दों में नहीं, हिन्दी अंग्रेजी के घालमेल में ही बताया वरना शायद उसने चुटकी लेना समझ लिया होता। हाँ, सुबह-सुबह यही देखना चाहा था मैंने, अनुपस्थिति के बोध का धीरे-धीरे अदृश्य हो जाना, उपस्थिति के बोध में बदल जाना, यही होते हुए देख भी लिया!

अब आज, बीस बाइस या पच्चीस साल बाद उस बहुत पुराने विस्मृतिलोक में डूब गये विचार ने फिर अपना सामना कराया है। राजेन्द्र-कथा-सम्मान के कार्यक्रम से लौट कर ‘हंस’ का जनवरी का अंक निकाला है, प्रकृति करगेती की ‘ठहरे हुए लोग’ और असगर वजाहत की ‘किरच किरच लड़की’ पढ़ डाली है। प्रकृति करगेती की कहानी में जो बुत है उसने ज़िन्दा होकर, बाहर निकल कर ‘स्त्री की हैसियत से’ बाहर की दुनिया का खूँखार हालचाल देख आने के बाद अपनी काँच की खिड़की में बुत बने रहकर कैद हो जाना ज्यादा सुरक्षित पाया है। असगर वजाहत की कहानी में बेरोज़गारी के सबब से आखिरकार एक लड़की ने बुत बनकर खिड़की में खड़े रहने की नौकरी कर ली है और अन्ततः सचमुच के बुत में तब्दील हो गयी है।

इन सब लिखित-अलिखित कहानियों में या तो कोई बुत है जो ज़िन्दा हो गया है या कोई ज़िन्दा है जो बुत में बदल गया है। सारे बुत स्त्रियाँ ही हैं। क्या इतना काफ़ी है यह मान लेने के लिये कि यहाँ हर किसी ने किसी न किसी की नकल की है? हम जानते हैं, अपने हिन्दी जगत में मौलिकता का दावा इस वक्त खासा दिक्कतज़दा मसला है जो हरवक्त पेश आया ही रहता है। जैसा कहा, असलियत तो यही है कि मुमकिन नहीं है यह सोचना कि यह बुत ज़िन्दा हो गया है, और उतना ही आसान है यह मान लेना भी कि कोई ज़िन्दा था, बुत बन गया है। बुत है तो या तो काँच का बक्सा होगा या खिड़की होगी या दूकान होगी। छोटी हो या बड़ी, होगी ही। वह क्या किसी से किसी की नकल की निशानी होगी? ऐसे में क्या सबसे पहले जिसने लिख डाला वह उसी विषय पर बाद में लिखने वालों का मौलिकता का दावा खारिज कर सकता है? इतनी बड़ी दुनिया की इतनी सारी भाषाओं में

सबसे पहले किसने कहाँ क्या लिख डाला यह क्या कभी सन्दिग्धता के परे हो सकता है? मौलिकता का दावा कोई दावा हो भी सकता है क्या? किसी विचार के लिखे जाने के भी पहले ही उसे सोच कर रख चुके होने का दावा भी दायर किया जा सकता है क्या?

अँजोर की बात याद आती है जो जाहिर है, उसकी मौलिक बात नहीं है, “आइडियाज़ ऑल लिव देयर इन द ईथर,” जिसका अनुवाद; जैसा बताया; मैंने किया है, “व्योम में वास है विचारों का” और इस वृत्तान्त के शीर्षक की जगह लिख दिया है।

ईथर या व्योम नहीं चलता सिंगल चैनल में, मेमरी की तरह। वह फैलता है चारों तरफ़, किसी को कहीं भी जा टकरा सकता है। हिन्दी के हिस्से के बुत को ईथर इतनी देर प्रकृति करगेती की, असगर वजाहत की कहानी तक थामे बैठा रहा। बुत होगा तो दूकान तो होगी ही, बाज़ार तो होगा ही, यहाँ दिये गये संभावित और वास्तविक संस्करणों में एक बार उपभोक्तावाद और स्टाइल का नशा है, एक बार स्त्री-विमर्श में लहूलुहान स्त्री का वजूद है, एक बार आजीविका या रोज़गार से परिभाषित और निर्मित हो जाने वाला अस्तित्व है। मौलिकता इन अर्थ साहचर्यों में, संरचनाओं में, वाक्य-विन्यासों में है और इनके अलावा और कहीं नहीं है।

मेरे साथ एक अजीब सी बात होती है अक्सर। लेकिन कोई भी बात इतनी अजीब नहीं होती कि किसी दूसरे के साथ होती ही न हो। और भी किसी के साथ होती ही होगी। मैं क्योंकि कोई खयाल दिमाग में आते ही लिख नहीं डालती, बल्कि असल में तो बिना किसी दबाव के शायद कभी भी लिख ही नहीं डालती इसलिये काफ़ी काफ़ी देर तक, कभी-कभी तो हमेशा के लिये भी, खयाल मेरे साथ मेरे दिमाग में रह जाता है, रचता-बसता, पिया जाता, पचाया जाता कि काफ़ी लम्बे समय बाद उसका आदी हो जाने पर मुझे लगता है कि ज़रूर कहीं पढ़ा होगा या किसी से सुना होगा, कहीं से आया होगा।

असल में ऐसा होता भी होगा। मेरा हिस्सा उसमें और बहुत सी पढ़ी-कही-सुनी बातों के साहचर्य-विरोध, बुन-लपेट और रख-छोड़ से उसे किसी नये संयोजन-क्रम में पहचान लेने भर का होता होगा। तो लिखने के लिये बैठते समय कई बार मैं इस तलाश और उधेड़-बुन में रहती हूँ कि यह बात मैंने कहाँ पढ़ी या किससे सुनी और कई बार कोई

मित्र या छात्र याद दिलाता है कि उसके साथ बात करते हुए मैंने ही वह तर्कजाल बुना था। लेकिन इससे वह मेरा मौलिक नहीं हो जाता। पता नहीं किस किस के लिखे-पढ़े-कहे-सुने के कितने दीर्घ-क्षणिक साहचर्य को दिमाग समेटे रखता है।

अब मुमकिन नहीं इस अरबों साल की हो चुकी दुनिया में किसी बात का पहली बार होना, सिवाय सिर्फ अपने अकेले अस्तित्व स्वतःपूर्ण दायरे में किसी बात को पहली बार खुद जानने महसूस करने के। इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं कि दूसरे किसी ने या बहुत सारे दूसरों ने भी पहली बार इसे नहीं जाना या महसूस किया है। बार-बार पहली बार। हर बार पहली बार। हर पेड़ की हर टहनी के लिये न सही, हर नये पत्ते के लिये पहली बरसात। अरबों-अरब बार। पहली बार। इसी तरह हर रोज नयी होती है दुनिया।

अन्त में एक अच्छी खबर। अब लगभग बीस साल बाद माधवी मेधाविनी मधुर अंजलि का फ़ोन आता है कभी कभी। 80 या 85 नहीं तो 90 से 95 के बीच जिस भी साल 18 साल की उम्र में मिली रही होगी वह उसके हिसाब से अब चालीस से थोड़ा कम से लेकर चालीस के थोड़ा बाद या पचास के आसपास की उम्र में होगी। वही करती है फ़ोन। मैं अगर वापस उसी नम्बर पर कॉल करूँ तो 'यह नम्बर मौजूद

नहीं है' की सूचना मिलती है। वह सिम बदल देती है हर बार।

मुझे नहीं मालूम वह क्या कर रही है या अब तक क्या करती रही है। मुझसे उसे चाहिये कुछ नहीं, मैं उसे कुछ दे भी नहीं सकती। शायद कोई लिहाज़ बाकी है, शायद कोई स्मृति। शायद अतीत को काट कर अलग कर देने के बावजूद कहीं किसी डोर से जुड़े रहने की इच्छा। और वह अतीत भी उसने खुद चुना है जिससे वह जुड़े रहना चाहती है। मैं उसका वह वाला अतीत हूँ, यह सोचकर अच्छा लगता है। ज़िन्दगी की बाग़डोर उसने अपने हाथ में ले रखी है।

राजेन्द्र यादव अपने स्त्री-विमर्श में जिस स्त्री की कल्पना किया करते थे वह क्या ऐसी ही कोई औरत थी? अगर सचमुच ऐसी कोई मिली होती ते वे उसे बर्दाश्त कर पाये होते क्या?

वह वापस नहीं लौटी कभी, लौटेगी भी नहीं। कभी थकान कभी उदासी कभी अकेलेपन के बावजूद वह खुश है। अपने विचारों के व्योम में वास करती हुई, उसे धरती में बदलती हुई।

वह काँच की खिड़की के बाहर आ गयी है। यह शायद एक मौलिक बात है, बहुत सी लड़कियों की एक साथ मौलिक बात!

---

हाइबर्ड, जे-901,  
निहो स्कॉटिश गार्डन,  
अहिंसा खण्ड-2, इन्दिरापुरम,  
गाज़ियाबाद, पिन 291914

मृदुला गर्ग

## कैसे-कैसे उतरी रचना कागज़ पर

मन है आज आपसे रचना प्रक्रिया के उस उत्तरार्द्ध की बात करूँ, जब शिल्प चुनने के बाद, कथा की परिकल्पना को बाकायदा या बेकायदा कागज़ पर उतारा जाता है। जहाँ तक रचना प्रक्रिया के गतिशील पूर्वार्द्ध का सवाल है, वह तो ताउम्र चलता है, मुतवातिर, हर साँस के साथ। प्रतिरोध, परकाया प्रवेश और रसोक्ति (आइरनी); ये तीन तत्त्व मेरी सभी रचनाओं के अभिन्न अंग रहे हैं। इस तात्त्विक मर्म को छोड़ दें तो हर रचना की कथा वस्तु, शिल्प और भाषा अलहदा हैं। काफ़ी हद तक, जुबान किरदारों के कब्जे में रही है या उस वक्त के, जिस में किरदार जी रहे थे या कह लें जिसमें मैंने उन्हें जिलाया था। कुछ मेरे कब्जे में भी रही ज़रूर पर हर नये कथानक के साथ, मुझे लगा कि ज़बान को कुछ हद तक नये सिरे से रचना होगा और रचा भी। रचना प्रक्रिया के इस पूर्वार्द्ध पर बहुत बार अनेक संदर्भों में बात कर चुकी हूँ।

पर हाल में एक कहानी लिखे जाने के दौरान मुझे एकदम अलहदा किस्म का अनुभव हुआ। उस के बाद, पीछे मुड़ कर, शुरू से ले कर अब तक के सृजन पर निगाह डाली तो देखा, मेरी रचना यात्रा में कथा के कागज़ पर उतारे जाने की तकनीक का भी खासा दिलचस्प ग्राफ़ बन रहा है। “लिखने के दौरान” के बजाय “लिखे जाने के दौरान” जानबूझकर कह रही हूँ। क्यों, बाद में बतलाऊँगी।

सत्तर के दशक में मैंने लेखन की शुरुआत की तो हाथ से लिख कर। लिखाई खासी ख़राब थी इसलिए सम्पादकों के इसरार पर, जल्दी ही एक हस्तचालित टाईपराइटर खरीदा और हाथ से लिखे को टाइप करके प्रकाशक को देना शुरू किया। टाइप किया तो कई-कई बार। रचना में सुधार करने के लिए नहीं, टाइप की गलतियाँ सुधारने के लिए। उन दिनों हर संशोधन का मतलब था, दोबारा टाइप करना। यह सिलसिला बरसोंबरस चला। रचना में सुधार तो हाथ से लिखते हुए ही हो चुका होता था। न जाने कितनी काट-पीट करती, बार बार लिखती तब जा कर रचना परवान चढ़ती। फिर भी तमाम काट-पीट



के बावजूद कहानी एक बैठक में पूरी करके ही दम लेती। काटती रफ्तार से, पुनः लिखती भी रफ्तार से। हाँ, कभी-कभार कैफ़ियत यह भी होती कि सही लफ़्ज़ या जुमले के इंतज़ार में लेटे-लेटे छत निहारते घण्टों बीत जाते। पर एक बार सूझ जाते तो उसी रस के घोड़े की रफ्तार से लिखने लगती। लिखना शुरू करने के बाद अवरोध कम ही आता था। जिसे अमूमन ड्राफ़्ट कहा जाता है, मैं अलग अलग वह नहीं बनाती थी। कह सकते हैं ड्राफ़्ट एक ही रहता। उसी में लिखने के दौरान काट पीट हुआ करती, कुछेक अलफ़ाज़ या जुमले जोड़ घटा या बदल कर। वैसे मैं बहुत तेज़ रफ्तार से लिखती हूँ। एक वजह यह भी है कि मेरी लिखाई पढ़ने में तक्रलीफ़ होने की। कभी कभी तो मैं खुद नहीं पढ़ पाती! पर भाव और विचार संवेग इतना उत्कट रहता है कि रफ्तार ढीली नहीं होने देता।

पूरी कहानी मन माफ़िक लिख लेने के बाद ही टाइप करना शुरू करती। चूँकि मैंने बाकायदा टंकन सीखा नहीं था, कहानियाँ लिख कर ही उसका अभ्यास किया था इसलिए टंकन में ग़लतियाँ काफ़ी होतीं। इसलिए दोबारा-तिबारा टाइप करना पड़ता। यूँ बार-बार अपना रचा पढ़ने में एक फ़ायदा था। कहानी में थोड़ा बहुत बदलाव करने का रास्ता खुला रहता। पर टाइप करने की मेरी गति, हाथ से लिखने की तरह सरपट कभी नहीं हुई, दुलकी चाल ही चली। रचनात्मक आवेग-संवेग निबट जो चुका होता था, ऊपर से ग़लतियाँ करने पर दोबारा टाइप करने की आशंका भी डराये रहती। तो धीरे-धीरे टाइप करती। यानी टाइपराइटर मेरे लिए सृजन का जीवंत माध्यम नहीं बना, तकनीक ही बना रहा।

टाइपराइटर के इस्तेमाल के शुरुआती दिनों में पहला उपन्यास उसके हिस्से की धूप लिखने के दौरान एक दिलचस्प घटना हुई। प्रकाशक थे अक्षर प्रकाशन के राजेन्द्र यादव। तभी खरीदे, पुरानी वज़ा के रेमिनाटन टाइपराइटर में मुझे “ख” अक्षर नहीं मिला। उसकी जगह र और व इस्तेमाल करके उपन्यास का पहला भाग टाइप करके यादव जी को थमा दिया। वे बोले, “इस औरत की क्या समस्या है; बार बार रवड़ी क्यों हो जाती है?” मैंने बतलाया, ख नहीं मिला सो रव लिखा है। उन्होंने कहा गाजर का हलवा खिलाओ तो ढूँढ देंगे। “खिलाया, ढूँढा, मिला। आधा खय था जिसे डन्डा मार कर पूरा ख बनाना होता था। अजीब सी आकृति का अक्षर मेरी पकड़ में नहीं आया था। ख मिला तो पूरा उपन्यास

मय ख दोबारा टाइप किया। सौन्दर्य बोध का तकाज़ा था कि पूरी पाण्डुलिपि एक जैसी हो।

कम्प्यूटर का चलन हुआ तो अस्सी के दशक में बेटे कम्प्यूटर घर ले आये। पर हिन्दी के सॉफ़्ट वेयर में, कम्प्यूटर की भाषा में इतने “बग्स” थे कि वह नहीं लगवाया। मैं बरसों तक कम्प्यूटर का इस्तेमाल, अंग्रेज़ी के लेख लिखने और हिन्दी से अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के लिए करती रही। शोधपरक लेख लिखने और अनुवाद करने के लिए कम्प्यूटर सुविधाजनक था क्योंकि उनके कई-कई ड्राफ़्ट बनाने पड़ते थे, जिनके दरम्यान खोजबीन भी करनी होती थी। इसलिए संशोधन करने और बीच-बीच में कभी भी, कहीं भी सामग्री डालने की तकनीकी सुविधा महत्व रखती थी। पर हिंदी का रचनात्मक गद्य पहले की तरह हाथ से लिखती रही। उसमें छह उपन्यास, दस कहानी संग्रह, दो नाटक और रविवार में पाँच साल तक लिखा गया स्तम्भ शामिल था।

बीच बीच में, जब हस्तचालित टाइपराइटर कमर और गर्दन के दर्द पर कुछ ज़्यादा भारी पड़ गया तो हाथ से लिख कर पेशेवर टाइपिस्ट से भी टाइप करवाया। पर उसमें ग़लतियाँ इतनी होतीं कि हाथ से काट-पीट कर सही करना सौन्दर्य बोध को गवारा न होता और दोबारा टाइप करवाना, बटुए को। राजेन्द्र यादव ने सलाह दी, प्रेम पत्र लिखो साले को, सिर पीट कर तुम्हारी ख़राब लिखाई पढ़ना सीख जाएगा। मैंने आजमाया नहीं। इसलिए ग़लतियाँ बदस्तूर होती रहीं।

अलबत्ता, उपन्यास कठगुलाब का टाइपिस्ट इतना साहित्य प्रेमी निकला कि खुद कई बार ग़लतियाँ सुधारने की पहल की। उसके प्रेम की क्या कहूँ। एक बार जब पाण्डुलिपि ले कर आ रहा था तो रास्ते में पड़ती गंगा नदी उफ़ान पर थी। तब पाण्डुलिपि को सिर पर बाँध कर उसने नदी पार की। यूँ वह ठीक ठाक प्रकाशक तक पहुँची।

फिर वक्रत ने करवट ली। 2003 से मैंने इंडिया टुडे में पाक्षिक स्तम्भ लिखना शुरू किया, जो 2010 तक चला। स्तम्भ, मैं हाथ से लिख कर ही उन्हें भेजती थी। उनकी इनायत थी। कहा कि खामख़ाह टाइप करने के चक्कर में आप दो बार ज़हमत क्यों उठाएँ, हम तो कम्पोज़ करते हुए टाइप करेंगे ही। दो बरस यूँ ही चला। फिर 2005 में, हाथ में कुछ तक्रलीफ़ हो गई, जिसकी वजह से कुछ महीनों के लिए कलम पकड़ना मुश्किल हो गया। पर स्तम्भ था कि हर पन्द्रह दिन बाद सिर पर सवार! लिखे बग़ैर चारा न था। झक

मार कर हिंदी का सॉफ्टवेयर खरीदा। अर्से तक उसे सिर्फ़ इंडिया टुडे के स्तम्भ लेखन के लिए इस्तेमाल किया। कथा रचना उन दिनों कम की और जब की तो मेथी डाल कर उबाले गर्म पानी में हाथ सेंक, कुछ हद तक दर्द कम किया तो काफ़ी हद तक, उसे ही प्रेरक बना कर लिख डाला।

फिर हुआ यह कि 2007 में, जब मन में उपन्यास “मिलजुल मन” खदबदा रहा था, एक रात बारह बजे यकबयक उस का शिल्प सूझा। इल्हाम हुआ कि जीवनी और उपन्यास का मिलन क्रायम रख कर उसे औपन्यासिक जामा पहनाने के लिए, दो वाचक रखे जाएं। एक, दिवंगत किरदार की बहन; दूसरी, एक अन्य लेखिका, जो उनकी दोस्त भी हो। बहन, जाहिर है, तरह-तरह के झूठ बोलेगी, जितना बतलाएगी उतना छुपाएगी या बेचारी जानती ही आधा-पौना होगी। गलत को सही करने और पोशीदा राज को अफ़शा करने का जिम्मा लेखक का रहेगा। शिल्प क्या सूझा, याददाश्त के क़ैदखाने के बन्द कपाट यूँ खुले कि साँस लेना दूधर हो गया। कलम ढूँढ़े न मिला तो जाकर कम्प्यूटर धर पकड़ा और खटाखट उसपर पहला अध्याय लिख मारा। फिर क्या था। बारह अध्याय यूँ ही अजब-ग़जब नशे और बेखयाली में लिखे गये। फिर शायद उस बेमुरव्वत ज़ेहनी मशक्कत के चलते बीमार पड़ गई और कम्प्यूटर की गुलामी से कुछ दिनों को छुटकारा मिल गया। दोबारा लिखने बैठी तो हाल यह पाया कि बिना कम्प्यूटर, शिल्प पकड़ में ही न आये। यानी कम अज़ कम उस रचना के लिए, वह मेरी मजबूरी बन चुका था। नीत्शे ने कहा था न, जब उसने टाइपराइटर पर लिखा तो सोच की धारा बदल गई। मेरे साथ वही हुआ, बस यहाँ गुनहगार टाइपराइटर नहीं, कम्प्यूटर था। यूँ जानिये कि मुँह को लगी शराब बन लिया कि लाख सिर मारो, छुड़ाये न बने। वैसे भी मेरे लिए कम्प्यूटर एक मायावी शै था, मेरी किरदार की मानिन्द। किरदार कब तर्क को, और कम्प्यूटर लिखने की बेसब्री को दगा दे जाए, पता नहीं रहता था। दो बार तो वाकई सिर से यूँ बिगड़ा कि पहले न जाने कितने हिस्से बदलवाये, फिर नये कम्प्यूटर का ही जुगाड़ करना पड़ा। कम्प्यूटर की दगाबाज़ी पर यकीन ने पूरा उपन्यास, ज़बरदस्त व्यग्रता, दुश्चिन्ता और हौलेदिल में लिखवाया। उसके चलते उपन्यास में त्रासदी को धता बतलाते उल्लास का रंग और गहरा हो गया। सोचा था उपन्यास पूरा हो जाएगा तो लौट आएं हाथ से लिखने पर। पर वह न हुआ। अब मैं ज़्यादातर कहानियाँ सीधे कम्प्यूटर पर लिखती हूँ और

हस्तचालित टाइपराइटर से कहीं ज़्यादा रफ़्तार से। फिर भी मुझे हिन्दी में फ़रटि से टाइप करना अब तक नहीं आया; कम अज़ कम उस तेज़ रफ़्तार से नहीं, जिससे हाथ से लिखा करती थी। सफ़र में होती हूँ या हिन्दी का साफ़्टवेयर उपलब्ध नहीं होता तो कभी-कभार थोड़ा-बहुत हाथ से लिख लेती हूँ पर 2007 के बाद से हर कहानी कम्प्यूटर पर ही लिख कर शुरु और खत्म करती आई हूँ। तय नहीं कर पा रही कि यह इसलिए हुआ क्योंकि मुझे दिमाग में हलचल मचाते भावों और विचारों से पैदा हुए उद्वेलन के साथ जीने की आदत हो गई। मैं उनकी गति पर कुछ हद तक लगाम कसना सीख गई। या इसलिए कि रचना की व्यग्रता को बढ़ावा देती कम्प्यूटर के बिगड़ जाने की आशंका, सृजन की एक और संचारक बन गई।

हाल में लिखी कहानी “वसु का कुटुम” के साथ अलग ही मंज़र पेश आया। वह यूँ कि कोई एक बरस पहले मेरी आँख का ऑपरेशन हुआ रेटिना का, ख़ासा जटिल। ऑपरेशन हुआ, बिगड़ गया। दुबारा हुआ, फिर बिगड़ गया। एक तरफ़ डाक्टर कहे, यह क्योंकिर बिगड़ा और किस तरह सुधरेगा, मुझे कोई इल्म नहीं है, अव्वल तो शायद सुधरे ही नहीं। दूसरी तरफ़ कहे, बिस्तर पर पड़े रहो, हिलो-डुलो मत, गर्दन तक ऊपर न उठाओ। कुछ मत करो। बस पड़े रहो। चाहो तो रेडियो सुन लो या टेलीविज़न सुन लो; देखो नहीं, महज़ सुन लो। अधलेटे पूरा आराम करोगी और हर डेढ़ घण्टे में आधे घण्टे तक पाँच-पाँच मिनट पर दवा डालोगी तो शायद कुछ सुधार हो जाए या शायद न हो.... यानी जो होगा या नहीं होगा, ज़िम्मेवार तुम होगी हम नहीं। वाह ! क्या ख़ूब आलम था ! मैं ही मरीज़, मैं ही तीमारदार, मैं ही अपनी तक्रदीर की सिरजनहार ! डाक्टर थे बस हाज़िर-नाज़िर; मेरे उस अजब बेहरकत सफ़र के। सुनने-बोलने पर पाबन्दी नहीं थी।

उस हाल एक दिन मुझे सूझा कि मेरे पास जो निहायत फटीचर-सा मोबाइल है, उस में भी वॉर्डस रिकॉर्डर है। मैं जो लिख नहीं सकती, उस पर कह सकती हूँ। तो किया रिकॉर्ड। इस सूरते हाल कहानी यूँ लिखी गई कि जैसे-जैसे जो-जो मन में घटे, असलीयत में नहीं, उसे वैसे-वैसे लिख डालो। मजे की बात यह हुई कि कहानी जो बनी उसमें मैं कहीं नहीं हूँ, न मेरी आँख का ज़िक्र है। किरदार जो हैं मुझसे एकदम अलहदा, अनेक अन्य जन हैं। कहानी उनकी है, मेरी कतई नहीं। यानी कहानी में एक दिलफ़ेंक किस्म का परकाया

प्रवेश है। या कहें कहानीपन है; क्योंकि कहानी का मर्म ही है अतिक्रमण। नाटकीय मोड़ हैं तो आपको खुश रखने के लिए त्रासदी को लतीफ़ आइरनी से रंग दिया गया है।

तभी कहा था मैंने शुरू में “लिखे जाने के दौरान!” दरअसल यह कहानी मैंने न लिखी है, न बोल कर लिखवाई है, महज़ सुनाई है। लिखवाने के लिए बोलने यानी डिक्टेट करने और सुनाने के बीच का फ़र्क़ काफ़ी अहम है। बोलते वक़्त मेरा मक़सद उसे लिखवाना नहीं था; मन के भीतर घट रहे को कहना या सुनाना भर था। पर किसे ? सशरीर श्रोता तो वहाँ कोई था नहीं। एक भी नहीं। मैं निपट अकेली थी। श्रोता थी तो मैं खुद या मेरे मन के भीतर बसी कोई अमूर्त छाया। या कहें कोई था तो केवल दो भागों में विभक्त मैं। एक वक्ता, दूसरा श्रोता। पर पात्र मैं नहीं बनी। पात्र बिल्कुल नहीं बनी, तभी न कहानी बनी वरना संस्मरण या आत्म निवेदन हो कर रह जाती। चूँकि यह सही मायनों में वाचन था इसलिए अपने स्वभाव में कहानी पूरी तरह वाचिक है। पर अन्ततः लिखी तो गई न ? मैंने खुद टाइप करके या हाथ से लिख कर कागज़ पर नहीं उतारा पर उसे सुन कर किसी और ने तो टाइप किया। यानी लिखी मेरे ही आग्रह पर गई न ? ईमानदारी का तकाज़ा है कि स्वीकार करूँ कि अन्तर्चेतना में लिखवाने का खयाल रहा होगा।

फिर भी चूँकि कहानी बोल कर कही गई है, लिख कर नहीं, इसलिए जाहिर है, इसका अंदाज़े बयां मेरी बाक़ी कहानियों से फ़र्क़ है। टाइप हो कर आई और मैं पढ़ने लिखने लायक़ हालत में आई तो उसमें काफ़ी ग़लतियाँ दीखीं। वे तो होनी ही थीं। आसान काम नहीं है लरज़ती आवाज़ में रफ़्तार से बोले हुए को बाद में सुन कर लिख पाना। मैं लता कपरवान की ममनूँ हूँ जिन्होंने यह काम किया। थोड़ी बहुत नोक पलक की ज़रूरत भी महसूस हुई। कुछेक ख़ाली जगह भी

मिलीं जिन्हें भरना ज़रूरी लगा। पर न मैं उसे सीधे सीधे कम्प्यूटर पर टाइप कर पाई, न हाथ से लिख पाई। जब-जब कुछ जोड़ा या बदला तो पाया कि मैं पहले उसे बोल कर रिकार्ड कर रही हूँ फिर सुन कर कागज़ पर उतार रही हूँ। मतलब यह कि सीधे लिखने और बोल कर लिखने के बीच जुबान की रवानी और संवाद अदायगी में कुछ फ़र्क़ था। इसीलिए कहानी के अंदाज़ेबयां में बल न आने देने के लिए, शैली-शिल्प, रवानगी को बरकरार रखने के लिए; जो पहले कहने से रह गया था, उसे कह कर ही जोड़ना ज़रूरी था।

यूँ हाथ से लिखने से शुरू हो कर, टाइपराइटर की तकनीकी सहूलियत और कम्प्यूटर की मायावी दुनिया से होती हुई मैं पुरखों से विरासत में मिले वाचन पर आई। पर यह दावा कतई नहीं कर सकती कि आगे भी मैं कहानी का वाचन करूँगी, फिर उसे लिखूँगी। यह भी नहीं कि जैनेन्द्र जी और मनोहर श्याम जोशी की तरह बोल कर लिखवाने की शैली अख़्तियार करने का मेरा कोई तय इरादा है। अब तक जो हुआ इतिफ़ाक़ से हुआ या मजबूरी में, हालात माकूल या ना माकूल होने से। मैंने बस इतना किया कि किसी एक तरीक़े से बँध कर रहने की ज़िद नहीं पकड़ी, न नई राह पकड़ने से परहेज़ किया।

आगे ? सबसे ज़्यादा सम्भावना तो इसी की है कि मैं कम्प्यूटर पर लिखती रहूँगी जैसे यह बयान लिख रही हूँ। पर इतना ज़रूर कहूँगी कि अगर कोई ऐसी इजाद हो जाए जिसके सहारे मैं लेटे-बैठे बोलती रहूँ और मेरा कहा बिना ग़लती टाइप हो जाए तो मेरे लिए सबसे मन माफ़िक़ होगा। पर टाइप होना चाहिए बग़ैर ग़लतियों के। वह होने से रहा कम अज़ कम मेरी ज़िन्दगी में। पर कौन जाने...आगे-आगे होता है क्या ! मैं तो नहीं ही जानती...

ई 421(ग्राऊंड फ़्लोर) जी के -2  
नई दिल्ली 110048

सूरज प्रकाश

## यह रचना मोबाइल पर बोल कर टाइप की गयी है। पैन से मोबाइल डिक्टेशन तक का सफ़र

पहली बार तुकबंदी तेरह बरस की उम्र में की थी। हमारे चाचा रात के वक्त लैम्प की रौशनी में हम भाइयों को गणित पढ़ा रहे थे। उस वक्त गणित की ही कॉपी में पहली कविता लिखी गयी। तब पता भी नहीं था कि कविता होती क्या है। कविता से उतना ही नाता था जितना कोर्स की किताबों में पढ़ी गयी कविताओं से था। सोलह सत्रह बरस की उम्र तक आते-आते यूँ ही कच्ची-पक्की तुकबंदी करने लगा था। बेशक पढ़ हम सब कुछ रहे थे। चंदामामा, राजा भइया, गुलशन नंदा, आजाद लोक, अँगड़ाई और मस्त राम और गीता प्रेस की किताबें।

अपने जीवन का पहला प्रेम पत्र 17 बरस की उम्र में लिखा था। अपने लिये नहीं, अपने दोस्त प्रदीप अरोड़ा के लिए। तब हम ग्यारहवीं में थे। प्रदीप को उसकी प्रेमिका सुमन ने यह खत दिया था। सुमन के पिता जी घर में ही छोटी मोटी दुकान चलाते थे और दोपहर को सुमन दुकान पर बैठती थी। प्रदीप को समझ में नहीं आया था कि क्या है यह। यह प्रेम पत्र भी कॉपी के बीच के पन्ने फाड़ कर लिखा गया था। अब याद भी नहीं आता कि उस खत में कितना लव था और कितना रोज़ाना के कामों की फेहरिस्त। खैर, इस लव लेटर के जवाब के संयुक्त रूप से कई ड्राफ्ट बने थे और फाइनल लव लेटर सुमन तक प्रदीप की राइटिंग में पहुँचा था।

अब तो प्रदीप का ये रोज़ का काम हो गया। दिन में दो तीन लव लेटर भी मिलते और महाकवि सूरज प्रकाश उसके प्रेम पत्रों के जवाब तैयार करते। तब तक कविवर सूरज प्रकाश को भी अपने मोहल्ले की सारी सुंदर लड़कियाँ अच्छी लगने लगी थीं। वे भी चाहने लगे कि उनका भी लव लेटर वाला प्यार कहीं शुरू हो। तब तक हम यही समझते थे कि अच्छा लगना ही प्रेम करना होता है। प्रदीप के लिए प्रेम पत्र लिखने से पहले हम

सब बच्चों को एक काम ज़रूर करना होता था कि हम जिस मोहल्ले में रहते थे वहां यह आम बात थी कि हमें मोहल्ले की सारी चाची मासियों के लिए उनकी रिश्तेदारी के लिए चिट्ठी लिख कर देनी पड़ती थी और उनके जवाब आने पर यह जवाब भी पढ़ने होते थे।

हमारे हिस्से में भी एक अदद प्रेमिका आयी और कच्चे पक्के प्रेम करना और कच्ची-पक्की कविताएं लिखना साथ-साथ चलता रहा। ये सब लिखना इतनी शिद्दत से होता था कि पता नहीं चलता था कि प्रेम पत्र लिख रहे हैं या कविता। दोनों जगह वही बातें लिखी जाती थीं। बहुत बाद में तो एक प्रेम में ऐसा भी हुआ कि सारे प्रेम पत्र दोनों ओर से कविताओं के रूप में ही लिखे गये। उसका जिक्र फिर कभी।

जब खुद प्रेम पत्र और कविताएं लिखने का सिलसिला शुरू हुआ तो कॉपी के बीच वाले पन्ने निकाल कर लिखे जाते थे। ये कॉपी भी हम रद्दी की दुकान से तौल कर लाया करते थे। बेशक बरस के शुरू में हम नई कापियां खरीद लेते थे लेकिन बाद में ज़रूरत पड़ने पर नई कॉपी खरीदना या नई किताब खरीदना हमारे लिए किसी अय्याशी से कम नहीं होता था। हम छह भाई बहन थे और अमूमन हमारे हिस्से में पुरानी चीजें ही आती थीं। चाहे वह कपड़े हों, जूते हों या किताब कॉपी ही हों।

हमारी ही क्लास में एक लड़का पढ़ता था मकसूद अली। उसकी कबाड़ी की दुकान थी और उसकी दुकान पर दून स्कूल या आइएमए वगैरह महंगे स्कूलों की बच्चों की कापियां रद्दी के भाव बिकने के लिए आती थीं। शानदार कवर चढ़ी बेहतरीन कापियां। ये हमें तौल कर मिल जाती थीं। कई बार तो ऐसा भी होता था कि इन कॉपियों में एक दो पन्ने भी नहीं लिखे होते थे या ये टेस्ट की कॉपियां होती थीं। ये कॉपियां ही हमारे लिए बहुत बड़ा खजाना होती थीं। पूरी पढ़ाई तो इन कॉपियों पर होती ही थी, शुरुआती कविताएं और प्रेम पत्र इन्हीं कॉपियों पर लिखे गए।

बाद में जब नौकरी पर आया तो दफ्तर के पैड या लूज कागज कविताएं लिखने के काम आते रहे। कहानी लिखना तो बहुत देर से लगभग 35 वर्ष की उम्र में शुरू हुआ। इससे पहले जो भी लिखा, साफ सुथरे बिना लाइन वाले कागज पर लिखा। हाशिया छोड़ कर सीधी लाइनों में लिखता। तब तक मुझे मेड इन चाइना के हीरो या विंगसंग पैन का शौक लग चुका था। पैन मेरी हैसियत से महंगा होता

था। लगभग ग्यारह रुपये का। लेकिन वही इस्तेमाल करता। स्याही भी सबसे महंगी किंवक खरीदता। बाद में शायद उसका नाम चेलपार्क हो गया था। पैन और स्याही की अय्याशियां बॉलपेन आने तक चलती रहीं। कभी कभी रंगीन कागजों वाले पैड खरीद कर भी प्रेम पत्र या कविताएं लिखीं। मेरे लिए दोनों एक ही थे।

तब तक उपनाम सागर रख लिया था बेशक तब तक सागर और सागर में फर्क पता नहीं था। पूरी ज़िंदगी में बीस कविताएं भी नहीं छपी होंगी। वे भी स्थानीय अखबारों में। बहुत हुआ तो कादम्बिनी में एकाध।

अपनी कहानियां मैंने बाद में लिखीं और विश्व प्रसिद्ध कहानियों के अनुवाद पहले किये। लेकिन जो भी लिखा साफ-सुथरे, बिना लाइन वाले कागज पर लिखा। शुरू शुरू में अनुवाद या कहानियां हाथ से लिखकर तीन चार बार ड्राफ्ट तैयार करता था। हर बार यही मान कर चलता कि ये फाइनल कहानी हो गई है लेकिन जब कहानी को नए सिरे से देखता तो एक बार फिर फेयर करनी पड़ती।

बाद में कहानियां टाइप कराने का सिलसिला शुरू हुआ। तीन चार ड्राफ्ट तैयार करने के बाद जब लगता कि अब कहानी तैयार है तो टाइप कराता। हमारे ही सेक्शन का एक टाइपिस्ट टोपरे घर पर ये काम करता था। आम तौर पर शनिवार को कहानी ले जाता और सोमवार को टाइप करके ले आता।

एक रोचक किस्सा याद आ रहा है। अपनी तीसरी कहानी यह जादू नहीं टूटना चाहिए के तीन ड्राफ्ट तैयार कर चुका था और चाहता था कि अब इसे टाइप करा कर साफ सुथरी कॉपी हंस में छपने के लिए भेजूं। उस दिन मंगलवार था। अगले सोमवार तक इंतज़ार करने का धैर्य नहीं था। दो एक मित्र कहानी पढ़ कर पसंद कर चुके थे। मैंने टोपरे से कहा कि कहानी कल टाइप करके दोगे तो उसने कहा कि नहीं तीन चार दिन लगेंगे। कोई उपाय नहीं था। लेकिन अगले दिन सुबह जब टोपरे ऑफिस आया तो बेहद खूबसूरती से टाइप की हुई कहानी उसने मेरे सामने रखी। मुझे बधाई दी कि बहुत अच्छी कहानी है। यह अपनी किसी भी कहानी पर उससे या किसी से भी मिलने वाला पहला कमेंट था। जब मैंने पूछा कि तुम तो तीन चार दिन लगाने वाले थे। आज ही कैसे टाइप करके ले आये।

जो किस्सा उसने बताया वह खूबसूरत तो था ही मुझे

मेरी कहानी के प्रति आश्वस्त भी करता था। कल जब वह घर पहुंचा और पत्नी से खाना मांगा तो पत्नी ने कहा – थोड़ी देर लगेगी। उसने सोचा खाना खाने के इंतजार में एकाध पेज ही टाइप कर लिया जाए। कहानी टाइप करने बैठा तो कहानी रोचक लगी। अब कहानी पढ़ने का एक ही तरीका था कि कहानी टाइप करता चले। वह पिछली रात कहानी पढ़ने के चक्कर में रात डेढ़ बजे तक कहानी टाइप करता रहा और पूरी होने तक टाइप करता रहा। और इस तरह मेरी कहानी अगले दिन सुबह टाइप होकर मुझे मिल गई थी। कहानी हंस में ही छपी और बेहद लोकप्रिय हुई।

कहानियां या इतर रचनाएं टाइप कराने का यह सिलसिला कई बरस चला। बेशक जो ड्राफ्ट हाथ से तैयार करता था अब भी साफ सुथरे बिना लाइन वाले कागज पर पूरी मेहनत से तैयार करता था। 1989 में जब मेरा अहमदाबाद ट्रांसफर हो गया तब तक तीन कहानियां छपी थीं, तीन कहानियां स्वीकृत थीं और चारों कहानियों का कच्चा माल मेरे पास था। क्रम से दूसरी कहानी धर्मयुग में छप चुकी थी। अब तक मेरी आदत बिगड़ चुकी थी कि कहानी टाइप रूप में ही छपने के लिए जानी चाहिए। मैं आखिरी ड्राफ्ट तक अपने आप लिखता रहता था और फाइनल ड्राफ्ट टाइप करा लिया करता था।

तभी मैंने बहुत मेहनत करके एक और नायाब काम शुरू किया था। दो डायरियां बनायी थीं। पहली डायरी में अब तक लिखी सारी कहानियां हाथ से लिखीं और दूसरी डायरी में कहानियों पर छपने वाली पाठकों की प्रतिक्रियाओं की कटिंग चिपकाता या हाथ से लिखता। कहीं कहानी पाठ होता तो मैं अकेला कहानीकार होता जो डायरी में से पढ़ कर कहानी सुनाता। डायरी कवि से डायरी कहानीकार का सफर। लेकिन जब कहानियां भी ज्यादा होने लगीं और पाठकीय प्रतिक्रियाएं भी तो ये सिलसिला दम तोड़ गया।

तभी मुझे मेरे पहले कहानी संग्रह अधूरी तस्वीर पर नव गठित गुजरात हिंदी साहित्य अकादमी की ओर से 3000 रुपए का पहला अकादमी पुरस्कार मिला था। अकादमी नयी थी और कोई सिस्टम नहीं था। पुरस्कार का चेक डाक से मिला। उन दिनों हमारे ऑफिस में एक मैकेनिक आता था जो टाइपराइटर साफ करता था। उसने बताया कि उसके पास एक अच्छा हिंदी टाइप राइटर है जो मुझे 3200 रुपए में दे देगा। मैंने सोचा कि कहानियां टाइप कराने के बजाय मैं सीधे ही टाइपराइटर पर लिखूंगा। तब तक जान चुका था कि

हिंदी के कई लेखक सीधे ही कहानियां टाइप करते हैं। ज्ञानरंजन जी के टाइप किये हुए पोस्ट कार्ड मैं देख चुका था और मंटो, कृष्णचंदर और अशक जी की टाइपराइटर वाली नोक झोंक पढ़ चुका था। मैं इस बात के लिए बेहद रोमांचित था कि लेखन की शुरुआत में ही मैं टाइपराइटर वाला लेखक बन जाऊंगा। समय भी बचेगा और पैसे भी बचेंगे। तसल्ली भी रहेगी कि मैंने खुद कहानी टाइप की है। लेकिन तब मैंने यह नहीं सोचा था कि अपने सोचने की गति और टाइप करने की गति के बीच कैसे तालमेल बिठाऊंगा।

हालांकि नौकरी की शुरुआत में, या यूं कहें कि नौकरी की तलाश में बीस बरस पहले हिंदी और अंग्रेजी दोनों हिंदी टाइपिंग सीखी थी लेकिन अब खुद टाइप करना मेरे बस का नहीं था। एकाध पेज हो तो कर भी लिया जाये। अब अपनी कहानियां टाइप करना मेरे बस का नहीं था। टाइपराइटर वाला लेखक बनने का सपना जस का तस खत्म हो गया। टाइपराइटर जैसा खरीदा था, दो ढाई साल वैसे ही पड़ा रहा। मेरी किस्मत अच्छी थी कि जिस समय ट्रांसफर पर मुंबई वापिस आ रहा था और मेरा सारा सामान ट्रक में लादा जा चुका था, तभी एक स्ट्रगलर टाइपिस्ट उस टाइपराइटर का खरीदार बन कर आया और लगभग उतने ही पैसों में टाइपराइटर खरीद ले गया। जान बची और लाखों पाये।

अहमदाबाद में ही रहते हुए ही मेरी डेस्क पर कंप्यूटर आ गया था। बेशक हिंदी में टाइप करना बहुत मेहनत का काम था लेकिन पहले हाथ की लिखी हुई एक कहानी धीरे-धीरे कंप्यूटर पर टाइप की थी। उस समय के कंप्यूटर में यह तकलीफ थी आप अलग से अपनी कहानी सेव नहीं कर सकते थे। जिस डिस्क में हिंदी पैकेज होता था आपका काम भी उसी डिस्क में सेव होता था। जब मैं अहमदाबाद से चला तो टाइप की गयी वह कहानी वहीं रह गयी।

1995 में मुंबई आने पर पहले मुझे इलेक्ट्रॉनिक टाइपराइटर मिला लेकिन उस पर काम करने का मजा नहीं आया। कुछ ही दिन में अलग से कंप्यूटर मिला। मैं धीरे-धीरे ही सही कंप्यूटर पर अपनी कहानियां टाइप करना सीखने लगा था। यहां ये बता दूं कि अब तक वे ही कहानियां कंप्यूटर पर टाइप कर रहा था जो पहले लिखी जा चुकी थीं। सीधे कहानी कंप्यूटर पर टाइप करने का वक्त अभी नहीं आया था। तब तक फ्लापी भी अस्तित्व में आ चुकी थी जिस पर आप अपना काम सेव कर सकते थे। तब तक मेरे जिम्मे यह

काम भी आ गया था कि ऑफिस में खरीदे जाने वाले सभी कंप्यूटरों पर हिंदी में काम करने का पैकेज लोड करूं और सभी साथी अधिकारियों को हिंदी में काम करना सिखाऊं। मजे की बात तब तक मैं खुद कंप्यूटर का एबीसी सीख रहा था और सिखा भी रहा था। अगले कई बरस इसी में निकल गए।

हालांकि अब तक मैं कहानी का ड्राफ्ट पहले हाथ से लिखता था और बाद में कंप्यूटर पर टाइप करता था लेकिन जब 1997 में अपना निजी कंप्यूटर खरीदा तो कंप्यूटर पर काम करने का तरीका बदल चुका था। मैंने 1997 में जुलाई में उस वक्त तब तक की अपनी सबसे लंबी कहानी देश, आजादी की 50वीं वर्षगांठ और एक मामूली सी प्रेम कहानी मैंने कंप्यूटर पर ही लिखी थी और कंप्यूटर के हिसाब से मैंने 80 बार कहानी की एडिटिंग की थी। अब मैं अपना सारा लेखन सीधे ही कंप्यूटर पर करने लगा था। ऑफिस में अनुवाद भी सीधे ही कंप्यूटर पर करता था। यहां तक कि व्यक्तिगत पत्राचार भी, पोस्टकार्ड भी कंप्यूटर पर टाइप करके और प्रिंट करके भेजने लगा था। कुछ मित्र इस बात पर नाराज़ भी हुए थे कि मैं अपने निजी पत्र भी कंप्यूटर पर तैयार करके भेजता हूं। उनका कहना था कि इसमें संबंधों की महक नहीं होती। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं होता था।

उन्हीं दिनों जब मैं अपना पहला उपन्यास देस बिराना लिखने की जद्दोजहद में था तो तय किया कि उपन्यास लैपटॉप पर लिखा जाएगा। मैंने एक महीने की छुट्टी ली, ऑफिस से लैपटॉप इश्यू कराया और लंबी छुट्टी पर निकल गया। यह उपन्यास मैंने दिल्ली, लखनऊ, चंडीगढ़, शिमला, मसूरी, देहरादून, लोनावला और दमन में कई किस्तों में पूरा किया। उपन्यास लिखने का काम सुबह तीन घंटे, दोपहर तीन घंटे और शाम को दो घंटे करता था। इस तरह से बेशक उपन्यास 22 दिन पूरा कर लिया था लेकिन उसे छपने योग्य बनाने के लिए मुझे दो बरस लग गए। यहाँ यह बात जोड़ना चाहूंगा कि मैंने कभी भी नोट्स बना कर लेखन नहीं किया। जब हाथ से लिखता था तब भी और जब कंप्यूटर या लैपटॉप पर काम करने लगा तब भी लिखने या टाइप करने के बाद का जो ब्रेक होता था वही समय आगे का हिस्सा सोचने का होता था। आज भी जब मैं बीच में ब्रेक लेता हूं तब भी बेशक टाइप नहीं कर रहा होता लेकिन रचना प्रक्रिया पर चिंतन चलता रहता है। शाम की सैर मेरे लेखन के लिए आज भी बेहद जरूरी है। उस वक्त आगे का उतना ही हिस्सा

सोच के दायरे में आता है जितना टाइप होना होता है। पूरी रचना का फ्रेम मेरे दिमाग में आज तक नहीं बना।

इस तरह से देखा जाए तो 1997 से लेकर अब तक मैंने सारा लिख कंप्यूटर या लैपटॉप पर ही किया है। तब से अब तक अपने लेखन के या ऑफिस के दस पन्ने भी हाथ से नहीं लिखे होंगे। यहां तक कि हर बरस भरी जाने वाली अपनी गोपनीय रिपोर्ट का प्रोफार्मा भी मैंने कंप्यूटर के हिसाब से सेट कर लिया था और अपनी रिपोर्ट कंप्यूटर पर तैयार करके देता रहा। बरसों तक मैं अकेला अधिकारी रहा जिसकी गोपनीय रिपोर्ट कंप्यूटर पर तैयार होती थी। बाद में मेरी देखा देखी और अधिकारियों ने ये तरीका अपनाया।

2005 में पुणे पोस्टिंग के दौरान मुझे एक सेमिनार में पता चला कि स्थानीय सी डैक ने एक ऐसा पैकेज तैयार किया है जो आपके बोले गये हिंदी शब्दों को टाइप करता है। इससे कई बरस पहले बाजार में ड्रैगन नाम का सॉफ्टवेयर आ चुका था जिसमें अंग्रेजी में बोल कर टाइप करने की सुविधा तो थी लेकिन यह काम हिंदी में नहीं किया जा सकता था। मुंबई में ही मेरे बॉस सुबह की मीटिंग के मिनट्स आधे घंटे में बोल कर टाइप करके दोपहर तक तैयार कर देते थे। उसी दिन से मेरी भी हसरत थी कि काश हिंदी में भी बोल कर टाइप करने वाला पैकेज आये तो सबसे पहले मैं ही खरीद लूं और इस्तेमाल करूं। जब मुझे पता चला कि ऐसा पैकेज पूना के सीडैक ने बनाया है तो मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मैं भागा भागा वहां गया और उसका प्रदर्शन देखा। अच्छा लगा।

उन दिनों मैं एक ऐसी कमेटी का सदस्य सचिव था जो बैंकों में हिंदी के प्रशिक्षण के बारे में निगरानी रखती थी। मैंने उस पैकेज का कई बैठकों और सेमिनारों में प्रदर्शन कराया और उसका प्रचार प्रसार किया कि किस तरह से हम हिंदी में बोल कर टाइप कर सकते हैं।

संयोग से मुझे सीडैक की ओर से यह पैकेज उपहार में दिया गया। ये शुरुआती पैकेज था और इस पैकेज की सीमाएं थीं और यह बहुत अच्छे परिणाम नहीं देता था। कुछ दिन तो मैं इस पर बोल कर टाइप करता रहा लेकिन ये गलतियां बहुत करता था। मेरी तसल्ली नहीं हुई।

उन्हीं दिनों मैं चार्ली चैप्लिन की आत्मकथा का अनुवाद कर रहा था। ये अनुवाद मैंने सीधे लैपटॉप पर भी किया, हाथ से लिख कर टाइपिस्ट से भी टाइप कराया, कई

बार टाइपिस्ट को डिक्टेशन देते हुए टाइप कराया, मित्रों ने, मेरे बच्चों ने मेरे लिए डिक्टेशन ली। उसके बाद बीसियों बार अनुवाद की जांच की। मजे की बात 595 पेज का मैटर ईमेल से ही प्रकाशक को भेजा गया, ऑनलाइन प्रूफ देखे और फाइनल किये।

तब तक कंप्यूटर में पूरी तरह से यूनिकोड पैकेज में हिंदी में काम करने की सुविधा आ चुकी थी। यानी एक ऐसे सॉफ्टवेयर पर काम करना जिसे सारे कंप्यूटर स्वीकार करते थे। मैंने कम से कम 1000 बैंकरो को कंप्यूटर पर काम करना और कंप्यूटर पर हिंदी में काम करना सिखाया। 2008 में अपना पहला लैपटॉप खरीदा।

इसके बाद 2009 में मुंबई आने पर भी अपनी रचनाएं कंप्यूटर पर और लैपटॉप पर सीधे ही टाइप करना जारी रखा। मुझे कभी भी अपनी सोच की गति और लिखने की गति में कोई ज्यादा आई तकलीफ नहीं हुई। इतने बरस के अभ्यास से अब मुझे कंप्यूटर या लैपटॉप पर काम करना ज्यादा आसान लगता है। सबसे बड़ी बात कि आप जितनी बार चाहें अपने मैटर को एडिट कर सकते हैं, आगे पीछे कर सकते हैं, बदल सकते हैं, छोटा बड़ा कर सकते हैं और आपके पास हर समय फ्रेश कॉपी होती है। आप अपने मैटर को कभी भी कहीं से भी किसी को भी भेज सकते हैं और यह समस्या नहीं रहती कि टाइप की प्रति पढ़ी नहीं जा रही है। इसका एक और भी फायदा है कि आपकी सारी रचनाएं कंप्यूटर में, हार्ड डिस्क में, पेन ड्राइव में या सीडी में सुरक्षित रहती हैं।

अब जब से पता चला कि मोबाइल पर हिंदी या किसी भी भारतीय या यूरोपीय भाषा में बोल कर टाइप कर सकते हैं तो शायद पूरी छानबीन करके ये सॉफ्टवेयर लोड करने वाला मैं पहला हिंदी लेखक था। मैंने अपनी ताजा और चर्चित 35 पेज की कहानी लहरों की बांसुरी मोबाइल पर बोल कर ही टाइप की है। अभी जिस उपन्यास पर काम कर रहा हूं उसका ड्राफ्ट भी बोल कर ही टाइप हो रहा है। और उसके बाद छिटपुट रचनाएं तो रोज ही बोल कर टाइप करता हूं। मेरी छटपटाहट यहीं खत्म नहीं हुई। अब तक मैं मोबाइल पर बोल कर टाइप करके उसे अपने आपको ईमेल करता था और फिर लैपटॉप पर स्पेलिंग चेक करके उसे फाइनल रूप देता था। अब मैं चाहने लगा कि मैं मोबाइल पर टाइप करूं और मैटर सीधे ही लैपटॉप पर नज़र आये। इस बारे में मैंने गूगल और माइक्रोसॉफ्ट वालों से भी बात की

लेकिन नतीजा जीरो रहा। मैंने अपने बच्चों से बात की और आखिर हमारी संयुक्त मेहनत रंग लायी। ये जो रचना आप पढ़ रहे हैं, इसी तरह से टाइप हुई है। ड्राइंगरूम में लैपटॉप में वही फाइल खुली थी और मैं भीतर वाले कमरे में मोबाइल पर बोल कर टाइप कर रहा था। मेरा मैटर दोनों जगह टाइप हो रहा था। जब से मैंने पेनड्राइव के जरिये अपने लैपटॉप और मोबाइल को जोड़ लिया है, मेरा पूरा लैपटॉप हर समय मेरे मोबाइल में मौजूद रहता है और मेरे मोबाइल की सारी गतिविधियां मेरे लैपटॉप में सेव होती रहती हैं।

एक बात यहां रचे जाने और सोचे जाने के बीच तालमेल की। जैसा कि मैंने पहले कहा, मैं एक बार में लगातार दो घंटे से ज्यादा सिस्टम पर नहीं बैठता। एक अनिवार्य ब्रेक चाहिये ही ताकि रचना के आगे के हिस्से के बारे में सोच सकूं। जब पहाड़ पर लिखने जाता हूं तो दिन में तीन चार ब्रेक हो ही जाते हैं लेकिन जब घर पर लिख रहा होता हूं तो ये ब्रेक एक दिन का भी हो सकता है और ज्यादा दिन का भी। लेकिन एक बार में एक ही रचना पर काम करता हूं और वैसे भी पूरे बरस में एकाध ही कहानी लिखता हूं। एक कमजोर लड़की की कहानी लिखने का दबाव इतना ज्यादा था कि वह कहानी मैंने कई किस्तों में घर के पास बने ओबेरॉय माल के फूड कोर्ट के शोर शराबे में लैपटॉप पर टाइप की थी। 39 पेज में लगभग 14300 शब्दों की यह कहानी कुल 1533 मिनट में टाइप की गयी थी और मैंने कुल 128 सिटिंग में इस कहानी पर काम किया था।

अब इस तरह से सोचने, रचने और रचने का सुख पाने का इतना अभ्यास हो गया है कि अगर मेरा लैपटॉप खराब हो जाये तो मैं कोई काम नहीं करता। यात्रा पर भी अगर मैं अपने साथ लैपटॉप नहीं ले गया तो मैटर मोबाइल पर बोल कर टाइप तो कर लिया जायेगा लेकिन फाइनल घर आने के बाद ही किया जायेगा।

तो ये है मेरे लेखन के बदलते तरीकों की यात्रा। मुझे पता है मेरे जीते जी ऐसा सॉफ्टवेयर भी आ जायेगा जो मेरे सोचे हुए शब्दों को सीधे ही टाइप करेगा। मैं उसे सबसे पहले इस्तेमाल करूंगा। मेरा भावी उपन्यास इसी तरह से लिखा जायेगा।

एच1/101 रिद्धी गार्डन, फिल्म सिटी रोड  
मालाड पूर्व मुंबई 400097  
mail@surajprakash.com  
मो.09930991424



प्रियदर्शन

## कलम छूट गई, कहानी बनती रही

किताबों के अतीत और भविष्य को लेकर कुछ साल पहले आई किताब 'दिस इज नॉट दि एंड ऑफ द बुक' में उपन्यासकार उंबेर्तो इको पटकथाकार और लेखक जां क्लाद केरियर से अपनी उस मुश्किल का जिक्र करते हैं जो कंप्यूटर पर लेखन की वजह से पैदा हुई है। वे बताते हैं कि वे अपने उपन्यासों के कई ड्राफ्ट करते रहे हैं और हर ड्राफ्ट के बाद कृतियां कुछ और निखर कर आती रही हैं। वे कहते हैं कि कंप्यूटर पर लेखन ने यह सुविधा खत्म कर दी है। अब उन्हें पता ही नहीं चलता कि उनके कितने ड्राफ्ट हो रहे हैं। हो सकता है, वे और ज़्यादा होते हों, और उनमें कृति की संपूर्णता का पता नहीं चलता। जवाब में जां क्लाद केरियर बताते हैं कि वे अपने पन्नों को आमने-सामने रखकर अपनी पटकथाओं में पंक्तियों का संतुलन तौलते रहे हैं। यह सहूलियत कंप्यूटर ने खत्म कर दी है।

दो लेखकों के बीच की इस बातचीत से उस दुविधा का कुछ सुराग मिलता है जो तकनीक ने लेखकों के सामने पैदा की है। वे अपनी कृतियों के शिल्प और विन्यास की स्पष्टता को लेकर असमंजस में रह जाते हैं। कागज पर कलम से लिखने का पुराना अभ्यास इतना सधा हुआ है कि कंप्यूटर बहुत सारे मामलों में कागज की नकल होने के बावजूद अलग सा लगता है। उसमें किसी भी शब्द को मिटा कर दूसरा शब्द लिखने की सुविधा भी लेखक को मंजूर नहीं है।

लेकिन क्या एक लेखक के लिए वाकई कागज और कंप्यूटर की स्क्रीन इतनी दूर की चीजें हैं? यहीं किताब इस बात की ओर भी हमारा ध्यान खींचती है कि दरअसल लिखने में बाएं से दाहिने चलने की जो परंपरा है, उसी ने हमारी कंप्यूटर स्क्रीन भी बनाई है और उसी के अनुशासन में हमारी फिल्मों के दृश्य भी रचे जाते हैं। यह भले अनायास हो, लेकिन बाएं से दाहिने जाने के इस अभ्यास ने हमारी उंगलियों और हमारी आंखों को अलग ढंग से ढाला है। जिन लिपियों को दाहिने से बाएं लिखा जाता है, उनके मामले में

स्क्रीन और सिनेमा के दृश्यों में भी ठीक उल्टा होता है। ईरानी सिनेमा इसकी एक मिसाल है।

बहरहाल, बात रचनात्मक लेखन पर केंद्रित रहे। यह अक्सर जैसे मान लिया जाता है कि रचनात्मक लेखन सिर्फ कलम की चीज है। करीब 30 बरस पहले जब रांची के रेडियो नाटककार डॉ. सिद्धनाथ कुमार ने एक कार्यक्रम में यह बताया था कि वे अपने नाटक या अपनी कविताएं सीधे टाइपराइटर पर लिखते हैं तो यह हमें अचरज में डालने वाली बात लगी थी? आखिर कोई लेखक सीधे कलम और कागज के अलावा किसी और माध्यम से कैसे लिख सकता है? बरसों बाद किसी ने बताया कि अशोक वाजपेयी भी सीधे टाइपराइटर पर लिखते हैं।

बहरहाल, यह 1996 का साल था जब मैंने लिखने के लिए कंप्यूटर पर हाथ आजमाया। 'जनसत्ता' में सहायक संपादक के तौर पर काम करते हुए मैंने वहीं कंप्यूटर पर टाइपिंग सीखी और शुरुआत संपादकीय लिखने से की। उस शुरुआती दौर की एक पीड़ा साझा कर सकता हूं। अभ्यास के उस दौर में कीबोर्ड पर अक्षरों की जगह खोजते हुए अक्सर विचार प्रक्रिया टूट जाती थी। मुझे रुक कर याद करना पड़ता था कि मैं क्या लिखना चाहता था। लेकिन एक बार जब यह बाधा दूर हो गई, जब अंगुलियों ने अपने अभ्यास से जान लिया कि कौन सा शब्द कैसे लिखा जाएगा तो लिखने की प्रक्रिया मेरे लिए बहुत आसान हो गई।

यहां एक छोटा सा विषयांतर उचित लग रहा है। मैं खूब लिखता रहा हूं। तरह-तरह से लिखता रहा हूं। सबसे पहले मैं पंक्तियों के हिसाब से लिखता था- यानी डेढ़ सौ पंक्तियों या ढाई सौ पंक्तियों या 300 पंक्तियों के लेख। इसके बाद मैंने पन्नों के हिसाब से लिखे। यानी पांच पृष्ठ या छह पृष्ठ या दस पृष्ठ की टिप्पणियां। इसके बाद शब्दों का दौर आया- यानी 750 या हजार शब्दों का लेख। इसके बाद अखबार में काम करते हुए कॉलम में लिखना सीखा- यानी दो कॉलम, तीन कॉलम या चार कॉलम की खबर। जब रांची एक्सप्रेस में संपादकीय लिखने का मौका मिला, तो पहली बार सेंटीमीटर के हिसाब से लिखा। संपादकीय की पूरी जगह ऊपर से नीचे तक 49 सेंटीमीटर की होती थी। हम एक या दो या तीन संपादकीयों के हिसाब से लिखते थे कि 49 सेंटीमीटर की एक टिप्पणी होगी या 24-25 सेंटीमीटर की दो टिप्पणियां या फिर 17-17 और 15 सेंटीमीटर की तीन टिप्पणियां।

जब कंप्यूटर आया तो फिर मैंने कैरेक्टर्स के हिसाब से लिखना शुरू किया। कैरेक्टर- यानी कंप्यूटर के कीबोर्ड पर एक पंच- इसे एक तरह से वर्ण के हिसाब से भी लिखना कह सकते हैं। उन दिनों जनसत्ता के संपादकीय चार हजार से पांच हजार कैरेक्टर के हुआ करते थे। लेख 9000 कैरेक्टर का होता था। फिर वे दिन भी आए जब मैंने सेकेंड्स के हिसाब से लिखा- टीवी के लिए लिखते हुए 90 सेकेंड की स्टोरी या आधे घंटे की स्क्रिप्ट।

यह विस्तृत चर्चा बस यह समझाने के लिए कि लेखन की जो ढेर सारी प्रविधियाँ इन तमाम वर्षों में विकसित हुई हैं, उन सबसे अपने परिचय के बावजूद बहुत विश्वासपूर्वक यह कह पाना मेरे लिए मुश्किल है कि इन तमाम प्रविधियों का मेरे लेखन पर क्या असर पड़ा है। यह सच है कि यह फर्क सिर्फ प्रविधियों का नहीं रहा है, मूलतः उन माध्यमों का है जो अपनी-अपनी शक्तों से मेरे लेखन को बदलती रही हैं। इसके अलावा एक ही माध्यम के भीतर उसके अलग-अलग प्रारूपों ने भी लेखन में फर्क पैदा किया है। जैसे अखबार के लिए खबरें, विश्लेषण, संपादकीय या समीक्षाएं लिखते हुए, या फिर राजनीति, फिल्म, अर्थनीति या क्रिकेट पर लिखते हुए मेरी भाषा भी बदलती रही है और उसका विन्यास भी एक-दूसरे से काफी भिन्न रहा है। इसी तरह टेलीविजन में 30 सेकेंड के पैकेज की लेखन प्रक्रिया आधे घंटे की डॉक्युमेंटरी की लेखन प्रक्रिया से कतई भिन्न रहा करती है।

मगर असली सवाल यह है कि जब मैं रचनात्मक लेखन की दुनिया में आता हूं- जब कविता या कहानी लिखने की कोशिश करता हूं तो तकनीक मेरे ऊपर क्या असर डालती है? क्या कंप्यूटर मेरे लेखन को कुछ बदलता है? इस सवाल का बहुत ठोस जवाब देना संभव नहीं है। बेशक, जब हम लिख रहे होते हैं तो बहुत सारी प्रक्रियाएं चुपचाप हमारे साथ चल रही होती हैं, हमारा मन और लेखन दोनों बदल रही होती हैं। मिसाल के तौर पर मुझे याद है कि मैं आम तौर पर नीली स्याही से लिखा करता था जो कुछ हल्की हुआ करती थी- शायद सुलेखा की। लेकिन अचानक कैमलिन की कुछ चमकती-तीखी नीली स्याही आ गई तो अचानक एक तरह की उत्फुल्लता शुरुआती दिनों में लेखन का हिस्सा बन गई। इसी तरह पहली बार काली स्याही का इस्तेमाल करते हुए एक अलग पुलक सी हुई। क्या इस उत्फुल्लता या पुलक या इसके बाद के दौर की उदासीनता का कुछ असर लेखन पर

पड़ता होगा ? उजले कागज पर सावधानी से उकेरे जाते नीले या काले अक्षर सोचने की प्रक्रिया को भी कुछ सावधान करते- कविता लिखते हुए एक-एक शब्द को मंथर गति से गढ़ने का कुछ प्रिय लगता सा काम चलता। यह तेजी से पत्रकारिता के लिए की जाने वाली कलम घसीट लिखाई से अलग हुआ करता और एक तरह का तोष देता। कहानी लिखते हुए भी घटनाओं के वर्णन की एक मंथर गति होती जिसमें एक-एक दृश्य को सहेज कर रचने-रखने की प्रक्रिया चुपचाप चलती रहती थी।

बेशक, कंप्यूटर ने मेरे लिए इस रचनात्मकता को एक रफ्तार और सहजता दी। मेरे लिखने की रफ्तार बहुत तेज है। शायद इसलिए कि सोचने की प्रक्रिया जैसे किसी लहर की तरह होती है। एक कड़ी दूसरी कड़ी से इस तरह जुड़ी होती है कि उसे जब हम लिखने बैठते हैं तो बीच की कुछ कड़ियां टूट जाती हैं। लेकिन कंप्यूटर ने हाथों को वह रफ्तार दी कि अचानक अपनी भाषा की मैंने एक नई लय हासिल की। जिसे भाषा का प्रवाह कहते हैं उसे मेरे लिए कंप्यूटर ने आसान बनाया। अपनी कविताओं और कहानियों को देखते हुए कई बार मैं यह महसूस करता हूँ कि शायद कलम से लिखी गई होतीं तो ये कुछ भिन्न रचनाएं होतीं। बेशक, उनमें कोई मौलिक भिन्नता नहीं होती, उनका मूल आस्वाद यही रहता लेकिन शायद कुछ परतें बदल गई होतीं। इसके अलावा कुछ कहानियां लिखने में भी मुझे कंप्यूटर से मदद मिली। मेरी पूरी लेखन-प्रक्रिया- यहां तक कि कहानी लेखन की प्रक्रिया भी- बहुत कुछ स्वतःस्फूर्त रही है। बहुत सुनियोजित-सुविचारित ढंग से मैं नहीं लिखता हूँ। ऐसी कम कहानियां हैं जिनका कोई ढांचा पहले से मेरे दिमाग में तय रहा होगा। 'उसके हिस्से का जादू' और 'पेइंग गेस्ट' जैसी कहानियां भी इसी स्वतःस्फूर्तता का नतीजा रहीं। इनके लेखन में मुझे कंप्यूटर से मदद मिली। मैंने कई किस्तों में ये कहानियां लिखीं। शायद पन्नों पर इस तरह लिखना संभव नहीं होता। चूंकि कंप्यूटर पर एक फाइल थी जिसे अचानक खोज कर बढ़ा देना बहुत आसान था, इसलिए कहानियां बढ़ती रहीं।

जब भी वे अटकतीं, मैं छोड़ देता। बाद में किसी दिन अनायास शुरू करता। 'खोटा सिक्का' नाम की कहानी भी मैंने इसी तरह लिखी। उसके अंत के लिए तो मुझे महीनों इंतजार करना पड़ा।

क्या ये सारी कहानियां वाकई उतनी बिखरी हुई हैं जितने बिखरे हुए ढंग से लिखी गईं ? यह शिकायत किसी से नहीं मिली। शायद हम सबके सोचने का, चीजों को महसूस करने का, उनकी कल्पना करने का ढंग सरल रैखिक नहीं होता। उसमें कई तरह की वक्रताएं होती हैं। हम बिल्कुल अंधेरे बीहड़ में उतर कर रास्ता खोजते हैं। इस बिखराव की भी अपनी एक संगति होती है। बहुत सारे लेखकों की तरह- तरह की पर्चियों पर, इधर-उधर पड़े कागजों पर लिखने की जो दास्तानें आती हैं, वे भी शायद इसी बिखराव के बीच की संगति की ओर इशारा करती हैं। कंप्यूटर ने मेरा यह काम आसान बनाया। मेरे भीतर के बिखराव शायद गुम हो जाते, कई कहानियां अधूरी छूट जातीं, लेकिन वे बनी रहीं, बची रहीं और एक दिन मुकम्मिल हो गईं तो इसलिए भी कि मेरे पास एक कंप्यूटर था।

हो सकता है, इसमें कोई अतिशयोक्ति हो। नई तकनीक के आगे मेरा समर्पण हो। मेरे अपने अभ्यास से निकला तर्क हो। संभव है, मैं अब भी कलम से लिख रहा होता तो भी ऐसा ही अच्छा या बुरा लेखक होता। लेकिन मैं पिछले 20 बरस से कंप्यूटर पर ही लिख रहा हूँ। कहानी-कविता और उपन्यास तक मैंने सीधे इस पर लिखे हैं। मुझे नहीं मालूम कि तकनीक ने मेरे लेखन में कोई गुणात्मक प्रभाव डाला है या नहीं, लेकिन इसमें शक नहीं कि मैं जैसा चाहता था, ठीक वैसा ही लेखक हूँ।

ई-4, जनसत्ता, सेक्टर 9,  
वसुंधरा, गाजियाबाद,  
उत्तर प्रदेश  
मो. - 09811901398

विनोद तिवारी

## साम्प्रदायिकता के सवाल और समकालीन हिंदी कहानी

इस लेख को शुरू करते हुए नीरज सिंह की एक कहानी 'सवाल' की याद ताज़ा हो जाती है। सासाराम (बिहार) से निकलने वाली पत्रिका 'अब' ने साम्प्रदायिकता पर एक अंक निकाला था, बाद में संभवतः 'मेरा शहर मुझे वापस दे दो' नाम से यह पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इसमें यह कहानी संकलित है। पूरी कहानी की तपस्वील में जाने का यहाँ अवकाश नहीं है। महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है ताज साहब की बेगम का 'सवाल'। यह सवाल ही इस कहानी की जान है। ताज साहब जिस मोहल्ले में रहते हैं उसे छोड़कर किसी ऐसी महफूज़ जगह पर जाने की बात करते हैं, जहाँ "मजहबी जूनून को बढ़ाने वाले, अपने मजहब को सबकुछ मानने वाले लोग नहीं रहते हों। भाई को भाई से लड़ाकर अपनी राजनीति की रोटियां सेंकने वाले लोग नहीं रहते हों बल्कि महज इन्सान और इंसानियत को सबकुछ समझने वाले लोग रहते हों। जहाँ हम अपने विचारों और उसूलों के अनुसार आजादी से जी सकें, महज हिन्दुस्तानी बनकर जी सकें।" ताज साहब की यह बात सुनकर उनकी बेगम जब यह सवाल पूछती हैं कि, " ' इस शहर में या इस समूचे मुल्क में ऐसी भी कोई जगह है क्या ? " तो बीस-बाईस साल पहले पूछा गया उनका यह सवाल अचानक आज फिर मशहूर अभिनेता आमिर खान की पत्नी का सवाल क्यों बन जाता है कि, " क्या हमें यह मुल्क छोड़कर कहीं और चले जाना चाहिए क्योंकि, इस मुल्क में असाधारण रूप से असहनशीलता बढ़ती जा रही है। " जब आमिर खान अपनी पत्नी की इस भावना को सार्वजनिक रूप से साझा करते हैं तो वे देश को तोड़ने वाले एक राष्ट्र-विरोधी मुसलमान हो जाते हैं। सिर्फ और सिर्फ मुसलमान। इस पहचान के सामने उनकी सारी पहचान किसी काम की नहीं। सरकार ने उनकी टिप्पणी को नजरंदाज नहीं किया वरन उन्हें 'इन्क्रेडिबल इंडिया' के विज्ञापन से निकाल बाहर किया। ऐसा आदमी क्या भारत की तस्वीर पेश करेगा। यह तो भारत की छवि बिगाड़ रहा है। अनुपम खेर ने इसी तर्क को आधार बना कर दिल्ली में सच्चे और अच्छे 'भारतीयों' को साथ लेकर कदम-ताल किया। जिसका पारितोषिक उन्हें 'पद्मभूषण' के रूप में प्राप्त हुआ।

एक ऐसे समय में जब हिंदूवादी राजनीति करने वाली पार्टी पूर्ण बहुमत के साथ इस देश की शासन-सत्ता पर काबिज है, जब देश में सहिष्णुता और असहिष्णुता के बीच की बहस खुलकर सड़क से संसद तक गूंजी हो, जब गाय और धर्म को एक दूसरे का पर्याय मान लिया गया हो, जब लव जेहाद व घर वापसी का नारा बुलंद कर साम्प्रदायिक

माहौल बिगाड़ा जा रहा हो, जब अयोध्या में 'बाबरी मस्जिद' की जगह पर 'राम मंदिर' बनाये जाने का हल दूँटें जाने की कोशिशें तेज हो गयी हों और जब विश्व हिन्दू परिषद् हर गाँव में एक 'राम मंदिर' बनाए जाने की कार्ययोजना पर काम कर रहा हो, हिंदी कहानियों में साम्प्रदायिकता के सवाल पर बात करना नए सिरे से उन कहानियों को देखने समझने की मांग प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः देखा जाय तो भूमंडलीकरण ने भारतीय राजनीति में दो तरह की प्रवृत्तियों को फलने-फूलने के लिए बहुत ही उर्वर जमीन मुहैया कराई। पहला, अकूत लूट, खसोट, बेईमानी और भ्रष्टाचार की संस्कृति का एक अबाध और निरापद तंत्र (system) के रूप में विकास और दूसरा, धर्म और सम्प्रदाय आधारित कट्टर मानसिकता से संरचित साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद का उभार, विकास और उसका प्रबन्धन। आर्थिक उदारीकरण के नाम पर इस तरह का सरकारी भ्रष्टाचार और राष्ट्रवाद के नाम धार्मिक-साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काकर एक खास तरह के साम्प्रदायिक-उन्माद को रचने की राजनीतिक मोर्चाबंदी इससे पहले नहीं देखी गयी। यह साम्प्रदायिक-उन्माद एक तरह से आर्थिक उदारीकरण के बाद विकसित उस राजनीति की ही अनुकृति है जिसने 'उपभोक्ता' और 'भक्त' दोनों को एक कर दिया। इसमें, भक्ति चाहे धर्म के प्रति हो, चाहे बाजार के प्रति, चाहे ईश्वर के प्रति हो चाहे राष्ट्र के प्रति, 'कंज्युमरिज्म' में कोई फर्क नहीं पड़ता। 'क्रोनी कैपिटलिज्म' कहीं और से नहीं इसी तंत्र और व्यवस्था से विकसित हुआ है। राष्ट्रीयता और संस्कृति के नाम पर काम करने वाले तमाम तरह के 'डायस्पोरा' (ओं) के काम करने के तरीके और मकसद को आप खंगालिए। दूध का दूध पानी का पानी हो जाएगा। इसीलिए, राष्ट्रीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक, आवासी से लेकर आप्रवासी तक आपको 'राष्ट्र-भक्ति' 'राज-भक्ति' और 'धर्म-भक्ति' के नाम पर एक तरह का एक ग्लोबल मन-मिजाज मिलेगा। भूमंडलीकरण, सांस्कृतिक और धार्मिक बहुलता को किस कदर किसी एक ही धर्म और धारणा के तहत ग्लोबल स्तर पर केंद्रीकृत करता है इसके सबसे बड़े

प्रमाण एन.आर.आइ. हैं। ये एन.आर.आइ. वे लोग हैं जो इस देश को रहने लायक न मानकर या डालर की मोटी कमाई करने के नाम पर इस देश को टाटा-बाय-बाय कर चले थे। पर, इस देश को मेहनत और पसीने से सींचने वाले किसानों, मजदूरों, मेहनतकश लोगों से अचानक वे इसलिए महत्वपूर्ण हो गए कि उनके पास पूंजी, अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी और प्रबंधन का बेहतर कौशल था/है। क्या भारत की सोलहवीं लोकसभा का चुनाव इसी पूंजी, अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी और बेहतर प्रबंधन कौशल पर नहीं लड़ा गया? 'यह 'राजभक्ति' और 'राष्ट्रभक्ति' एक खास तरह की सोच और धारणा द्वारा पिछले कई वर्षों से संचालित 'राष्ट्रवादी' परियोजना का ही प्रतिफल और विस्तार है। मुसलमानों के लिए 'तबलीगी जमात' और हिन्दुओं के लिए 'विश्व हिंदू परिषद्' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस परियोजना की नुमायिन्दगी करने वाले महत्वपूर्ण संगठन हैं। इन दोनों ही संगठनों का बहुराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क है। जिस साल 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की स्थापना ( 1925 ) हुयी उसी साल 'तबलीगी जमात' की भी स्थापना हुयी। "अंतर्राष्ट्रीय स्तर तबलीगी जमात का काम 1951 से ही मिस्र, इराक, सूडान, सीरिया, जार्डन, फिलिस्तीन, लेबनान, यमन, लीबिया, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया, और मोरक्को में है। पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफगानिस्तान, तुर्की, इंडोनेशिया, मलेशिया बर्मा, और श्रीलंका के साथ-साथ अमरीका, अफ्रीका और योरोप के 135 देश तबलीगी की गतिविधियों के दायरे में हैं।" वहीं विश्व हिन्दू परिषद - जिसकी स्थापना राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सरपरस्ती में 1964 में हुई - ने धीरे-धीरे अपनी उपस्थिति अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कायम कर ली है।" अनिवासी भारतीयों के बीच उसे खासी लोकप्रियता और समर्थन हासिल है। विहिप ब्रिटेन और अमरीका में रहने वाले भारतीयों के बीच शुरू से ही काम करती है। अमरीका में उसकी स्थापना 1970 में हुयी। आज वहां के सभी राज्यों में उसकी शाखाएं हैं। वह युवा कार्यक्रम चलाती है, ग्रीष्म-कालीन शिविर लगाती है, एक द्वैमासिक पत्रिका 'हिन्दू विश्व' का प्रकाशन करती है, एक मासिक न्यूज लेटर भी निकालती है, किताबों की दुकानों का संचालन करती है और विश्वविद्यालयों के छात्रों के बीच काम करती है। अनिवासी भारतीय विहिप के लिए काफी मात्रा में कोष उपलब्ध कराते हैं। एक 'इण्डिया डेवलपमेंट एंड रिलीफ फंड' नामक अलाभकारी कर-छूट वाले संगठन के जरिए अनिवासी भारतीयों की रकम संघ परिवार के पास आती है। इस धन से 'वनवासी कल्याण आश्रम' और 'सेवा

भारती' जैसे संगठन चलाये जाते हैं। विहिप 'रामकृष्ण मिशन' 'डिवाइन लाईफ सोसाईटी' और 'इस्कान' जैसे संगठनों की मदद भी करती है।"

हालाँकि, इस परियोजना के बीज आपको 'राष्ट्र-राज्य' की उस बृहत्तर परियोजना में ही मिलेंगे जिसे हमने साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता की गुलामी से मुक्त होने के लिए स्वीकार किया था। यह बात लगभग सभी ने स्वीकार की है कि इस उपमहाद्वीप में साम्प्रदायिकता का जन्म 'आधुनिकता' और 'राष्ट्रवाद' के साथ-साथ हुआ। या इसे यों भी कहा जा सकता है कि, यह औपनिवेशिक आधुनिकता के साथ प्रकट हुआ जिसे पैदा किया उस ब्रिटिश साम्राज्य ने जिसका सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था। राष्ट्रवाद का यह सूर्य ज्यों-ज्यों परवान चढ़ता गया अपने आकार-प्रकार में साम्प्रदायिकता और स्याह, डरावनी और क्रूर होती गयी। क्या ब्रिटिश उपनिवेश बनने से पूर्व भारत में 'नेशनलिज्म' और 'रिलिजियस कम्युनिटी' जैसी संकल्पना मौजूद थी? क्या हिन्दू जातीयता, मुस्लिम कौमियत जैसे अस्मिता (identity) परक समुदायों के रूप में कौमों का विभाजन स्पष्ट था? कदाचित नहीं। इस देश में धार्मिक समुदाय के रूप में 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' समुदायों की जातीय पहचान और निर्मित बहुत पुरानी नहीं है। यह 'निर्मित' यह 'पहचान' उपनिवेशवाद की देन है। इन्हीं अर्थों में पार्थ चटर्जी भारतीय राष्ट्रवाद को औपनिवेशिक आधुनिकता अथवा पश्चिमी आधुनिकता से विरासत में प्राप्त विमर्श (derivative discourse) मानते हैं। पर, बात अब पार्थ चटर्जी के 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रवाद' संबंधी विचार तक ही सीमित नहीं रह गयी है। अब तो 'राष्ट्रवाद' का भी 'ग्लोबलाइजेशन' हो चुका है। उसमें वह शहीदी 'नैतिकता' और 'रोमानियत' अब कहाँ। बल्कि, एक खास ढंग का सांस्कृतिक-राजनीतिक छद्म पसरा है जिसमें 'धर्म' 'मजहब' और 'रिलिजन' की आधारभूत संकल्पनाएँ मटियामेट हो चुकी हैं। आज वैश्विक स्तर पर संचालित साम्प्रदायिकता और आतंकवाद इस ग्लोबल 'राष्ट्रवाद' के नतीजे हैं। इसमें 'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी सभी तरह के पुण्यात्मा और पापी शामिल हैं।

ऐसे परिदृश्य में सांप्रदायिकता की समकालीन समझ और चेतना को जानने-पहचानने की कोशिश में युवा पीढ़ी के कहानीकारों की पिछले दो दशकों की हिंदी कहानियों के 'पाठ' से एक पाठकीय और आलोचकीय रिश्ता कायम करने के बाद जो चेहरा उभरकर सामने आता है उनमें अधिकांश कहानियाँ साम्प्रदायिक दंगों को आधार बना कर लिखी गयी

कहानियाँ हैं। जिनमें अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय पर कट्टर हिन्दूवादी सम्प्रदाय (यों) के क्रूर, हिंसक और भयाक्रांत करने वाले दंगों का विविध चित्रण मिलता है। यहाँ, उन सभी कहानियों का नामोल्लेख करना या उनका क्रमवार सर्वेक्षण पेश करना न तो संभव है और न ही जरूरी। विश्लेषण-विवेचन के लिए मात्र छः कहानियों – यूटोपिया (वंदना राग), परिंदे के इंतजार सा कुछ (नीलाक्षी सिंह), चोर-सिपाही (मो. आरिफ़), शह और मात (राकेश मिश्र), खाल (मनोज पाण्डेय) और दंगा भेजियो मेरे मौला (अनिल यादव) को आधार बनाया गया है। इन पाँच-छः कहानियों का ही चुनाव क्यों इसकी आधी जिम्मेदारी मेरी और आधी संपादक राकेश बिहारी की। गरज यह कि, 'शे'र मेरे हैं सब खवास पसंद / पर मुझे गुफ्तगू अवाम से है।' इसलिए, गाली और प्रसंशा दोनों के समान हकदार हम दोनों ही हैं।

[एक]

“एक पुरानी मस्जिद थी कहीं। कहीं किसी शहर अयोध्या में, जो शायद इसी भारत के किसी कोने का हिस्सा थी। वीडियो में बताया जा रहा था, उस मंदिर की बुनियाद झूठ पर रची थी। कमेंट्री चल रही थी और मस्जिद टूट रही थी। हमें नीच समझा..., डरपोक समझा, हम पर राज किया...। अब तो इकट्ठे हो जाओ और इस मस्जिद को खत्म करो वर्ना नपुंसक कहलाओ। यह संदेश दो हमारी कौम नामर्द नहीं और उन लोगों को कह दो इस देश में रहना है तो यहाँ के बन कर रहें।”- (यूटोपिया)

यूटोपिया बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद की कहानी है। ध्वंस के बाद, मुस्लिम समुदाय पर तारी भय, आतंक और बेबसी की कहानी। शौर्य दिवस के नाम पर हर साल छः दिसंबर के दिन हिन्दूवादी संगठनों के शौर्य, वीरता और मर्दानगी के प्रदर्शन की कहानी और इन सबसे अलग 'आपसी प्रेम और विश्वास' पर 'धर्म' के बलात्कार की कहानी। पहल में प्रकाशित होने के साथ ही यह कहानी खूब चर्चित हुयी। इस कहानी में वंदना ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे का प्रत्यक्ष चित्र कहीं नहीं प्रस्तुत किया है वरन इस देश के मुसलामानों के प्रति कट्टर हिन्दू साम्प्रदायवादियों के दिलो-दिमाग में घृणा और नफरत का जो जहर भरा रहता है, उस मनःस्थिति को, उसकी पूरी सचाई को रचने की कोशिश की है। एक कौम के प्रति दूसरे कौम के लोगों के भीतर कैसे सुनियोजित तरीके से नफरत और हिकारत की भावना पैदा की जाती है, यह कहानी एक हद तक उस नियोजन के लिए

जिम्मेदार चरित्रों को सामने ले आती है, पर सचेत ढंग से एक हद तक ही। इस हद पर आगे बातचीत की जायेगी। अच्युतानन्द गोसाई के चरित्र का विकास और निर्माण जिस ढंग से इस कहानी में किया गया है वही इस कहानी को एक साथ प्रमाणिक और सँदिग्ध दोनों बनाता है। हिंदूवादी संगठन कैसे बेरोजगार हिन्दू नवयुवकों को 'राष्ट्र' के नाम पर बहकाकर उन्हें उग्र, क्रूर और संवेदनहीन बना रहे हैं, इसका भी सटीक चित्रण इस कहानी में किया गया है। लम्पटई (लुम्पेनिज्म) इन मुफ्तखोर और बेकार नवयुवकों का चरित्र है। अच्युतानंद के लम्पट दोस्त यह तय करते हैं कि छः दिसंबर की पूर्व संध्या पर उस लड़की को उठाया जायेगा जिसका नाम नज्जो है, क्योंकि - "अच्छू भैया का दिल कहीं उस मियाइन में अटक गया था। इस बार इस शहर में छः दिसंबर की बरसी अभूतपूर्व ढंग से मनायी जायेगी। साले, अच्छू को तबाह करने पर तुले हैं। सालों को सबक सिखाने के मकसद से मस्जिद गिराई थी, फिर भी नहीं सुधरते, डिस्टर्बेंस पैदा करते रहते हैं ...” और 5 दिसंबर की शाम को रास्ते से नज्जो को उसकी माँ के सामने से उठा लिया जाता है और नगर पार्श्व श्री राममोहन के फ़ार्म हाँउस 'नयी दुनिया' के कमरा न. 1 में तोहफे के रूप में पहुँचा दिया जाता है जहाँ पहले से ही अच्युतानंद गोसाई बेसुध पड़ा हुआ है - "भइया आपके लिए तोहफा है, कल की तारीख में खोलियेगा इसे, गुडनाइट !” यहाँ, एक बात काबिलेगौर है कि, इस 'तोहफे' को खोलना और उसके साथ खेलना अच्युतानंद जैसे नवयुवकों के लिए केवल एक प्लेज़र भर नहीं है बल्कि इस खेल में अपनी साम्प्रदायिक और धार्मिक-राष्ट्रीयता वाली भावना और कर्तव्यनिष्ठा के प्रति दृढ़ संलग्नता और सन्नद्धता को प्रमाणित करने का माकूल मौका भी है। वर्ना तो, अच्युतानंद गोसाई अपने किशोरवय में कितना शर्मीला और संकोची स्वाभाव का लड़का था, नज्जो की माँ ने "बचपन में उस लड़के को कई एक बार पुचकारा था, कैसे गुलाबी होंठ थे उस लड़के के, एकदम लड़कियों जैसे नर्म”। उसी लड़कियों जैसे नर्म लड़के को उसकी दूकान पर काम करते देख नगर पार्श्व राममोहन उसे उसके भाई से यह कह कर अपने साथ ले जाते हैं कि, "लड़के को कहाँ उलझा रखा है ? हमारे साथ लगा दो, कुछ पार्टी का काम सिखायेंगे, यहाँ तो पैसे का हिसाब करते-करते यह भरी जवानी में बूढ़ा हो जायेगा।” राममोहन के यहाँ इस तरह से न जाने कितने बेरोजगार नवयुवक पार्टी का काम सीखने के लिए लाये जाते थे। काम सिखाने के नाम पर "सबसे पहले वे (पार्श्व

राममोहन) अपने रंगरूटों को बढ़िया भोजन करवाते थे, फिर पीने पिलाने के तौर-तरीकों की शुरुआत बियर से होती थी। जब लड़के उनके डेरे पर बैठने के आदी हो जाते थे तो उनकी बिधिवत कोचिंग शुरू होती थी। उन्हें धर्म, भारतीय संस्कृति के प्रेरक प्रसंग सुनवाए जाते थे। शहर में यज्ञों का आयोजन, शहर उत्सव समिति में शिरकत और त्यौहार प्रबंधन समिति के लिए तैयार किया जाता था। मकसदहीन लड़के बामकसद हो श्री राममोहन के पूरे मुरीद हो जाते थे।” फिर तो राममोहन के एक इशारे पर ये लड़के कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाते थे। इसी तरह की ट्रेनिंग से अच्युतानंद मंज़ूर तैयार होता है और 'हिन्दू धर्म' और अपनी मातृ-भूमि 'हिन्दू-भूमि' के लिए 'उसके भीतर अंदरूनी अलख' जग जाती है। इस अलख को ज्वालामुखी बनाने के लिए इन नवयुवकों को बार-बार छः दिसंबर का वीडियो दिखाया जाता है कि, कैसे हमने बाबरी मस्जिद का विध्वंस कर अपने धार्मिक और राष्ट्रीय गौरव व स्वाभिमान को पुनर्स्थापित किया।

छः दिसंबर अब सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के लिए 'शौर्य दिवस' है। हर साल यह शौर्य दिवस हिंदूवादी संगठनों द्वारा शहर-शहर कसबे-कसबे में मनाया जाता है। नज्जो ने जबसे पढ़ना सीखा था, उसने जाना था - "उसके शहर की दीवारें कैसे गेरुए अक्षरों से पुती रहती थीं। 'राम लला हम आयेगे/ मंदिर वहीं बनाएँगे।' यह जुमला कभी पुराना नहीं होता था, हर बरस यँही नया और ताज़ा हो दीवारों पर दमक उठता था। उसके अपने घर में भी हर बरस छः दिसंबर से पहले तैयारियाँ कर ली जाती थीं। घर के पर्दों को खींच कर ताना जाता था, दरवाजों पर ताले जड़ दिए जाते थे। मिट्टी के तेल के कनस्तर भरवा लिए जाते थे और छुरों में धार चढ़वाई जाती थी। अम्मी ऐसे समय में कुछ गम खा जाती थीं। वे किसी बाबर को नहीं जानती थीं। उन्हें अयोध्या की सरहदों और उसके होने के बारे में भी बहुत कम ही पता था। यहाँ इस शहर में बैठे-बैठे क्या फर्क पड़ता था, अगर कहीं कोई मस्जिद बचे या ढहे ? मगर पप्पू, गुड्डू और राजा (नज्जो के भाइयों) को फर्क पड़ता था। मौलवी उस्मान अली फर्क पड़वाते थे और इस तरह पूरे मोहल्ले में फर्क एक निहायत जल्बे की तरह हवाओं के हाजमे में फूंक दिया जाता था जिंदा और पोशीदा तरीके से।” 'राष्ट्र-धर्म' के नाम पर जो जहर, जो हिंसक प्रतिशोध नवयुवकों के दिलो-दिमाग में भरा जाता है, घृणा और नफरत की उन्हें जो ट्रेनिंग दी जाती है, उसमें बदला लेना एक तात्कालिक प्रतिक्रिया

भर नहीं होती, वरन वह एक ऐसी मानसिकता है जिसमें मर्दानगी के साथ-साथ देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्निहित होती है कि, इनको सबक सिखाना बहुत जरूरी है। कई बार क्या प्रायः सैन्य-बलों में यही भावना, इसी तरह का जूनून काम करता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि यह जूनून दोनों तरफ है। जहाँ 'इस्लाम खतरे में है' का नारा देकर इस्लामिक संप्रदायीकरण और सांगठनिक धार्मिक एकजुटता की वैश्विक कार्यवाहियाँ हैं, वहीं दूसरी तरफ इसी तर्ज पर 'हिन्दू धर्म खतरे में है' का नारा देकर राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दू धर्म को भी साम्प्रदायिक रंग देने और उस भगवा रंग से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति और उसकी चालें मौजूद हैं। राजनीतिक फायदे के लिए पहले भी अविभाजित भारत में इस तरह की चालें चली गयी हैं, जिन पर खूब लिखा गया है। उनको दोहराना यहाँ जरूरी नहीं। पर एक बात की और ध्यान दिलाना आवश्यक है कि, उस समय हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जो स्वरूप था आज की हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता उससे कई मायनों में भिन्न और खतरनाक है। आज 'नेशन स्टेट' और 'कार्पोरेट' साम्प्रदायिकता को जिस तरह केवल और केवल अपने फायदे के लिए एक 'डिवाइस' की तरह उपयोग में ला रहा है वह अत्यंत खतरनाक है। दरअसल, 'राष्ट्र' एक समग्र प्रक्रिया की संरचित उपलब्धि होता है। 'राष्ट्र-राज्य' इस उपलब्धि को एक व्यवस्था देने वाला तंत्र (सिस्टम) है। दुर्भाग्य से, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों ही इस उपलब्धि और इस व्यवस्था में फेल रहे। 'धर्म' अभी भी इन दोनों के सेंटिमेंट का बहुत ही नाजुक मसला है। इन दोनों ही देशों में 'राष्ट्रवाद' अभी भी 'धर्म' आधारित सेंटिमेंट के द्वारा संचालित होता है। एक में अधिक और दूसरे में थोड़ा कम। पर है यह दोनों में। अन्यथा, क्या कारण है कि है कि जब भी ऐसे राष्ट्रवादियों को शासन-सत्ता में अवसर मिलता है उनके राष्ट्रीय चरित्र, उनका राष्ट्रवाद 'धर्म और संस्कृति' के उस तथाकथित देशभक्ति के रूप में ही प्रकट होता है जिसमें एक दूसरे के प्रति घृणा और नफरत के जहर के सिवा और कुछ नहीं होता। ऐसे में अल्बर्ट आइन्स्टीन की कही हुई वह बात याद आती है कि, "Nationalism is an infantile disease. It is the measles of mankind. (राष्ट्रवाद एक बचकाना मर्ज है। यह मानवजाति का चेचक है)।"

अच्युतानंद के सामने नज्जो की देह पड़ी है, उसे विश्वास ही नहीं होता कि यह सच हो सकता है उसे अब भी यह सपना ही लगता है - "आह! उसने बगल में लिटाई

छाया को छू-छू कर तय करना चाहा, ये सच है या सपना ? क्या... ? सबसे पहले उसने दहकते अंगारों की दहक परखने की कोशिश की। उसकी उँगलियों में जुम्बिश हुयी और अनारों को छूते हुए उसके हाथ जल गए।" जिस देह को अब तक वह सपना समझता रहा था वही देह उसके सामने एक अवश सचाई बन कर नए साल के तोहफे के रूप में पड़ी है। अच्युतानंद की वासना अपने पूरे जूनून पर है। कामना और वासना का यह जूनून तब और दोगुना हो जाता है जब इसमें शौर्य और मर्दानगी का वह पुरुषार्थ भी शामिल हो जाता है जिसे उसने श्री राममोहन के यहाँ उस वीडियो फिल्म में बार-बार देखा था- "वो एक टूटी फूटी सी मस्जिद, उसके आस-पास हज़ारों कारसेवक, मस्जिद के ऊपर चढ़े लोग, चीखती आवाज़ें, 'एक धक्का और दो...'।" उत्तेजना से उसका पूरा शरीर फड़कने लगा, उसने अपना मोर्चा संभाला, उसके कानों में वही-वही आवाजों की रेलमपेल मच गयी। घड़ी की टिकटिक, समय का बदलना, नए दिन का आगाज, नयी दुनिया की ईजाद..., के स्वर से स्वर मिला सारी की सारी पृथ्वी थरथरायी और अलसुबह शौर्य दिवस का सूरज इस्तकबाल में इठलाता चला आया।" कहानी शौर्य दिवस के इसी इठलाते सूर्योदय के साथ खत्म होती है। बाबरी मस्जिद और नज्जो की देह में यहाँ कोई अंतर नहीं। जैसे छल और बलपूर्वक बाबरी मस्जिद के ऊपर चढ़कर उसे क्षत-विक्षत कर अधिकार में ले लिया जाता है, उसी तरह नज्जो की देह पर भी बलपूर्वक अधिकार किया जाता है। इसके साथ ही पारस्परिक प्रेम, विश्वास और सद्भाव का वह झीना भरम भी टूट जाता है जिसे बचपन में एक ही मोहल्ले में रहते, हुए साथ-साथ खेलते हुए कभी अच्युतानंद और नज्जो ने महसूस किया था। नज्जो की माँ ने महसूस किया था। पर नहीं हिन्दू-मुस्लिम ये दो कौमें हैं, दो राष्ट्र हैं, इनके बीच कभी भी प्रेम, सद्भाव और विश्वास कायम नहीं हो सकता। इसकी अपेक्षा करना यूटोपिया है।

यूटोपिया के इस निष्कर्ष तक पहुँचने में यह कहानी जिन परिस्थितियों का या यह कहें कि जिस एक ही तरह की सिचुएशन का सहारा लेती है (जो कि कहानी में वह बार-बार दोहराई जाती है) वही इस कहानी की ताकत भी है और कमजोरी भी। ताकत इस लिहाज से कि बहुत अधिक चरित्रों, घटनाओं और ब्यौरों से यह कहानी बच जाती है जो कि आज की हिंदी कहानी की कई बड़ी मुश्किलों में से एक है। पर, कमजोरी इस तरह कि, बार-बार छः दिसंबर की गूँजें-अनुगूँजें एक जज्बाती टेक की तरह कहानी में सुनायी देती



हैं। गोया, यह टेक छूट गयी तो कहानी भी हाथ से छूट जायेगी। एक प्रसिद्ध रूसी मुहावरा है, “अतीत का विचार करोगे तो अपनी एक आँख गँवा बैठोगे और अतीत को छोड़ दोगे तो अपनी दोनों आँखें गँवा बैठोगे।” यूटोपिया बार-बार केंद्र से परिधि की ओर जाने वाली और बार-बार परिधि से केंद्र में लौट आने वाले शिल्प की कहानी है। अच्छा होता कि कहानी अपनी केन्द्रीयता में परिधि से केंद्र की ओर बढ़ती तो संभवतः निर्धारित केन्द्रीयता को पूरी अनिवार्यता के साथ स्थापित कर पाती। निश्चित ही ऐसी कहानियों में अतीत से मुक्ति संभव नहीं पर उसके तनाव और असंतुलन को अपने सृजनात्मक हुनर से साध पाना ही तो कला है। इस कहानी के परिस्थिति निर्माण में सरलीकरण के तत्व अधिक हैं। इसीलिए, साम्प्रदायिकता पर लिखी गयी इधर की तमाम हिंदी कहानियों के प्रचलित सामान्य मुहावरे से अलग होते हुए भी यह कहानी इस आरोप से मुक्त नहीं हो सकती कि यह एक ‘नुस्खे’ के सहारे बुनी हुयी कहानी है। यूँ तो हर कहानी ही किसी न किसी नुस्खे का सहारा लेती है, लेती रही है। नुस्खे का प्रयोग कहानी के लिए उतना ही पुराना है जितनी कि कहानी कला। पर, जब किसी वास्तविक घटना को कहानी का विषय बनाया जाता है तो जरूरी यह है कि उस प्रस्तुत नुस्खे को कहानीपन में बदल कर यथार्थ का पुनःसृजन किया जाय जो सरलीकृत ढंग से सतह पर पसरा हुआ मिला था। वास्तव में, एक लेखक अपनी रचनात्मक चेतना, जीवन-जगत के अनुभव और समकालीन विवेक से अपने साहित्यिक चरित्रों में अपना समकक्ष ढूँढता है। अपनी रचना में उसे पा लेना ही दरअसल उसकी कलात्मक उपलब्धि है। नज्जो में तो नहीं पर अच्युतानंद गोसाईं में कहीं कहीं इसकी झलक मिलती है पर वह भी एक सघन अनुभवात्मक निर्मिति में नहीं परिणत हो पाती। बल्कि सुनी-सुनाई बातों के सामयिक मुहावरे में ही घट कर रह जाती है। यही वह सीमा है जिसकी बात लेख के शुरू में उठाई गयी थी। इसका जो सबसे मूलभूत कारण है, वह इन दोनों कौमों के बीच वास्तविक उनकी ज़मीनी सचाइयों और उनके तनावों से उत्पन्न समकालीन परिस्थितियों की पकड़ और उसके अनुभवात्मक विस्तार को सृजनात्मक ऊँचाई न दे पाना। अपनी वस्तुगत निर्मिति की दृष्टि से यह कहानी इतिहास में दर्ज की जाने वाली कहानी तो है पर अपने ‘समय’ का अतिक्रमण कर क्लासिक नहीं बन पाती।

[दो]

“अम्मी चौकी। मेरी बात से नहीं...समाचार का

वक्त खिसकते जाने से। उन्होंने टी. वी. आन कर दिया। परदे पर बाबर जानी की मस्जिद टूटी पड़ी थी। मैंने तारीख याद की। छः दिसंबर.. अम्मी अवाक थीं। टी.वी. के भीतर शोर था। उसके बाहर भी शोर था... अचानक मुझे अहसास हुआ। मैंने दौड़ कर टी. वी. की आवाज धीमी कर दी। सोफे पर बैठ गयी। फिर वे अचानक उठीं और उन्होंने खिड़कियाँ बंद कर बल्लियाँ बुझा दीं। मुझे करंट छू गया। - (परिंदे के इंतजार सा कुछ)

वंदना राग की कहानी ‘यूटोपिया’ में शुरू में प्रेम सम्बन्धी कुछ संकेतों के द्वारा पाठक को आभास होता है कि, अच्युतानंद गोसाईं नज्जो को प्यार करता है। लेकिन नहीं, अच्युतानंद के लिए नज्जो की देह का आकर्षण ही है जो प्रेम का भ्रम पैदा करता है अथवा कहानीकार ने जान बूझकर इस भ्रम को निर्मित किया है। क्योंकि, अंत में जिस तरह से उस देह को वह प्राप्त करता है उससे वह सारा भ्रम टूट जाता है। इसलिए, ‘यूटोपिया’ प्रेम कहानी के ताने-बाने में साम्प्रदायिकता के चित्रण की कहानी नहीं है। वह साम्प्रदायिक नफरत, और तदुत्पन्न जघन्य प्रतिक्रियात्मक कृत्य की कहानी है। इसके ठीक उलट नीलाक्षी सिंह की कहानी ‘परिंदे के इंतजार सा कुछ’ मूलतः एक प्रेम कहानी है। साम्प्रदायिक घृणा और नफरत के तनाव में यह प्रेम कहानी कैसे टूटती है, खत्म होती है, इसकी कहानी है ‘परिंदे के इंतजार सा कुछ’। ‘बाबरी मस्जिद’ का टूटना इन दोनों कहानियों का ‘मोटिव’ है अंतर बस इतना है कि यूटोपिया में जो ‘बाबरी मस्जिद’ है वह भूतकाल में है, क्षत-विक्षत छः दिसम्बर के एक भयावह तवारीख के रूप में। जबकि ‘परिंदे के इंतजार सा कुछ’ में जो ‘कहानी-समय’ है वह वही समय है जब बाबरी मस्जिद टूटती है और पूरी दुनिया के नक्शे में उत्तरप्रदेश का वह छोटा सा शहर अयोध्या उभर कर हिन्दुओं के शौर्य और गौरव के प्रतीक के रूप में सामने आता है। इस कहानी में उसी समय और परिवेश को लिया गया है जब पूरा हिंदूवादी संगठनों द्वारा इस देश को, उसकी धर्मनिरपेक्ष छवि को, उसकी सांस्कृतिक रहन को कलंकित किया जाता है। पूरा राष्ट्र इस कृत्य से शर्मशार हुआ। यह कहानी इसी ‘देश’ और ‘काल’ को अपना विषय बनाती है। ‘प्रेम कहानी’ जैसे एक नुस्खे के द्वारा ही इस कहानी को कहा गया है पर इस कहानी को प्रस्तुत करने का जो ढंग है उसके चलते यह नुस्खे वाली कहानी होने से अपने को बचा लेती है। जैसा कि, पूर्व में ही कहा गया है कि केवल नुस्खे का प्रयोग करने मात्र से कोई कहानी कमजोर नहीं होती। उस नुस्खे के साथ

लेखक की अपनी रचनात्मक कल्पनाशीलता किस तरह के भाषिक शिल्प में सामने आती है मुद्दा यह है। अब सवाल यह है कि, इस तरह का शिल्प कहानी के अपने विषयगत 'प्लॉट' और उसकी 'ओब्जेक्टिविटी' को सधन करता है या केवल परिधि को ही सजाता, संवारता जब केंद्र में स्थिर होता है तो कहानी की केन्द्रीयता गढ़त प्रतीत होती है या स्वाभाविक। क्योंकि, इस शिल्प में एक तरह की भाववादी-कलावादी बाजीगरी होती है और यह बाजीगरी, यह कौशल युवा पीढ़ी के प्रायः सभी कहानीकारों में है। इस बिंदु पर आगे बात की जायेगी।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के तानेबाने में नसरीन अख्तर और शिरीष की इस प्रेम कहानी को नीलाक्षी सिंह जिस तरह से प्रस्तुत करती हैं वह उनकी सृजनात्मक क्षमता का बेहतर नमूना है। यह कहानी अपने विषय-वस्तु में जिस सधे हाथ से कहानीपन को साधती और संरचित करती है, उसकी इस संरचना और उसके प्रस्तुतीकरण की तकनीक और तरकीब के नाते यह हिंदी की युवा-पीढ़ी के कहानीकारों की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों में उद्धृत की जाती है। कहानी को जिस सिनेमाई तरीके और तरकीब में पेश किया गया है उसके चलते इस कहानी में पाठकों को एक तरह की दृश्य-परकता का आभासी सुखबोध (विजुअल यूफोरिया) भी होता है। कहानी जिस प्रस्तावना और उस प्रस्तावना के सहवर्ती दृश्य से शुरू होती है वह काबिलेगौर है - "खुशक गर्मियों के ठीक बाद के दिनों की शुरुआत थी। रह रह कर दरख्तों में कोई एक नम्रजान पत्ती काँप उठती। लंबी कतार में शाख विशाख हो फैले कचनार के नीचे मुझे पहली बार दिखा था, शिरीष। मैं, नसरीन अख्तर...मेरी उमर तब बाईस साल, चार महीने, सत्रह दिन। ये साल, ये महीने, ये दिन...सब कैद हो जाने चाहिए तारीख में...वजह...यहीं से मेरी जिंदगी पलटी खाती है। मैं चलती-चलती बुरी तरह लँगड़ा गयी थी। दाहिनी एड़ी मुड़ी पड़ी थी और सैंडिल की हील लचकी जान पड़ी। मैं झुक कर ठोंक-पीट मचा कर हार चुकने के बाद उस अपनी जगह से पूरी तरह हिल चुकी चीज को हाथ में लेकर फर्स्ट एड की किस्म का कुछ कर ही रही थी कि मेरे साथ खड़ी भली-सी लड़की मनी को किसी मर्दानी आवाज ने पुकारा। मामूली ना-नुकर के बाद पहचान निकल आयी। मनी ने शिरीष के साथ कभी दस ग्यारह साल गये पढ़ाई की थी। भली लड़की का भला परिचित नजदीकी मोची का पता थमा गया। मैं अपने पचड़े में ऐसी खस्ताहाल थी कि उसके बारे में कोई खास राय कायम किये बगैर मोची तक बढ़

गयी... हमारी ये पहली मुलाकात बगैर कुछ घटवाये, बड़े सस्ते भाव गुजर गयी थी।"

नसरीन और शिरीष की यह पहली मुलाकात बगैर कुछ घटवाये, बड़े सस्ते भाव से गुजर तो गयी पर कहानीकार ने इसके तुरंत बाद ही कॉलेज के कैटीन में फिर दोनों को मिला दिया। दोनों में परिचय हुआ। मनी, ने - जो उसकी 'बैचमेट' और उससे बस 'दस घर के फासले पर रहने वाली' कान्यकुब्ज ब्राह्मण लड़की थी, यह परिचय कराया। फिर तो 'मैं, मनी और वह'। दो से चार भले। और सचमुच में इन तीनों के साथ चार और दोस्तों को जोड़कर कहानीकार ने सात दोस्तों का एक 'ग्रुप' बना दिया। इस इन्द्रधनुषी ग्रुप का नाम रखा गया - 'नासमझ' (NASAMJH)। नसरीन, अतुल, शिरीष, अनन्या, मनी, ज्योति और हर्ष, सबके नाम के पहले अक्षर को लेकर बनाया गया अर्थपूर्ण नाम 'नासमझ'। अर्थपूर्ण इस लिहाज से कि, यह समूह किसी विचार, किसी दायित्व या किसी सामाजिक-राजनीतिक कर्तव्य-बोध से उपजी सोच का नतीजा नहीं है बल्कि यँ ही एकसाथ पढ़ने, घूमने और आये दिन पिकनिक पर जाने वाले दोस्तों का गठजोड़ है। "मनी का तो परिचय मिल ही गया है। अनन्या अमीर घर से ताल्लुक रखती थी और बैडमिंटन की अच्छी खिलाड़ी थी। ज्योति बड़ी उजली, लेकिन जरा मोटी। बगैर कपट के शांत हँसी हँसने वाली लड़की। तीन लड़कों में एक शिरीष, एक हर्ष जो बेहद चुप्पा था और एक अतुल, वह इतना भोला था कि मैं उसे दिन में सात बार के औसत से उल्लू बनाती थी। हम लोग ब्रेक में, लंच में, शाम में, सुबह में...अक्सर मिल लेते।"

शिरीष से 'न-स-र' की दोस्ती चाय पीने और चेखव के पढ़ने पढ़वाने की बातचीत से धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। एक रोज जब दोनों 'क्लास खत्म होने के बाद मैदान में छितर-छितर कर बैठे थे बेमकसद...तो शिरीष उसके पास खिसक आया। उसने पूछा - "तुमने कभी परिंदों के पैरों की पोजीशन पर गौर किया है, जब वे उड़ रहे होते हैं? नहीं तो! देखो आज देखो इम्तीनान से। तुम्हें क्या लगता है? इतने ऊपर उड़ रहे हैं। मुझे नहीं दिखता। तुम पागल हो। तुम बेवकूफ। उसने कहा। अब गर्मी नहीं पड़ती कि हाफ आस्तीन पर ही टिके रहो। पूरे आस्तीन की कमीज पहन लेते तो कम जँचने का डर था क्या? बस...सुबह से मैं राह देख रहा था। तुम कुछ कहती क्यों नहीं...अभी टोक दिया तुमने...अब हाफ शर्ट पहन कर ठंडक में काँपते हुए आना सफल हुआ। बस। मैंने मुँह चढ़ा लिया। वह चुप बैठा रहा कुछ देर। फिर

उसने कहा, वो देखो...वो...उस मैना का नाम नसर है, जिसकी नजर कमजोर है, जिसे नहीं दिखता कि परिंदे उड़ते वक्त अपने पैरों का क्या करते हैं। न...स...र... नसरीन अख्तर...। मेरे सीने में कुछ तेज-सा चुभा और मैंने उसे कस कर हथेली से दाब दिया और घुटनों पर झुक गयी।” ‘न-स-र’ के सीने की यह टीस, यह चुभन हथेली से दाबने से भला कहाँ दबने वाली थी। शिरीष अब उसके लिए “एक खूबसूरत अहसास था। एक दोस्त। जिंदगी में पहला मर्द दोस्त। मर्द कहने में पेशानी लगती थी। लेकिन हकीकत यही थी। वह मर्द था लेकिन फिर भी अपने हाथों दोस्त बना लिया गया था। उसका होना मुझे सहेजने लगा था। उसके होते यह ख्वाहिश होती थी कि उससे उलझा जाए। उसके न होने पर अफसोस भी होता झगड़े का, हँसी भी आती और फिर से झगड़ने का बहाना भी वहीं से हाथ आता। उसके होने पर मैं उसकी हर बात को काटती और उसके न होने पर हर बात को जोड़ती। उसके होने पर मैं उसके पहले न होने की वजह पूछती और उसके न होने पर, उसके तब होने को परखती। उसके होने पर मैं बच्ची बन जाती और उसके न होने पर उसकी माँ बन जाती।” यह एहसास, इस मासूम अहसास को दर्ज करने वाली यह भाषा, इस भाषा में दो जवाँ दिलों की धड़कने सुनकर कहीं आपको ‘गुनाहों के देवता’ के सुधा-चंदर की याद तो ताज़ा नहीं हो आयी? पर, यह ‘गुनाहों का देवता’ वाली प्रेम कहानी नहीं। यह एक हिन्दू लड़के और मुसलमान लड़की की प्रेम कहानी है। धर्म और समाज के लिए साम्प्रदायिकता जैसे खतरनाक और असाध्य रोग को प्रकट करने वाली प्रेम कहानी।

प्रेम की चुभन का एहसास अभी नसरीन घुटनों पर झुकी अपने सीने में महसूस ही रही होती है कि, ऐसे फ़िल्मी सीन के तुरंत बाद ही अचानक कहानीकार को याद आता है कि कहानी का लक्ष्य इस तरह की कोरी भावुकता नहीं है, कहानी को इस भावुकता से निकालना होगा। उसे उसके केंद्र की ओर ले चलना होगा। और तभी बिना किसी संदर्भ-प्रसंग के (यहाँ आप उस तथाकथित सरलीकृत कथ्य का प्रमाण की तरह सहारा लेकर कहने के लिए स्वतंत्र हैं कि अध्यापकीय आलोचना बिना सन्दर्भ-प्रसंग के सोच ही नहीं पाती) यह उद्धरण कहानीकार की ओर से चेंप दिया जाता है – “ये खबर लपट की तरह बढ़ चली थी कि दो साल बीते जिस बूढ़े हिंदू ने काठ के रथ पर सवार होकर एक मस्जिद के विनाश के लिए कمر कस ली थी, वही, उस बार असफल हो जाने पर, अब एक बार फिर...अपने तीर तरकश इकट्ठा

कर रहा था। उस मस्जिद का ढह जाना उतना ही जरूरी था, जितना कि उसका न ढहना। मस्जिद के ढहने, न ढहने – दोनों स्थितियों में खून का बहना तय था। लोगबाग अपनी नस्ल का खून पहचानते थे और वे दूसरे गुटों से खींच-खींच कर अपनी नस्ल वालों को अपने पास जमा कर लेना चाहते थे, ताकि इकट्ठे रह कर वे अपने खून को बचा सकें।...वह मस्जिद कभी भी ढहायी जा सकती थी, उनके हाथों, जो अपने को कारसेवक कहते थे। बस लोग दिल को पकड़ कर उसी घड़ी का इंतजार कर रहे थे। क्योंकि उसके बाद या तो उनके खून का रहना तय था, या उनके खून के प्यासों के खून का। मैं उसी ज़हरीले समय में साँसें खींच रही थी। आप सोचेंगे ये कैसी लड़की है जो बस अपनी बातें करती है। न घर की बात, न परिवार की बात, न समय की बात, न समाज की बात, न दोस्तों की बात, न बिरादरी की बात। बस अपनी और एक खास इंसान की बात, दरअसल मैं इन दोनों की बात नहीं करती। यदि वह मेरी जिंदगी में आया न होता तो मैं किसी की भी बात नहीं करती। तब यकीनन मेरी जिंदगी में सब कुछ बेखास ही होता। शिरीष ने मुझे अपने आप से जोड़ा। और तब मैं अपनी दुनिया से अपने को जोड़ रही थी। देखूँ तो ये दुनिया है कैसी शुरुआत अम्मी से ही...।”

फिर तो दुनिया को देखने की ऐसी शुरुआत होती है जो बिना सांस लिए चलती चली जाते हैं। बातों की रील कहीं पर रुकती ही नहीं। बातों के चित्र एक एक कर सेल्युलायिड पर चलते चले जाते हैं। रेखाचित्र बनते चले जाते हैं। पहले अम्मी का फिर मनी का, फिर एक-एक कर अनन्या, ज्योति, हर्ष और अतुल का। कहानी का एक तिहाई हिस्सा इन चरित्रों के रेखाचित्र बनाने में सर्फ किया गया है। हर एक के गुणधर्म का विस्तार से वर्णन। गरज यह कि, इन्हीं के माध्यम से नैरेटर दुनिया के साथ अपने होने को दर्ज कर सकता है। जबकि, मूल कथा के लिहाज से इतने विस्तार से प्रत्येक चरित्र का, उसके गुणधर्म के आधार पर रेखाचित्र बनाने की जरूरत क्यों, यह बात समझ में नहीं आती। वही वाली बात है, ‘लिखते रुक्का लिख गए दफ्तर, शौक ने बात क्या बढ़ाई है।’ दिलचस्प यह है कि, वर्णन के इस शौक में कहानीकार कई जगह अपनी ही बात को परस्पर काटती चलती है। वह खुद ही सुनिश्चित नहीं कर पाती कि वह कहना क्या चाह रही है और कह क्या रही है। जैसे कुछ उदहारण :

1. एक सुराख जो उनके मन में कभी बन चुका था, उन्हें किसी चीज से जुड़ने नहीं देता। चाहे वो चीज उनकी

इकलौती औलाद ही क्यों न हो। हम दोनों में दुनियादारी की तमाम बातें होतीं पर दिल का हिसाब किताब हमारे दरम्यान नहीं होता। अम्मी जितनी खोलें बेरुखी की, अपने ऊपर चढ़ाती जातीं, उतनी ही खोलें मेरे लिए भी छोड़ती जातीं और तब मेरे पास उन खोलों को अपने ऊपर ओढ़ लेने के सिवा कोई चारा न होता।

अपनी अम्मी के लिए 'सुराख' 'दिल के हिसाब-किताब' 'खोलें' जैसे इन लक्षणों को अगले ही अनुच्छेद में खुद नसरीन ही जैसे झुठला दे रही हो - "अम्मी की कोई दोस्त न थी, न कोई राजदार। वह कभी खुशी का इजहार न करतीं, तो कभी गम को भी नहीं सँजोतीं।" अगर गम को अम्मी संजोतीं नहीं तो दिल को चाक कर देने वाला वह कौन सा गम है जिसके चलते उनके मन में एक सुराख बन गया था।

2. और आखिर में अतुल। वह जब मुस्कराता तो उसके बायें गाल में लड़कियों की तरह गड्ढे पड़ते थे। प्यारा लड़का..., जो बातें बहुत करता था। उसे नाराज कर देना ज्यादा आसान था कि मना लेना... मैं जान नहीं पायी।

यह जान न पाना जानबूझकर है या स्वाभाविक, इस अनिश्चितता को पाठक जरूर जान लेता है। यह वही भाववादी-कलावादी बाजीगरी का शिल्प है जिसकी बात ऊपर कही गयी है। क्योंकि, सत्य यही है कि शिल्प, टेक्निक और भाषा की योग्यता के आधार पर कथावस्तु को कहानीकार 'डेकोरेट' करके वातावरण को घनीभूत तो कर सकता है पर उससे असलियत नहीं पैदा की जा सकती।

15-20 पेज के इस अनपेक्षित वर्णन के बाद कहानीकार को पुनश्च ध्यान आता है कि अब तो कहानी अंत की ओर बढ़ रही है अब गंतव्य पर उतरने के लिए यात्रा के सारे सामान समेटने होंगे। और फिर अचानक नैरेटर उपस्थित होता है, कहानी अपने केंद्र से दूर न चली जाय इस चिंता के साथ - "जिंदगी का ऐसा ही खूबसूरत जायका मेरे काबू में था कि तभी वह खबर लपट की तरह बढ़ी आयी कि कारसेवक बाबर जानी की उस मस्जिद को तोड़ डालने के लिए मोर्चाबंदी कर चुके थे। लोगों में सनसनी फैल गयी। बल्कि ऐसा कहें कि एक सनसनी जो उनमें फैली हुई थी, उसे नाम मिल गया। लोग एक साथ उत्तेजित भी हुए और घबड़ा भी गये। वे फैसला नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें दूसरों की जान के पीछे पड़ना है या कि अपनी जान बचानी है? इस राष्ट्रीय असमंजस वाले हालात से बेपरवाह... मेरे ग्रुप का कार्यक्रम झटपट तैयार

हो गया... अगले इतवार हम साथ मिल कर कहीं चलते हैं, पिकनिक मनाने।" इस राष्ट्रीय समस्या से बेपरवाह पिकनिक मनाने जाने की यह चाहना जिस सामाजिक और राजनीतिक चेतना-शून्यता को सामने ले आती है उससे साफ है कि इन युवाओं का अपने 'समय' के प्रति किस तरह का रवैया है। कहानीकार ने जिस तरह से इस कहानी में युवाओं के इस बेपरवाह 'ट्रेंड' को प्रस्तुत किया है वह अविश्वसनीय नहीं लगता। उत्तर-पूँजीवादी नव-उदारवाद की लहर में उपजी यह वह पीढ़ी है जिसे देश या राज्य की किसी राजनीतिक या सामाजिक समस्याओं से सीधा कोई सरोकार नहीं है। यह पीढ़ी मार्केट को साधने वाली पीढ़ी है। इनका कंसर्न 'मुक्त बाज़ार' में सभी तरह के वैचारिक दृष्टियों और सरोकारों से मुक्त होना है। यह 'नेटवर्क' वाली पीढ़ी है। अन्यथा क्या कारण है कि, इस कहानी में जो आसन्न राष्ट्रीय संकट है उसको जानते-समझते हुए भी उसके लिए चिंतित होने की बात कौन कहे ये युवा पिकनिक मानते हैं | जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट के प्रसिद्ध निबंध 'ज्ञानोदय क्या है? (What is Enlightenment?)' की आलोचना करते हुए जो बात मिशेल फूको ने कही थी कि, "या तो तुम ज्ञानोदय को चुनो और उसकी तर्कशील पद्धति के साथ रहो या फिर ज्ञानोदय की आलोचना करो और उसकी तर्कशील पद्धति से बचे रहो।" अगर इसी बात को दूसरे ढंग से भूमंडलीकरण के बारे में लागू किया जाय तो कहा जा सकता है कि, "या तो तुम भूमंडलीकरण को चुनो और उसके फैलाए अर्थतंत्र के साथ चलो या फिर उसकी आलोचना करो और बाजारवाद के मायाजाल से बचे रहो। कहना न होगा कि युवा पीढ़ी का अधिकांश किस ओर है।

बाबरी मस्जिद को तोड़ने के लिए जिस मोर्चाबन्दी की बात ऊपर कही गयी है वह सच साबित होती है। 6 दिसंबर को बाबरी मस्जिद का नामोनिशान मिटा दिया जाता है, बाबर जानी की मस्जिद नेस्तनाबूत कर दी जाती है। पूरे देश में राष्ट्रस्वभिमानी साम्प्रदायिक ज्वार पूरे उफान पर है | ऐसे में नसरीन की अम्मी की चिंता उन्हें हलकान किये हुए थी, वह - "रात को दरवाजे की छेद से आँखें सटा कर बार बार बाहर झाँकतीं। अम्मी बार-बार अपने से वायदा कर रही थीं कि हालात यदि एक बार सँभल गये तो वे दूसरे मुसलमानों की तरह इस इलाके को छोड़ कर अपने गढ़ में जा बसेंगी। लेकिन हम बच पाएँगे... सवाल वही था एक। नसरीन की अम्मी के लिए यह डरावना आतंक और उससे निकल पाने की, जीवन को बचा पाने की यह मजबूर लालसा

केवल उनकी ही नहीं बल्कि इस देश के उन तमाम मुसलमानों की है। नसरीन और उसकी मम्मी को अगली ही सुबह 'नासमझ' ग्रुप के उसके दोस्त शिरीष, अतुल और हर्ष उनको वहां से निकाल कर हर्ष के घर ले जाते हैं जिससे लोगों को शक न हो और वे दोनों माँ बेटी महफूज रह सकें। नसरीन की अम्मी को उसके दोस्तों पर एक तरह का विश्वास था कि वे उनके साथ बुरा नहीं करेंगे। फिर भी उनके मन में अपने मुसलमान होने और उनके हिन्दू होने के नाते जो दूरी बन गयी थी वह आड़े आ रही थी। नसरीन सोचती है - "भगवान की जमीन पर वह मस्जिद हमने नहीं बनायी थी न इन लोगों का कोई हाथ उस मस्जिद को तोड़ने में था। फिर भी हम दोनों खेमे के लोग कतरा कर गुनहगारों की तरह खड़े थे। एक दीवार थी, जो हमेशा से थी। जिसे बीच-बीच के ये वाक्य और पुख्ता बना रहे थे। वही दीवार हमें एक दूसरे से नज़रें नहीं मिलाने दे रही थी। इमारत ही गिरानी थी तो गिराने के लिए यह दीवार ही क्या बुरी थी!" दो दिनों में धीरे-धीरे हर्ष की माँ और बहनों के साथ घुलने-मिलने से नसरीन की अम्मी का मन थोड़ा हल्का हुआ। पर, अचानक दृश्य परिवर्तित हुआ और नसरीन की मामूजान अपने साथ अपनी कौम के कुछ लोगों को लेकर आ धमके और जबरदस्ती उन दोनों को वहां से ले जाने की जिद करने लगे - "यहाँ तुम दोनों को सब मार डालेंगे। ये स्या..." उसके बाद वही जानी पहचानी चीजें... मैं सुनती रही... जिन्हें पिछले दिनों यूनिवर्सिटी आने जाने में सुनती थी। सब कुछ वही था, बस 'मुसलमानों' की जगह 'हिंदू' चिपका दिया गया था यहाँ। मैं अब एकदम ठंडी हो चुकी थी - अपने मामूजान को पहचान कर। तभी बाहर खड़े लोगों ने अपना काम कर दिया। घर के एक कोने से आग की लपटें उठने लगीं। मैंने उसका हाथ झटक कर कहा - 'नहीं जाना हमें।' वह मुझे अजूबे की तरह देखने लगा। उसने दाँत पीसे और अम्मी से कहा - चलो वक्त नहीं है हमारे पास ! कैसे कैसे तलाशा है तुम्हारा ठिकाना। इन हरामखोरों के इलाके में हम जान मुट्ठियों में लेकर आए हैं। चल!" दोनों की जिद के आगे जब मामूजान की एक न चली तब उन्होंने गाली बकते हुयी जाते-जाते उस कमरे में आग लगा दी। किसी तरह नसरीन के दोस्तों ने आग बुझाई। पर, अभी समस्या दूसरी थी। भय यह था कि, हर्ष के आस-पड़ोस के लोगों को इस झगड़े-फसाद का पता चल गया तो इन सबकी काहिर नहीं। सारे दोस्त सोच नहीं पाते हैं कि क्या करें। अंत में शिरीष कहता है कि, कल किसी तरह इन दोनों को छुपाकर स्टेशन पहुँचाया जाय और ये यहाँ से दूर मेरे भाई के पास दूसरे शहर में चली जायेंगी। लेकिन अब हर्ष के घर

रुकना महफूज नहीं। इसलिए ज्योति के घर चुपके से इन दोनों को पहुँचाया जाता है, जहां से अल्लसुबह उन्हें महफूज जगह पर पहुँचाने के लिए स्टेशन निकलना है। पर, वह सुबह नहीं आती। फ़िल्मी अंदाज में कहानी मोड़ लेती है। ज्योति के घर के सभी लोग जब गहरी नींद में सो रहे होते हैं तो दोनों माँ बेटी चुपके से घर छोड़ कर न जाने कहाँ जाने के लिए निकल पड़ती हैं। अब वे दुनिया में अकेले हैं और सच तो यह है कि - "दुनिया में सबको एक न एक बार ऐसा लगता है कि वह अकेला रह गया है। यह अकेलापन दरअसल अपने आप के होने का बोध है। एसंस आफ आइडेंटिफिकेशन।" जब सुबह शिरीष और उसके दोस्त उन्हें स्टेशन छोड़ने के लिए आते हैं तो वे दोनों वहां से गायब मिलते हैं। शिरीष को उसके नाम का एक लिफाफा मिलता है जिसमें नसरीन की पलकों का एक टूटा हुआ सा मखमली एहसास बंद है जो कभी नसरीन की पलकें चूमते समय टूट कर गिर गए थे और जिन्हें संभालकर रख लिया गया था। शिरीष की आँखों से आंसुओं के ढलकने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह रुकने का नाम ही नहीं लेता। वह उस नसरीन से एक सवाल करता है जो अब वहां नहीं है और उसका जवाब भी खुद ही देता है। दोनों की पारियां अब वह अकेले खेलता है - "क्या आधी रात में इस तरह जाना जरूरी था नसर ? क्या तुम्हारी राह देखी जाए ? उड़ चुके परिंदों का इंतजार सही है क्या ? तुम क्या पाकर लौटोगी नसर ? पाकर नहीं... खोकर। वह खोफ...जो मुझे इंसान की तरह जीने नहीं देता था, हमेशा एक औरत...एक मुसलमान बना डालने की धौंस देता था...उस खौफ को खोकर...अब लौटना होगा।"

इसी के साथ कहानी खत्म होती है। पर, नसरीन आज तक नहीं लौटी। आज तक वह खौफ नहीं दूर हुआ बल्कि सच तो यह है कि वह और अधिक स्याह होता गया है।

[तीन]

"एक बात मुझे बराबर साल रही है। युगों-युगों से एक साथ रहते चले आने के बाद भी हम एक दूसरे से अचानक नफरत क्यों करने लगते हैं ? क्यों एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं ? क्यों भेड़िये बन जाते हैं हम साल में दो-तीन बार। जिस डोर से हम बंधे हैं वह इतनी कमजोर कैसे है। अगर वह कमजोर है तो बंधे कैसे हैं।" - (चोर-सिपाही)

‘चोर-सिपाही’ मो. आरिफ की कहानी है। कभी बहुत पहले इसी नाम की एक फिल्म देखी थी। यह बहुत पुरानी फिल्म है। संभवतः इमरजेंसी के ठीक बाद की ‘76 या ‘77 की। प्रयाग राज निर्देशित इस फिल्म में दो हीरो हैं विनोद खन्ना और शशि कपूर। एक चोर है एक सिपाही। परवीन बाबी हीरोइन हैं। हालाँकि, सिवाय नाम की समानता के इन दोनों की कहानी में कोई समानता नहीं। पर हाँ, इन दोनों कहानियों में बचपन में खेले जाने वाले ‘चोर-सिपाही’ खेल को पृष्ठभूमि जरूर बनाया गया है। मो. आरिफ ने ‘चोर-सिपाही’ में गुजरात में गोधरा नरसंहार को कहानी का विषय नहीं बनाया गया है। इस विषय पर हिंदी में सबसे अच्छी कहानी असगर वजाहत की ‘शाहआलम कैम्प की रूहें’ है। इस कहानी की खूब चर्चा हुयी। मो. आरिफ की कहानी ‘चोर-सिपाही’ अहमदाबाद में श्रृंखलाबद्ध ढंग से हुए बम विस्फोट के बाद पूरे शहर में फैली अफवाहें, आशंका, भय और नीरव सन्नाटे को वातावरण के रूप में लेती है। इस विस्फोट में ज्यादातर हिन्दू समुदाय के लोग मारे गए हैं – “पूरा अहमदाबाद एक बार फिर (गोधरा के बाद) मुसलमानों से खफा है। और उनका गुस्सा बढ़ता ही जा रहा है। बोलते हुए इमाम साहब की आवाज भर आयी...बैठे लोगों के चेहरों पर हवाई उड़ने लगीं। पूरा अहमदाबाद अगर फिर से मुसलमानों से नाराज हो जाएगा तो हम कैसे बचेंगे। कहाँ जायेंगे...लगा इमाम साहब रो पड़ेंगे...सभी बैठे हुए रो पड़ेंगे...मामू रो पड़ेंगे...मैं भी रो पड़ूंगा।” दंगे के बाद पूरे अहमदाबाद में कर्फ्यू लगा दिया गया है। डायरी-लेखन की टेक्निक में बुनी गयी इस कहानी में साम्प्रदायिक नफ़रत और घृणा के चलते बचपन, दोस्ती, प्रेम, विश्वास, सबकुछ को संदेहास्पद, विवश और भयग्रस्त होकर टूटते और खत्म होते हुए दिखाया गया है। साम्प्रदायिक दंगों में बच्चे कैसे एकाकी, अलग-थलग, भयग्रस्त, सूने-सूने और खाली हो जाते हैं सलीम इसका सबसे बड़ा उदहारण है। गुलनाज और पराग मेहता का प्यार कैसे इस घृणा की भेंट चढ़ता है, कैसे पराग मेहता को पीट-पीटकर लहलुहान किया जाता है और अंततः वह अस्पताल में दम तोड़ देता है। कैसे इस्माइल मामू और मनसुख पटेल की गाढ़ी दोस्ती शको-शुबहे के बीच फंसती है, यह कहानी इन इन्दिराजों को बड़ी संजीदगी से पेश करती है।

सलीम, जिसकी डायरी से यह कहानी बनी है, एक दस साल का लड़का है जो छुट्टियों में इलाहाबाद से अपने मामू के यहाँ अहमदाबाद घूमने आया है। जिस दिन वह

अहमदाबाद पहुँचता है उसके अगले दिन ही बम-विस्फोट की दुर्घटना हो जाती है। कर्फ्यू के हालत में वह पूरी तरह से घर में ही कैद होकर रह जाता है। कुछ भी करने या खेलने को न मिलने से वह ऊबता रहता है। करे क्या ? इसलिए वह डायरी लिखता है और घर में ही मामू के बच्चों और उम्र में उससे थोड़ी बड़ी गुलनाज आपा के साथ चोर-सिपाही खेलता है। इसी चोर सिपाही के खेल में घर में जो गुप्त से गुप्त जगहें हैं वह भी उसे पता चलती हैं। उन चोर जगहों का इस्तेमाल घर के सभी सदस्य शहर में साम्प्रदायिक दंगे होने के बाद फैली मार-काट और हिंसा से बचने के लिए करते हैं। मो. आरिफ ने बच्चों के इस खेल को, साम्प्रदायिक हिंसा के समय उत्पन्न भय और आतंक से घबराये बड़े लोगों के डर को इस खेल के माध्यम से जिस प्रतीकात्मक ढंग से चित्रित किया है वह रचनाकार की कल्पना शक्ति और यथार्थ को रचने की उसकी क्षमता को प्रदर्शित करता है। खासकर, वह सिचुएशन कहानी में देखने लायक है जब इस्माइल मामू अपने घर की तरफ अपने सबसे विश्वसनीय किन्तु हिन्दू दोस्त मनसुख पटेल और उनके साथ आयी भीड़ से डरकर घर के सभी लोगों को छिपने के लिए कह कर सबसे सुरक्षित जगह पर खुद छिप जाते हैं। डरे, सहमें, कातर इस्माइल मामू। जब मनसुख पटेल उन्हें उसी दोस्ताना भाव से ढूँढते हैं जैसे वे पहले इस घर में आते। इस्सू, कहाँ हो इस्सू। पर इस्सू तो बेड के नीचे अपना पूरा शरीर सिकोड़कर दम साथे पड़े हुए हैं। इस दृश्य का मार्मिक बिंदु तब उपस्थित होता है जब मनसुख पटेल उन्हें ढूँढते हुए उस बिस्तर तक पहुँच जाते हैं और जब उन्हें इस बात का आभास होता है कि मामू नीचे छिपे हैं – “मैंने महसूस किया कि मनसुख पटेल बड़े मामू को उस दशा में देख कर अचम्भा, अविश्वास, और लाज से तर हो गए। ...मामू उन्हें देखे जा रहे थे – डरे सहमें, दुबके टकटकी बंधे मनसुख पटेल को देखे जा रहे थे मामू। जैसे कोई चोर जो चारों ओर से घिर गया हो और बाहर निकलने के रास्ते बंद हों। जैसे कोई भयभीत मेमना। लेकिन मनसुख न सिपाही लग रहे थे, न शेर, न भेड़िया। ...मनसुख पटेल के मुख से बमुश्किल से मामू का नाम फिसला – ...इस्सू...मा...इल। मामू बुदबुदाए म...न...सुख। फिर मामू ने धीरे-धीरे आँख खोल दी। एक बार फिर बुदबुदाए – मन...सुख मैं बहार निकल सकता हूँ...कुछ करोगे तो नहीं न? मामू जैसे याचना कर रहे हों।” अपने बचपन के गाढ़े दोस्त की यह दयनीयता और उसके भीतर की इस कातर पुकार को सुनकर जैसे जड़ हो गए – “बेड पर हाथ की

पकड़ डली हुयी...संतुलन थोड़ा बिगड़ा और वे वहाँ जमीन पर लुढ़कने लगे, जैसे मूर्छा आई हो।" ऐसी परिस्थिति की मनसुख पटेल ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि, वर्षों की दोस्ती और विश्वास का तह नतीजा होगा। बहुसंख्यक समुदाय का होना मात्र उनके लिए इस कदर शर्मिंदगी का सबब बनेगा कि अपने दोस्त की नजरों में वह भी उन्हीं दंगाइयों की तरह हो गए हैं जो धर्म के नाम पर प्रेम और विश्वास के सभी रिश्ते-नाते अपनी ऊष्मा खो दें।

वस्तुतः, इस्माइल शेख का यह भय निराधार भी नहीं है। गोधरा के समय ही मुसलामानों पर क्या-क्या कहर नहीं बरपाए गए। खुद उनके अब्बा और मझले भाई को गाँधी चौक पर आग लगाकर जिस तरह जला दिया गया था। जिस तरह से मुसलामानों के घर के घर साफ़ कर दिए गए, उनके घरों की बहू बेटियों के साथ जो हुआ, उससे इस तरह के आतंक और भय का पैदा होना स्वाभाविक है। कहानी में, जब गोधरा के उस बर्बर और अमानुषिक कृत्य की याद को सलीम की नानी साझा करते हुए बताने लगती हैं कि, कैसे नामुरादों ने उन्हें भी नहीं छोड़ा था जो बीमार थीं, उन्हें भी नहीं छोड़ा जो मरने को थीं और उन्हें तक नहीं बख्सा जिनके पैर भारी...सातवाँ आठवाँ महीना चल रहा था। इस पर, उनके यहाँ काम करने वाली रहीमन दाई का यह कथन देखना चाहिए - "बस कुछ को छोड़ा। दाई ने नानी को लगभग काटते हुए कहा। किन्हें ? नानी और मामी की आवाज़ एक साथ आयी। ...जब उन्होंने चिल्लाकर कहा...गिड़गिड़ा कर कहा कि, मुझे छोड़ दो, भैया मुझे न छुओ...महीने से हूँ...मासिक धरम हो रहा है। सुनकर वे गुस्से से दन्त पीसते हुए, तलवार भौंजते हुए आगे बढ़ जाते थे।" धरम तो धरम है, भले ही मासिक धरम हो। हिन्दू धर्म में ऐसी वर्जित और त्याज्य समझी जाती है। आपदधर्म में इस मान्यता का इस तरह से प्रयोग कितना करारा व्यंग्य है।

अब, यहाँ इस कहानी को लेकर जो सबसे जरूरी बात है वह यह कि, मो. आरिफ ने इस कहानी में बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता की जगह अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता को कहानी के केंद्र में रखा है। इस तरह की थीम की कहानियाँ हिंदी में कम हैं। मनसुख पटेल और पराग मेहता जैसे चरित्रों का जो विकास इस कहानी में किया गया है वह इस बात का उदहारण है कि दोस्ती और प्यार में मजहब की कोई गांठ नहीं होनी चाहिए। गुलनाज और पराग मेहता के बीच का प्यार, जिसमें पराग मेहता अपनी जान गँवा देता है, प्रचलित

साम्प्रदायिक नुस्खे वाली कहानियों की तरह नहीं खत्म होती। यही इस कहानी की खासियत है। पराग मेहता की हस्पताल में मृत्यु की खबर फैलने के बाद क्या नहीं हो सकता था। क्योंकि, पराग मेहता भा.ज.पा. सांसद वीरशाह मेहता का भांजा था। वह कर्पयुं वाले माहौल में रात को चोरी छिपे गुलनाज के बुलाने पर उससे मिलने उसके घर के पिछले गेट पर पहुँचता है। माहौल को देखते हुए वह लौटने की जल्दी में है। दोनों एक दूसरे को सहेजते हैं, ढाढस बंधाते हैं कि कुछ दिनों में सब ठीक हो जायेगा। गुलनाज उसे समझाती है कि, ठीक से जाना। उधर मस्जिद वाला रास्ता न लेना। पर, पराग मेहता पकड़ा जाता। मस्जिद के पास इकट्ठे लोगों का कहना था कि, "ये हिन्दू लड़का बड़े संदेहास्पद ढंग से मस्जिद के आस-पास घूम रहा था। इसकी मंशा ठीक नहीं लग रही थी। विश्व हिन्दू परिषद का मेंबर है। बुलाने पर भागने लगा।" लोग उसको पकड़कर उसकी जमकर पिटाई करते हैं और पूछते हैं कि इधर क्या कर रहा था। जब वह बताता है कि इस्माइल साहब के यहाँ से आ रहा था, तब लोग उसे उठकर इस्माइल शेख के घर ले आते हैं। पर, वहाँ घर के सभी सदस्य पराग मेहता को नहीं पहचानते हैं। पहचानते भी कैसे ? किसी ने उसे देखा तक नहीं था। पराग मेहता की पहचान तो इस समय गुलनाज के एक हाँ या सर हिलाने की मोहताज थी पर। पर आश्चर्य, गुलनाज पराग को पहचानने से इनकार कर देती है। अस्पताल में पराग मेहता अपना दम तोड़ देता है। पता नहीं, पिटाई और चोट के कारण या गुलनाज के न पहचाने जाने के कारण। आप यहाँ, यह सोच सकते हैं कि, भला वह और करती क्या। जिस घर, परिवार और समाज में इस बात को लेकर हर समय भय, आतंक और बर्बरता पसरी रहती हो कि एक हिन्दू लड़का है एक मुस्लिम लड़की के साथ या एक मुस्लिम लड़का एक हिन्दू लड़की के साथ प्यार कैसे कर सकते हैं, उस समाज में गुलनाज का डर जायज है। कहानी इस बिंदु पर चुप हो जाती है कुछ नहीं कहती।

यह सच है कि, प्रचलित नुस्खे और मुहावरों में साम्प्रदायिकता पर हिंदी में लिखी गयी कहानियों, जिसमें बहुसंख्यक समाज की अल्पसंख्यकों के प्रति जो साम्प्रदायिक घृणा, नफरत और हिंसा की थीम बनाया जाता है, वह कहानी इससे अलग 'टोन' की कहानी है। पराग मेहता और मनसुख पटेल जिस प्यार और विश्वास को अपने अन्दर जीते हैं उसपर संदेह और अविश्वास की लकीर गुलनाज और इस्माइल शेख ही खींचते हैं। इस दृष्टि से यह कहानी मुसलमान समुदाय

की तुलना में बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के प्रति सद्भाव की कहानी है। एक पाठक को निश्चित ही, यह 'पाठ' भिन्न लग सकता है। वह भी तब जब कहानीकार खुद उस अल्पसंख्यक समुदाय से आता हो। पर एक आलोचक के लिए, यह इतना विश्वसनीय पाठ भी नहीं हो पाता। काश! कहानीकार, गुलनाज और इस्माइल शेख के दिलो-दिमाग में घर कर गए भय और आतंक के उन भावों को प्रकट कर पाता, जिसे उसे करना भी चाहिए था, जिसकी चर्चा इस लेख के शुरू करते हुए की गयी है।

[चार]

“इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फौजें लखनऊ की तरफ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुयी थी। लोग बाल-बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इनकी जरा भी फ़िक्र न थी। ...एक दिन दोनों मित्र मस्जिद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मीर साहब उन्हें शिकस्त पर शिकस्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। वह गोरों की फौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार करने के लिए आ रही थी।” यह लखनऊ, वाजिद अली शाह के समय का लखनऊ है जिसका चित्रण प्रेमचंद ने अपनी कहानी ‘शतरंज के खिलाड़ी’ में किया है। जिसका जिक्र राकेश मिश्र की कहानी, ‘शह और मात’ में आता है। राकेश मिश्र की कहानी, ‘शह और मात’ में जो लखनऊ है वह अयोध्या में बाबरी मस्जिद ध्वस्त कर दिए जाने और गोधरा नरसंहार के बाद का लखनऊ है। शुरू में ऐसा लगता है कि यह कहानी दो दोस्तों – आलोक और अनुराग की कहानी है जो दुनियाबी कारणों से एक दूसरे से दूर अलग-अलग शहरों में रहने के लिए विवश हैं, वर्ना कभी वे दोनों ‘शांति’ सीरियल के दोनों दोस्तों की तरह एक साथ रहने का स्वप्न देखा करते थे। आलोक भूमंडलीकरण के बाद, ‘सामंती-पूंजीवादी-युग’ से आगे बढ़ चुकी उस दुनिया का नागरिक है जहाँ ‘सूचना और संचार क्रांति’ के दम पर सब कुछ पाया जा सकता है। वह लखनऊ ‘निट’ का छात्र है जबकि उसका दोस्त अनुराग हिंदी साहित्य का विद्यार्थी है। जिसके चलते उसे जिन्दगी की लौ टिमटिमाती हुयी सी प्रतीत होती है। परन्तु, यह ग्लोबलाइजेशन के बाद विकसित बाजारू-तंत्र और उसके चलते मानवीय रिश्तों के दरकने की कहानी नहीं है।

अनुराग लखनऊ अपने बचपन के दोस्त आलोक

से मिलने आता है। उन दोनों के बीच शुरूआती बातचीत की प्रस्तावना के कुछ ही पन्नों के बाद कहानी अपने कथ्य की ओर मुड़ जाती है। काफी ज़द्दोज़हद के बाद दोनों दोस्त यह तय करते हैं कि पुराने लखनऊ में चलकर ‘शाम-ए-अवध’ का नज़र किया जाय। परन्तु उनकी इस योजना की ऐसी की तैसी हो गई क्योंकि, “उस शाम आठ बजे कोई रिकशा या ऑटो पुराने लखनऊ जाने को तैयार न हुआ, पता चला, कल से ही शहर में किसी अनहोनी की आशंका थी। दूर गुजरात में किसी ट्रेन में कुछ उपद्रवियों ने आग लगा दी थी जिसके बाद पूरा गुजरात जल रहा था और उसकी लपटें यहाँ भी साफ महसूस की जा रही थीं। सारा शहर जैसे बारूद के ढेर पर बैठा था। पता नहीं इस विस्फोट को किस मिर्जा, किस सौदा, किस अनीस के कलामों ने रोके रखा था। दोनों जब पुराने लखनऊ जाने के लिए ऑटोवालों से पूछताछ कर रहे थे, तो वे उन्हें बड़ी अजीब नजरों से घूर रहे थे। एक ने तो थोड़ी अजीब आवाज में पूछा भी था, ‘उधर के ही रहने वाले हो क्या?’ नहीं, रहता तो यहीं पर हूँ। फिर मरने का शौक है क्या?’ फिर तो ‘शाम-ए-अवध’ के नज़ारे का शौक धरा का धरा रह जाता है।

खैर, लखनऊ गोधरा की लपटों से बच जाता है। यहाँ कोई साम्प्रदायिक दंगा नहीं भड़कता है। सबसे दिलचस्प यह है कि इस एक एक संकेत के, इस एक आशंका और सिचुएशन के, कहानी में आगे कहीं भी साम्प्रदायिक माहौल खराब होने का कोई वर्णन या संकेत नहीं मिलता। फिर भी यह साम्प्रदायिकता को प्रश्नांकित करने वाली एक अच्छी कहानी है। ‘यथार्थ’ को किसी ‘स्टीरियोटाईप’ में इकट्ठे वर्णन या भाषिक बाजीगरी के सहारे दोहराया जाय महत्व उसका नहीं। उसकी जगह उस ‘यथार्थ’ को एक नयी ‘कहानी’ में पुनर्रचित किया जाय, पुनः पाया जाय, महत्व इसका होता है। अमृत राय इसी को इस तरह पेश करते हैं – “यथार्थ के जिस हिस्से को आप रूपायित करना चाहते हैं, कल्पना उसे ‘बाडी’ देती है, बनी-बनायी और सुनी-सुनायी बात को लेकर यदि कहानी लिखी गयी है तो वह कहानी नहीं है।”

अनुराग एक नए ‘आइडिया’ के साथ आलोक को यह बताता है कि, तुमने ‘शतरंज के खिलाड़ी’ और नवाब वाजिद अली शाह का जिक्र किया न, तो क्यों न हम दोनों भी थोड़ी नवाबी चाल चलें। कल जब वह गोरखपुर अपने घर लौटने के लिए बादशाहपुर (लखनऊ के पास का रेलवे स्टेशन) से ट्रेन पकड़ने जाएगा और आलोक उसे छोड़ने जाएगा तो क्यों न दो घंटे पहले ही वहाँ चलकर नवाबी



अंदाज में शतरंज की बिसात बिछाई जाय। स्टेशन के शोर-शराबे और चिल्ल-पों से बेपरवाह आलोक और अनुराग दोनों अपनी बाजियां खेलने में मशगूल हैं। 'शह और मात' का खेल दोनों के बीच चल ही रहा होता है कि अचानक 'वह' (यह वही शख्स है जिसके लिए इस कहानी का ताना-बाना बुना गया है) प्रत्यक्ष होता है और आलोक को एक गलत चाल चलने से रोकता है - "नहीं, नहीं भाई साहब, यह क्या कर रहे हैं, उसे वहीं रहने दें आप हाथी के आगे से प्यादे को हटाइए। दोनों ने चौंकर आवाज वाली दिशा में देखा। वह एक 35-40 साल का शख्स था, दाढ़ी-बाल खिचड़ी हो चुके थे। आदमी ने हालाँकि सफारी सूट पहन रखा था लेकिन लगता था जैसे वह कई दिनों से सफर में हो।" उसने जिस तत्परता से हस्तक्षेप किया उससे लगा कि यह आदमी शतरंज के खेल का माहिर है। उसको यह बखूबी पता था कि एक गलत चाल से सबकुछ खत्म हो सकता है। वह शख्स अब पूरी मुस्तैदी से आलोक के जगह पर जम गया और आलोक-अनुराग दोनों एक तरफ हो गए। बातों ही बातों में यह खेल मय कहानी सहित मुगल काल में चली जाती है। वह शख्स बड़ी कुशलता से अपनी चाल चलता जा रहा था और यह बताता जा रहा था कि, कैसे जहाँगीर और नूरजहाँ के बीच शतरंज की बाजियां लगती थीं। जहाँगीर, बादशाह की तरह हमेशा हाथी से खेलता था और नूरजहाँ घोड़े से। नूरजहाँ जब चाहती जहाँगीर से जीत सकती थी। पर अगर वह ऐसा करती तो सियासी लड़ाई हार जाती। एक बार उसने निश्चित किया कि, आज बादशाह सलामत को हराना है। और सचमुच वह जहाँगीर को शह देती है। जहाँगीर को निकलने का कोई रास्ता नहीं सूझता - "उन्होंने लगभग थकी आवाज में कहा, बेगम, यह बाजी तो आप जीत गयीं। नूरजहाँ के चेहरे पर एक कुटिल मुस्कान आ गयी। उसने बड़ी संजीदगी और शाइस्तगी से कहा, नहीं जहाँपनाह एक चाल है आपके पास और बाजी पलट सकती है। बादशाह ने लाख जोर लगाया लेकिन वह चाल नहीं सूझी। कौन-सी चाल है? लाचारगी से कहा उन्होंने। वह चाल आपको सिर्फ मैं बता सकती हूँ। लेकिन इसके बदले में आप मुझे क्या देंगे?...मलिका, सबकुछ तो आपका ही है। अब आपको और क्या चाहिए? मुझे हिंदुस्तान...। नूरजहाँ की आवाज में बर्फ का-सा ठंडापन था। बादशाह यकायक संजीदा हो गये। वो सारा आवेग सारा आराम कहीं परे चला गया। बादशाह ने अपना सारा दिमाग लगाया और उनके मुँह से निकला, 'हिंदुस्तान की शर्त पर...

कभी नहीं।" और बादशाह जहाँगीर ने जो चाल हिन्दुस्तान को बचाने के लिए उस समय चली थी वही चाल उस शख्स ने चली और दोनों दोस्तों को पराजित कर दिया।

एक तरह से, देखा जाय तो इस कहानी को यहीं खत्म हो जाना चाहिये। क्योंकि, कहानी अपने कथ्य को इस प्रतीकात्मकता के साथ पा लेती है - हिन्दुस्तान की शर्त पर कभी नहीं। पर, कहानीकार ने आगे बढ़कर उस शख्स (जो अब बादशाह भाई है, गरज यह कि वह बादशाहपुर स्टेशन पर ही नमूदार हुआ था) के आदमियत को, उसकी संजीदगी को जो ऊँचाई दी है उससे यह कहानी और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। उस सामान्य और सरलीकृत 'पाठ' और धारणा से भिन्न एक ऐसी कहानी जिसमें यह साधारणीकरण निहित होता है कि, इस देश के मुसलमानों ने इस देश को अपना देश कभी माना ही नहीं। यह बात तो उस प्रतीकात्मकता में पूरी हो जाती है। पर, कहानीकार को लगता है कि पाठक ऐसे, यूँ ही इस पर विश्वास क्यों करने लगा। इसीलिए, इसे विश्वसनीय बनाने के लिए बादशाह भाई के चरित्र को उदात्त बनाना जरूरी प्रतीत होता है और कहानी बादशाहपुर से बाराबंकी तक बढ़ जाती है। दरअसल, यह समस्या राकेश की लगभग सभी कहानियों में है। राकेश के पास 'कहानी' तो है पर 'कहन' की समस्या है। चेखव का एक मशविरा है - "नए-नए लेखक प्रायः कहानी में बहुत कुछ ठूसने की कोशिश करते हैं, परिणाम यह होता है कि, कहानी का प्रायः आधा भाग अनावश्यक या अतिरिक्त रहता है। लिखना तो इस तरह चाहिए कि पाठक कहानीकार के स्पष्टीकरण के बिना ही, कहानी के क्रम, पात्रों के वार्तालाप व व्यवहार से समझ जाएँ कि बात क्या है।"

[पाँच]

'खाल' और 'दंगा भेजियो मेरे मौला' दोनों दो भिन्न अर्थध्वनियों की कहानियाँ हैं। 'खाल' एक ऐसे समुदाय के लोगों के अन्दर छिपी उस साम्प्रदायिक मानसिकता को सामने लाने वाली कहानी है जिसमें अपने को बौद्धिक, सेक्युलर और तरक्कीपसंद कहलाने वाले बुद्धिजीवी और कलाकार लोग रहते हैं। अपने शीर्षक की ध्वन्यार्थकता में ही यह कहानी यह अर्थ देती है कि, खाल के नीचे सब एक जैसे हैं। खाल की एक परत हटाओ तो उनके भीतर साम्प्रदायिक जहर वैसे ही है जैसे सामान्य तौर पर एक साम्प्रदायिक व्यक्ति में होते हैं। इस कहानी में चित्रकार मनोहर दा का चरित्र इसी बात की तस्दीक करता है। कहानीकार ने मनोहर दा का जो

स्केच बनाया है उससे सार्वजनिक जीवन में उनकी छवि क्या है, आपको पता लग जायेगा - “कौन मनोहर दा? आप नहीं जानते उन्हें? अरे, अखबार नहीं देखते क्या आप? अभी कल ही तो मुख्यमंत्री से कलाभूषण पुरस्कार लेते हुए उनकी तस्वीर सारे अखबारों में छपी थी और मेरा दावा है कि आप उन्हें एक बार देख भर लें, फिर कभी नहीं भूल पायेंगे। लंबा-चौड़ा कद, आकर्षक गोरा रंग, उन्नत ललाट, करीने से बिखरे गये बड़े बड़े बाल और खिचड़ी दाढ़ी। जींस और कुर्ता उनका बारहमासी पहनावा है फिर भी, इसलिये कि वे नित-नवीनता के पुजारी हैं सो कल को आप उन्हें धोती-कुर्ते में भी देख सकते हैं। गले में एक साफ-शफ़ाक अंगोछा और आवाज...आवाज का तो क्या कहना! गहरे कुएं से छनकर आती धीर गंभीर, पर टनकदार आवाज। इस टनकदार आवाज में आप उन्हें विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर बोलते-बहसियाते एक बार सुन लें बस, आप उन पर फ़िदा हो जायेंगे।” इन्हीं मनोहर दा का मोबाइल कहीं गिर जाता है। कलाकार अपने में मस्त रहने वाले बेपरवाह टाइप के जीव होते हैं, सो मनोहर दा भी हैं। अब मुश्किल यह है कि बिना मोबाइल के आज के ज़माने में भला किसी का काम कैसे चल सकता है। उसमें भी उसी मोबाइल में देश-विदेश के न जाने कितने रसूखदार लोगों के नंबर थे। मनोहर दा की छटपटाहट स्वाभाविक है। उन तमाम जगहों पर मोबाइल ढूँढा गया जहाँ उसके मिलने की सम्भावना थी। पर उसे नहीं मिलना था तो नहीं मिला। रिंग करके भी देखा गया पर कुछ न हुआ। तय हुआ कि, पुलिस में रिपोर्ट दर्ज काराई जाय।

इस कहानी में जो ‘लोकेल’ है वह ‘इलाहाबाद’ का है। मनोज पाण्डेय की सबसे बड़ी खासियत यह है कि वे अपनी कहानियों में दृश्य-परिदृश्य का जितना अर्थपूर्ण चित्रण कर लेते हैं उस तरह का चित्रण युवा पीढ़ी के रचनाकारों के यहाँ कम है। जितना सामने दिख रहा है उससे अधिक अर्थपूर्ण होता है जो पृष्ठभूमि में दिख रहा होता है। इसी कहानी में पुलिस थाने का जो चित्रण है वह कितना लाक्षणिक और प्रामाणिक है - “हम मुंशीजी के कमरे में पहुँचे। मुंशीजी ने हमें बैठने के लिए भी नहीं कहा। वह नीचे देखता हुआ कुछ लिखता रहा या लिखने का अभिनय करता रहा। मुंशी के पीछे लहराते हुए पीत-परिधान में आक्रामक मुद्रा में धनुष ताने राम का चित्र लगा हुआ था। पृष्ठभूमि में एक प्रस्तावित मंदिर का मॉडल था जिस पर भगवा ध्वज लहरा रहा था।” कहानीकार द्वारा इस परिदृश्य का चित्रण अनायास नहीं है,

इसका पता तो कहानी के आखिर में चलता है। रिपोर्ट दर्ज हो गयी। इधर प्रथम लगातार उस नंबर पर काल कर रहा था। काफी मशक्कत के बाद आखिर नंबर मिल गया। उससे बात करने पर यह पता चला कि, हसन मोहम्मद नाम के एक रिक़्शे वाले को वह गिरा हुआ मिला था। चौक, जानसेनगंज की कई शराब की हौलियों काफी दूँढ-ढाँढ के बाद पता चला कि वह अपने घर चला गया है। उसका घर यूनिवर्सिटी के पास मनमोहन पार्क की पाकड़ वाली गली में है। बहरहाल, जब प्रथम और मनोहर दा उसके घर पहुँचते हैं, हसन ही दरवाजा खोलता है। “कपड़े के नाम पर उसके बदन पर एक लुंगी ही थी जो पता नहीं कब की धुली थी। सींकिया बदन, पूरे बदन पर हड्डियाँ उभरी हुई। सिकुड़ी हुई खुरदुरी त्वचा। गले में एक काला मटमैला धागा। मनोहर दा उस दीन के सामने दीनानाथ लग रहे थे।” मनोहर दा ने दहाड़ते हुए पूछा मोबाइल कहाँ है? अब दे रहे हैं साहेब। तबतक, उसका बच्चा मोबाइल हाथ में लिए आता है, ‘इ का है अब्बा?’ मोबाइल देखते ही मनोहर दा ने उस बच्चे से अपना मोबाइल पाने के लिए तेज झपट्टा मारा। मोबाइल दूर जाकर गिरा और बच्चा वहीं रखी चारपाई से टकरा गया। उसके माथे से खून बहने लगा। “मनोहर दा ने अपना मोबाइल अपने कब्जे में किया- “मनोहर दा ने फुर्ती से मोबाइल उठाया और बाइक की तरफ झपटे। आसपास के लोग हमें संदेह की दृष्टि से देख रहे थे और जाने क्या-क्या बातें कर रहे थे। बच्चा चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा था। बाइक स्टार्ट हो पाती इससे पहले हसन रिक़्शेवाले की आवाज आयी, अरे जायें साहेब, देख लिया आपको। इत्ता भी नहीं कि मेरे बच्चे के लिए एक खिलौना ही लेते आते। अब तो मोबाइल मिल गया ना...अब तो कर लो दुनिया मुट्ठी में। हम इस दुनिया में थोड़े ही हैं साहेब।” पर, मोबाइल तो गिरने से वह चटक गया था, काम भी नहीं कर रहा था। मनोहर दा का गुस्सा सातवें आसमान पर था। “मनोहर दा की आँखों में एक ठंडी हिंसक चमक उभर आई। उन्होंने बस्ते से सिगरेट का पैकेट निकाला। एक सिगरेट जलाई और तीन-चार कश लेने के बाद सिगरेट जूते से कुचल दिया। आओ थाने चलते हैं, मनोहर दा ने कहा। अब थाने चलकर क्या करेंगे? मुंशी का रवैय्या भूल गए क्या आप? नहीं याद है इसीलिए कह रहा हूँ। इस हरामजादे हसन को तो मैं.....मैं अब नामजद रिपोर्ट करूंगा। आप किस गुमान में हैं दादा? थाने में आपकी दाल नहीं गलने वाली। आपका मोबाइल गुम हुआ तो उसने ईमानदारी से वापस भी कर दिया। ये खराब हो गया तो यह

उसकी नादानी भर थी और फिर थाने में आपने सिपाही और मुंशी का रवैया देखा नहीं। दोनों की ऐसी की तैसी। मैंने देखा सालों को पर तुमने कुछ नहीं देखा। क्या नहीं देखा। क्या नहीं देखा। थाने में घुसते ही हनुमान मंदिर, सिपाही का जनेऊ, मुंशी का तिलक और उस मुंशी के पीछे लगा श्रीराम का पोस्टर। मैं पसीने-पसीने हो गया। फिर भी कुछ नहीं हुआ तो ? मैंने भरे स्वर में सवाल पूछा। शहर का एस.पी. मेरे साथ बैठकर शराब पीता है। मैं सबकी ऐसी की तैसी कर दूंगा। उस मुसल्ले हसन को तो मैं...।” सबकुछ को बेपर्दे करते हुए कहानी इस नुक्ते पर खत्म हो जाती है। साम्प्रदायिकता पर लिखी जाने वाले हिंदी कहानियों की तुलना में यह कहानी धार्मिक और सामाजिक तनाव व अंतर्विरोध को किसी बहुत बड़े परिदृश्य में चित्रित करने वाली कहानी नहीं है। पर, अनुभव, संवेदना और दृष्टि तीनों ही बिन्दुओं पर यह एक बेहतर कहानी का नमूना अवश्य है। ऐसी ही कहानियों के लिए विलियम फाकनर ने ‘चेतन-रूपक’ जैसे पद का इस्तेमाल किया है।

अनिल यादव की कहानी ‘दंगा भेजियो मेरो मौला’ मोमिनपुरा नामक एक ऐसी मुसलमान बस्ती की कथा है जहाँ इस देश के नागरिकों के लिए उपलब्ध नागरिक जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं, जरूरी सुविधाओं से वंचित मुसलमान बनकर रहते हैं। मुसलमान होने के नाते यह बस्ती प्रशासन-तंत्र और व्यवस्था द्वारा गहरी घृणा और नफरत की शिकार है। कहानी कलेजे को चाक कर देने वाले नंगे यथार्थ के एक दृश्य में प्रस्तुत होती है- “धूप इतनी तेज थी कि पानी से उठती भाप झुलस रही थी। कीचड़ के बीच कूड़े के ऊँचे ढेर पर छः एकदम नए छोटे-छोटे ताबूत रखे थे। सामने जहाँ तक मोमिनपुरा की हद थी, सीवर के पानी की बजबजाती झील हिलोरें मार रही थी, कई बिल्लियों और एक गधे की फूली लाशें उतरा रही थीं। हवा के साथ फिरते जलकुम्भी और कचरे के रेलों के आगे काफी दूरी पर एक नाव पानी में हिल रही थी जिसकी एक तरफ अनाड़ी लिखावट में लिखा था ‘दंगे में आएंगे’ और नाव की नोंक पर जरीदार कपड़े का एक मोटा सा झंडा फड़फड़ा रहा था।” ‘दंगे में आएंगे’ यह अधूरा वाक्य ही अपनी गूँज-प्रतिगूँज में पूरी कहानी के गन यथार्थ और उसमें पोर-पोर पसरी हुयी अमानवीयता को प्रतिध्वनित करता है।

हर साल बरसात आते ही मोमिनपुरा की दुनिया बजबजाते नरक में तब्दील हो जाती। नदी किनारे शहर के

बाहर सबसे निचले हिस्से में बसी इस बस्ती में बारिश के साथ ही जैसे कहर टूट पड़ता था। शहर भर का कूड़ा-कचरा बहकर इस बस्ती में आ जाता, सीवर लाईनें उफान उठतीं, मैनहोल पर लगे ढक्कन उछलने लगते और बीस लाख की आबादी वाले का मल-मूत्र बरसाती रेलों के साथ हहराता हुआ मोमिनपुरा में भर जाता - “चतुर्मास पर जब साधु-संतों के प्रवचन शुरू होते, मंदिरों के देवताओं के श्रृंगार उत्सव होते, कजरी के दंगल आयोजित होते और हरितालिका तीज पर मारवाड़ियों के भव्य जुलूस निकलते तभी यह बस्ती इस पवित्र शहर का कमोड बन जाती।” ऐसे हालात में पानी बिजली की सभी सुविधाएँ भी ठप्प कर दी जातीं। मोमिनपुरा को उसके हाल पर जीने मरने के लिए छोड़ दिया जाता। पर इस साल हालत बहुत ही खराब हो गयी। पानी डेढ़ महीने तक जमा रह गया। “इस साल कई नए अपशकुन पैदा हुए। मल्लाहों ने अपनी नावें देने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि जिस नाव से भगवान राम को पार उतारा था उसे भला गू-मूत में कैसे चला सकते हैं। म्युनिसिपैलिटी ने इस साल पानी निकासी के लिए एक पम्प भी नहीं लगाया, अफसरों ने लिख कर दे दिया सारे पम्प खराब हैं, मरम्मत के लिए पैसा नहीं है, सरकार पैसा भेजेगी तो पानी निकाला जाएगा। लोक निर्माण विभाग ने घोषित कर दिया कि हाईवे की पुलिया से अगर हर साल की तरह पानी निकासी की गयी तो जर्जर सड़क टूट सकती है और शहर का सम्पर्क बाकी जगहों से टूट सकता है। आपदा राहत विभाग ने ऐलान कर दिया कि यह बाढ़ नहीं मामूली जलभराव है, इसलिए कुछ करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। अस्पतालों ने मोमिनपुरा के मरीजों को भरती करने से मना कर दिया कि जगह नहीं है और संक्रमण से पूरे शहर में महामारी का खतरा है।” इस तरह कहानीकार ने हर तरफ से चाक-चौबंद बंदोबस्त कर दिया जिससे वह जो सिद्ध करना चाहता है वह बिना कुछ कहे सिद्ध हो जाय। और कहानी में ऐसा ही होता भी है। फिर भी कहानी को और विश्वसनीय बनाने के लिए अनिल यादव ने बस्ती के क्रिकेट खेलने वाले निठल्ले लड़कों को इकट्ठा कर उनके हीरोयिक जब्बे को चित्रित करना जरूरी समझा। परवेज, इफ्फन, यासीन, जुएब, लड्डन, मुराद और न जाने कौन-कौन से ग्यारह लड़कों की क्रिकेट टीम - ‘मोमिनपुरा क्रिकेट क्लब’ (एम.सी.सी.)। ये लड़के ऐसी हालत में आपस में चंदा इकट्ठा कर किसी तरह से एक पुरानी नाव खरीद कर ले आते हैं। “यह नाव दिन भर बस्ती के लोगों का असहनीय दुःख होती।” यह नाव ही अब बस्ती

के लोगों के लिए एकमात्र सहारा है। ये लड़के मिलकर यह तय करते हैं कि इस बदतर स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए हम लोगों को उन नेताओं, समाजसेवियों, अफसरों, हाकिमों, स्वयंसेवी संगठनों, मीडिया से मदद की गुहार करनी चाहिये। यही वह बिंदु है जहाँ कहानी अपने उस पक्ष को रखती है जिस पर पाठक यह आरोप न लगा सके कि, बस्ती के लोगों ने अपनी स्थिति से उबरने का कोई प्रयास भी तो नहीं किया। एम.सी.सी.के लड़के रोज ही इस आशा में जाते हैं कि आज किसी न किसी को बस्ती में जरूर ले आ पाने में वे सफल होंगे। हर जगह टीम के ग्यारह मुँह एक साथ खुलते - “जनाब, खुदा के वास्ते बस एक बार चल कर देख लीजिये हम लोग किस हाल में जी रहे हैं। पानी ऐसे ही बढ़ता रहा तो सारे लोग मारे जायेंगे।” बस्ती के लोग रोज ही इनसे पूछते कि ‘बेटा वे कब आएंगे?’ बस्ती पृथ्वी रहती, लोग टरकाते रहते। अंत में, एक दिन बस्ती अपने तजुर्बे से यह बात कह देती है कि, बेटा, वे लोग नहीं आयेंगे। “उस दुनिया के लोग यहाँ सिर्फ दो बखत आते हैं या दंगे में या इलेक्शन में।” बस्ती के इसी तजुर्बे-बयानी को लड़कों ने सच मानकर अपनी नाव पर मोटे अक्षरों में लिख दिया ‘वे दंगे में आएँगे।’ अब तो बस सबको दंगे का इंतजार रहने लगा। “अगले जुमे को एम.सी.सी. के सभी ग्यारह खिलाड़ियों ने फज़र की नमाज़ के वक्त नाव में सिजदा कर एक ही दुआ मांगी - दंगा भेजियो मेरो मौला, गू-मूत में लिथड़ कर मरने की जिल्लत से बेहतर है कि खून में डूब कर मरें।” इन लड़कों की दुआ कबूल कर ली जाती है। मोमिनपुरा में भरते पानी के दबाव से हाईवे की पुलिया टूट जाती है (या क्या पता इन लड़कों द्वारा तोड़ दी जाती है - जोड़ मेरा)। सड़क तोड़कर उफनाता हुआ कचरे, गू-मूत से सना पानी का सैलाब पास के मोहल्लों और गाँवों में भरने लगता है। “प्रभात फेरी करने वालों की अगुवाई में शहर और गाँव से निकले जत्थे मोमिनपुरा पर चढ़ दौड़े। सीवर के बजबजाते पानी में हिन्दू और मुसलमान गुथमगुथा हो गए।” इसी के साथ कहानी खत्म हो जाती है।

निश्चित ही इस कहानी के कथ्य और शिल्प दोनों में एक नयापन है। यह कहानी हिन्दू साम्प्रदायिक मानसिकता को एक नए कथ्य के द्वारा अभिव्यक्त करती है। पर, नयापन मात्र से ही कोई कहानी अच्छी भी हो यह जरूरी तो नहीं।

‘दंगा भेजियो मेरे मौला’ एक तरह से कीचड़ को कीचड़ से धोने वाली कहानी है। इस कहानी की खूब चर्चा हुयी है। अपनी कथायुक्ति, परिस्थितियों के नारकीय चित्रण और वातावरण के सघन तनाव से यह कहानी अपने कथ्य को हासिल करती है। अनिल यादव के पास यह रचनात्मक हुनर है कि, पूर्व निर्धारित कथ्य को केवल एक विश्वसनीय वातावरण तैयार कर कैसे कहानी में अर्जित किया जा सकता है। परन्तु, जिन परिस्थितियों और वातावरण के तनाव और अन्तरविरोध से यह कहानी बुनी गयी है वे परिस्थियाँ और वातावरण वास्तविक कम गढ़त अधिक हैं। मोमिनपुरा नामक जिस मुसलमान बस्ती को इस कहानी का लोकेल बनाया गया है, उस बस्ती की बद से बदतर स्थिति का जो चित्रण किया गया है अव्वल, तो ऐसी किसी वास्तविक बस्ती पर ही पाठक के मन में सवालिया निशान छोड़ती है। पर, कहानीकार की कल्पना में ऐसी किसी बस्ती का वजूद मान भी लिया जाय तो ऐसा सलूक इस देश में सिर्फ मुसलमान बस्तियों के साथ ही होता है, इसको स्वीकारने में पाठक को मुश्किल होती है। मक्सिम गोर्की ‘रचना शिल्प की बात’ करते हुए ‘विश्व रचना की व्याख्या’ (Exposition du systeme du monde) जैसे प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक फ्रांस के मशहूर गणितज्ञ पियरे सीमोन दे लाप्लास को उद्धृत करते हैं - “कुछ परिघटनाओं का कारण ढूँढने की अपनी व्यग्रता में एक वैज्ञानिक को, जिसमें प्रबल कल्पना-शक्ति होती है, अक्सर परीक्षण द्वारा प्राप्त निष्कर्ष के पहले ही कारण का पता चल जाता है। स्वरचित व्याख्या के सही होने के पूर्वग्रह के प्रभाव में तब भी वह उसका त्याग नहीं करता जबकि तथ्य उसका खंडन करते हैं। इसके विपरीत वह तथ्यों में फेरबदल और संशोधन करता है ताकि वे उसके सिद्धांत और व्याख्या के अनुकूल हो जायें। वह स्वाभाविकता को तोड़ता-मरोड़ता है ताकि जबरदस्ती उसे अपनी कल्पना-शक्ति के अनुकूल बनाये। यह नहीं सोचता कि, समय केवल परीक्षण तथा परिकलन के परिणामों की ही पुष्टि करेगा।” इस उद्धरण के तुरंत बाद गोर्की कहता है कि, “साहित्यकार का काम भी वैज्ञानिक के समान होता है और उसे भी परीक्षण द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष के पहले ही कारन का पता चल जाता है”

प्रांजल धर

## इधर की हिन्दी कहानियों का नयापन

समय की जटिलता बढ़ी है, सूचना-संचार क्रान्ति ने समाज को झकझोर कर रख दिया है और नव-उदारवाद की कालीन पर चहलकदमी करता हुआ यथार्थ, लेखक के लिए बहुत कुछ नया लेकर आया है। यह बात ठीक है कि दुनिया एक वैश्विक ग्राम में तब्दील हो रही है, लेकिन उससे बड़ा सच यह भी है कि गाँव और शहर के बीच की खाई (जिसे थोड़ा प्रभावशाली शब्दों में रूरल-अर्बन डिवाइड कहा जाता है) अधिकाधिक चौड़ी होती चली गई है। यह ठीक है कि विकास के तमाम शहरी टापुओं पर अपना-अपना तम्बू गाड़कर बैठे साहित्यिक लोगों को फ़ेसबुक पर कुछ भी अभिव्यक्त कर डालने की आज़ादी है, लेकिन हमारा बहुत बड़ा आधारिक समाज ऐसा है जिसकी इण्टरनेट तक पहुँच ही नहीं है और जिसे अभी तक आज़ादी का अर्थ ही नहीं पता है। ऐसे परस्पर विरोधी भावों, घटनाओं, विचारों और भौतिक स्थितियों-परिस्थितियों की समग्रता को केन्द्र में रखते हुए, ग्लैमर और यशलोलुपता से अलग होकर, कुछ मौलिक रच पाना निश्चय ही एक दुरूह कार्य है। कविता, कहानी और उपन्यास समेत विधा चाहे जो भी हो, रचना-प्रक्रिया के ऐसे अनेक विघ्नों को पार करके ही कोई कथाकार कुछ ऐसा लिख पाता है जो पाठकों के हृदय को स्पर्श ही न करे, बल्कि उन्हें भीतर तक ऐसा महसूस हो कि उनमें कुछ जुड़ा, उनकी चेतना में कुछ तरंगें पैदा हुईं। जिन कुछ कहानियों पर यहाँ चर्चा की गई है, वे इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि ये धीमे-धीमे लेकिन सतत रूप से चल रहे और क्रमशः जटिल होते जा रहे समय को लिपिबद्ध करने की एक ईमानदार कोशिश करती हैं। इनमें से कुछ में गाँव-गँवई के अपनापे के बरक्स महानगरीय जीवन की एकाकी संस्कृति के कुछ मर्मस्पर्शी चित्र मौजूद हैं और कुछ में सामाजिक परिवर्तन का दावा करने वाले विचारधारात्मक संगठनों की कमजोरियाँ भी निहित हैं। बदलते समय की गतिकी को पहचानना और उन चीजों की पड़ताल कर पाना जो समय के साथ नहीं बदलतीं, निश्चय ही किसी कहानीकार के लिए बेहद चुनौती भरा काम है और इन कहानियों में इस चुनौती को स्वीकार किया गया है।

पहली कहानी के रूप में संजय कुन्दन की कहानी 'जिन्दगी एक मैनेजमेण्ट' का उल्लेख करना चाहता हूँ, जो 'शुक्रवार' पत्रिका में तीस मई 2013 को प्रकाशित हुई थी। अंक इस समय मेरे सामने है। यह कहानी आज के उस नए समाज की सच्चाई बयान करती है, जो नई आर्थिक नीति और बाजार ने तैयार किया है या कर रहा है। नब्बे के दशक में भारत में भूमंडलीकरण और उदारीकरण के प्रसार के साथ कामकाज के तौर-तरीके बदले, और उसी के साथ हमारे सामाजिक मूल्य भी। अब वास्तविक सत्ता कॉरपोरेट के हाथ में आ गई है, जिसका मूल मंत्र है 'यूज एण्ड थ्रो'। आज कॉरपोरेट के बूते विकास का दावा किया जा रहा है। न सिर्फ राजनीतिक बल्कि सामाजिक सत्ताएँ भी उसके आगे नतमस्तक हैं। कॉरपोरेट सिर्फ मुनाफ़ा जानता है। उसकी नजर में मनुष्य मुनाफ़ा जुटाने वाली एक मशीन है। इससे ज्यादा उसका कोई मोल नहीं है। कॉरपोरेट या वित्तीय पूँजीवाद के लिए मनुष्यता या संवेदना का कोई अर्थ नहीं है। यह एक व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर देता है। जब तक व्यक्ति सफल है तब तक उसके पास तमाम सुख-सुविधाओं की चमक-दमक उपलब्ध रहती है, लेकिन ज्यों ही वह असफल होता है, बाजार से तालमेल नहीं बिठा पाता, वह अंधेरे के बियाबान में फँक दिया जाता है। पूरा समाज इसी की चपेट में है। उसके पास कोई विकल्प नहीं रह गया है। अब बच्चे को शुरू से ही इस दर्शन में ढालने की कोशिश की जाती है। उसे शुरू से ही एक होड़ में खड़ा कर दिया जाता है। उसे इस लायक बनाने की कोशिश की जाती है कि वह बाज़ार के लिए सबसे उपयोगी सिद्ध हो सके। उसे बताया जाता है कि जीवन का मतलब है एक रेस, जिसमें सफल होना है। सफल नहीं हुए तो नष्ट हो गए। आज हर व्यक्ति एक होड़ में लगा है। वह सफल और ज्यादा सफल होना चाहता है। चूँकि बाज़ार ने हरेक को एक सपना दिखाया है, इसलिए सुख के साधनों की दौड़ में हर कोई शामिल हो गया है जिससे मनुष्य अपनी स्मृतियों से कट गया है। हरबर्ट मार्क्यूज़े की भाषा में कहें, तो वह निहायत स्वार्थी, मतलबी और अकेला हो गया है। यह कहानी इन्हीं मूल्यों को चुनौती देती है। इस तरह से यह बाजार के प्रतिरोध की कहानी है। नायक अर्पित इस कॉरपोरेट तंत्र में अपनी जगह बना चुका है। कहने के लिए उसके पास सब कुछ है जिसका एक नौजवान सपना देखता है - एक अच्छी खासी नौकरी, मोटी तनख्वाह, एक स्मार्ट प्रेमिका। लेकिन अर्पित यहाँ मिसफिट है क्योंकि उसे कामकाज का मशीनी अन्दाज़ पसन्द नहीं। उसके लिए हर इंसान बराबर

है। वह किसी को उसके पद या तनख्वाह से नहीं आँकता। वह अपने से बड़े को इज्जत देता है। वह दूसरों के दुख पर दुखी होता है। वह किसी को कष्ट पहुँचाने के बारे में नहीं सोच पाता। लेकिन उसके ये सारे गुण ही उसके लिए बाधा बन जाते हैं क्योंकि कॉरपोरेट कल्चर इनकी इजाजत नहीं देता। वहाँ तो दूसरे के कन्धे और सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ जाना होता है। लेकिन अर्पित को यह मंज़ूर नहीं। उसे कुछ लोगों को नौकरी से निकालने के लिए कहा जाता है। पर वह भारी द्वंद्व में पड़ जाता है। वह खुद से बड़े अपने अधीनस्थों की निजी जिन्दगी को जानता है। वह उनकी नौकरी चले जाने की स्थिति में उनके कष्ट की कल्पना कर सिहर जाता है। वह अपनी उलझन अपने बॉस और अपनी प्रेमिका से बताता है। दोनों की राय यही है कि वह अपनी संवेदना को परे रख कर नौकरी करे। अपने अधीनस्थों की चिन्ता करना उसका काम नहीं है। अर्पित के मन में एक बड़ा सवाल उठता है कि आखिर वह दोहरी जिन्दगी कैसे जिए? ऐसा कैसे हो सकता है कि वह नौकरी में निर्मम और कठोर रहे और उससे बाहर एक सहज व संवेदनशील इंसान बन जाए। वह विभाजित व्यक्तित्वों में जीने को तैयार नहीं। उसे लगता है नौकरी ही जीवन को निर्धारित करने लगी है। वह अपने सीनियर्स की इस गति को नहीं पाना चाहता, "मैं अपने सीनियर्स को देख रहा हूँ न। वे केंचुए में बदल गए हैं। न जाने कितने समझौते कर रहे हैं सिर्फ नौकरी बचाने के लिए। उन्हें डर है कि नौकरी चली गई तो अपने मकान की, अपनी गाड़ी की ईएमआई (किश्तें) कैसे भरेंगे। इसके अलावा उनके जीवन में कुछ है ही नहीं। वे कुढ़कर, रोकर नौकरी कर रहे हैं। नौकरी करने वाले रोबोट हैं वे। वे किसी के खिलाफ बोल नहीं सकते, इस डर से कि कहीं नौकरी न चली जाए। वे अपनी मर्जी से हँस नहीं सकते कि कहीं नौकरी न चली जाए। सोचो, ऐसे लोग कभी समाज के बारे में सोचेंगे, देश के बारे में सोचेंगे। या यह सब छोड़ दो, अपने ही बारे में सोचेंगे क्या?"

चूँकि समाज एक खास तरह से सोचने का आदी हो चुका है, इसलिए अर्पित की प्रेमिका को उसकी बातें समझ में ही नहीं आती और वह उसे छोड़कर चली जाती है। अर्पित एक अद्भुत निर्णय लेता है। वह अपने विभाग से किसी को और नहीं निकालता बल्कि इसके लिए अपने नाम की सिफारिश कर डालता है। इस तरह तमाम सुख-सुविधाओं को छोड़कर अपने जीवन को दाँव पर लगा देता है। लेकिन यहाँ मामला सिर्फ नौकरी छोड़ने का नहीं है। वह अपने

तरीके से जीने का फैसला करता है। अर्पित एक नज़र में आदर्शवादी चरित्र मालूम पड़ता है। भला कौन होगा जो आज के दौर में अपनी नौकरी इस तरह गँवा दे ? सच्चाई यह है कि अर्पित एक विरला या असाधारण पात्र है, मगर काल्पनिक नहीं। लेखक ने उसका सृजन वास्तविकता के धरातल पर ही किया है। पिछले दिनों एक खबर से पता चला कि कई लड़कों ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ऊँची तनख्वाह की नौकरियों को लात मारकर, सरकारी उपक्रमों की नौकरी ज्वाइन की क्योंकि वे जीवन में सुकून चाहते थे। ऐसे भी उदाहरण हैं कि विदेश में मोटी कमाई कर रहे कई भारतीय स्वदेश लौटकर अपने मन-मुताबिक रोजगार या खेतीबाड़ी में लग गए। कई लड़के-लड़कियाँ अपना अच्छा-खासा करियर छोड़कर समाजसेवा में लगे हुए हैं। इसलिए अर्पित का चरित्र वास्तविक है। उसके जरिए कथाकार ने पूँजी पर मनुष्यता को स्थापित किया है। हिन्दी के लिए यह अपेक्षाकृत एक नया विषय है क्योंकि अभी हिंदी समाज में कॉरपोरेट का जाल पूरी तरह नहीं फैला है। लेकिन वह धीरे-धीरे अपनी गिरफ्त में समाज को लेता जा रहा है। इस तरह यह कहानी भविष्य के एक खतरे के प्रति आगाह भी करती है।

दूसरी कहानी के रूप में आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'सखि साजन' पठनीय है। हिंदी साहित्य में कई विषय और विचार ऐसे हैं, जिन्हें जानते-मानते सभी लोग हैं, लेकिन जिन पर लिखना लगभग वर्जित ही माना जाता है। यदि कोई लिखता है तो उस पर बोल्ड का ठप्पा लगना तय होता है। यह भी सच है कि कई बार कहानियों को ग़ैर-जरूरी ढंग से सनसनीखेज बनाने के लिए कुछ ऐसे तत्व डाल दिए जाते हैं जो आवश्यक नहीं होते। विश्व साहित्य के बरअक्स देखें तो हिंदी में अभी बहुत से विषय हैं जो अच्छे हैं और उन पर काम होना बाकी है। यौनिकता को लेकर भारतीय साहित्य में हमेशा से ही शुचितावाद का रवैया रहा है। लेकिन यह शुचितावाद किन बातों के लिए होना चाहिए इसके कोई मापदण्ड तय नहीं हैं। स्त्री-पुरुषों के संबंधों पर तो फिर भी कलम चलाई गई है। लेकिन एक स्त्री का संबंध स्त्री से हो तो ? विशुद्ध रूप से पाश्चात्य-से लगने वाले इन सम्बन्धों पर आजकल तो भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश में भी बातें होने लगी हैं। यह अलग बात है कि हिंदी में अभी भी इस पर ठोस या उल्लेखनीय कुछ कम ही हुआ है। अंग्रेजी में तो फिर भी इन लेस्बियन-गे-बाइसेक्सुअल-ट्रांसजेंडर यानी एलजीबीटी सम्बन्धों पर बात हो रही है।

इस मुद्दे पर बात इसलिए क्योंकि जब मैंने आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'सखि साजन' पढ़ी तो लगा कि हिंदी में आखिर इस विषय पर बात क्यों नहीं हो रही है ! सखि साजन के नाम से कुछ-कुछ तो इस विषय पर अन्दाज़ा होता है लेकिन कहानी जिस ढंग से आगे बढ़ती है वह तरीका नया है और सराहनीय है। इस कहानी की खास बात यह है कि न इस कहानी में कहीं लेस्बियन शब्द इस्तेमाल किया गया है, न कहीं ऐसे उल्लेख, भड़काऊ संवाद या दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इस कहानी में जैसी पीड़ा और वेदना साथ-साथ समानान्तर रूप से चलती है, उसका अहसास करने के लिए पाठक को माथे पर शिकन लानी पड़ती है क्योंकि इस कहानी में शब्द-चित्र के माध्यम से पाठकों की आँखें नम जरूर होती हैं।

डायरीनुमा शैली में लिखी गई इस कहानी में दो पात्रों की जिन्दगी कैद है जिसे तीसरा ही कोई पढ़ रहा है। जो पढ़ रहा है वह अपराधी के साथ जुड़ा हुआ व्यक्ति है। डायरी का एक-एक सफ़ा उस जिन्दगी को खोलता है, जो प्रकृति के विरुद्ध जी गई है। इसमें लेखिका ने कहीं भी इसे खुद से प्रकृति के विरुद्ध नहीं कहा है। न इसे कोई मनोविकार बताया है। यही इस कहानी की खूबी है। जो घट रहा है वह कोई रोक नहीं रहा और जब यह सिलसिला थमा तो कुछ दरक गया। अगर लेखिका चाहती तो अन्त में भाषण का सहारा ले सकती थी। लेकिन इस कहानी की मजबूती ही यही है। इस कहानी का दूसरा अनोखापन यह है कि जिस शब्द का स्पष्ट रूप से कहीं भी किसी भी प्रकार से कोई उल्लेख तक नहीं किया गया है, वही पंक्तियों के बीच में लगातार चलते हुए इस कहानी की केन्द्रीय थीम बनकर उभरता है। एक नए विषय पर कहानी लिखकर लेखिका ने यह जताया है कि बिना कुछ शब्दों की साफ साफ कहन से बचते हुए कैसे समाज में आ रहे बदलावों को चित्रित किया जा सकता है।

तीसरी कहानी के रूप में पंकज सुबीर की कहानी 'सी-7096 (यानी सी-सेवेन जीरो नाइन सिक्स)' का उल्लेख करना उचित लगता है। यह कहानी 'बनास जन' पत्रिका में वर्ष 2014 में प्रकाशित हुई थी। वर्ष 2013 में मुम्बई हमले के आरोपी अजमल कसाब को फाँसी दी गई और यह कहानी 2014 में सामने आती है। कहानी का प्रकाशन मेरे लिये दो मायनों में महत्वपूर्ण था, पहला तो यह कि कहानी उस शैली या शिल्प में नहीं थी जो अमूमन पंकज सुबीर की पहचान है। दूसरा यह कि इस कहानी को युवा आलोचक पल्लव ने

‘बनास जन’ हेतु स्वीकार किया था। यदि कोई आलोचक साथ में सम्पादक भी है तथा वह किसी रचना को अपनी पत्रिका में प्रकाशित करने हेतु चयनित करता है, तो रचना दो स्तरों से गुजरकर प्रकाशित होती है, पहला आलोचकीय स्तर की गेटकीपिंग का तथा दूसरा संपादकीय नज़रिये का स्तर। ‘बनास जन’ में प्रकाशित होना इस बात की पुष्टि थी कि कहानी ने दोनों स्तरों को संतुष्ट किया होगा। इस कहानी का नाम बाद में संग्रह प्रकाशित करते समय ‘सी-7096’ से बदलकर ‘कसाब डॉट गांधी एट यरवदा डॉट इन’ कर दिया गया। संग्रह पढ़ने के बाद जब मैंने पंकज भाई से पूछा तो उन्होंने बताया कि नाम बदलने का कोई विशेष कारण नहीं था, बस यह लगा कि ‘सी-7096’ शीर्षक पाठक को शायद कुछ ज़्यादा ही उलझा रहा है। अब पाठक इस कहानी को ‘कसाब डॉट गांधी एट यरवदा डॉट इन’ के नाम से ही जानते हैं।

बतौर कहानीकार, “असल में कहानी का जन्म उस एक पंक्ति से हुआ था जो कसाब ने मरने से पहले कही थी ‘मेरी अम्मी को बता देना’। इस पंक्ति ने बहुत अंदर तक हिला दिया था और इसी के चलते कहानी ने जन्म लिया। जब कहानी लिखने का सोचा तो सबसे पहली मुश्किल यह थी कि कहीं ऐसा न हो कि कहानी आतंकवाद और उससे जुड़ी हुई घटनाओं को जस्टीफाई करने लगे। तब कहानी में दूसरे पात्र के रूप में महात्मा गांधी का विचार आया। इसलिए भी क्योंकि, यरवदा जेल जहाँ पर कसाब को रखा गया, वहीं पर अंग्रेज़ों ने गांधी को भी रखा था। तो एक काल्पनिक मुलाकात की भूमिका तो यरवदा नाम के कॉमन फैक्टर को बीच में रख कर बनाई जा सकती थी। गांधी का होना कहानी को कहीं भी फिसलने नहीं देगा। और इस माध्यम से हिंसा और अहिंसा के बीच के द्वंद्व को ठीक प्रकार से दिखाया भी जा सकेगा।” एक पाठक के रूप में आज यह आसानी से कहा जा सकता है कि कहानी में ऐसा संभव भी हुआ। कसाब की आक्रामकता और गांधी का मौन, इन दोनों का जो द्वंद्व दिखाया गया है, वह उभरे हुए शिल्प की तरह सामने आता है। गांधी की उपस्थिति ने कहानी को कसाब के अथवा किसी भी पक्ष में झुकने नहीं दिया, स्वयं गांधी के पक्ष में भी।

कहानी का निचोड़ यह है कि दुनिया में आतंकवाद का पहला कारण आर्थिक असमानता, भूख, गरीबी और बेरोज़गारी है। यदि इन समस्याओं का निराकरण हो जाए तो

शायद आतंकवाद भी नहीं रहेगा। लेकिन हो यह रहा है कि आतंकवाद का सामने से कारण धर्म ही दिखाई देता है, क्योंकि बाहरी और स्पष्ट कारण वही दिखता है, आसानी से दिखता है और प्रचुरता से दिखता है। कोई यथार्थ की भीतरी तहों को उघाड़ने की जहमत ही नहीं उठाना चाहता। यह कहानी इन्हीं अन्तर्निहित तहों की पड़ताल की कहानी थी। वह जो नहीं दिख रहा है उसकी तलाश की कहानी थी। कसाब के घर में दोनों वक्त खाना बन जाए इतनी व्यवस्था भी नहीं थी, उसकी पढ़ाई छूट गई थी, घर में भुखमरी थी, जिसके चलते पिता ने उसे आतंकवादी संगठन के हाथों बेच दिया था। कसाब को बेचकर घर की आर्थिक स्थिति सुधारी गई थी। कहानी इसी एक घटना पर केन्द्रित होकर चलती है और एक गहरी समाजार्थिक विसंगति को ठीक से स्थापित करती है।

यह कहानी तीन स्पष्ट खण्डों में बँटी हुई है। पहला खण्ड वह है, जहाँ पर कसाब आक्रामक है और गांधी मौन हैं। यहाँ पर कसाब बहुत तीखे सवाल करता है, देश, काल और स्वयं गांधीजी के बारे में भी। दूसरा खण्ड वह है, जहाँ पर दोनों सम यानी एक समतलता पर नज़र आ रहे हैं। एक दूसरे को समझने का, जानने का प्रयास कर रहे हैं। तीसरा खण्ड वह है, जहाँ पर गांधीजी हिंसा को खारिज करने के अपने सिद्धान्त के उजाले में कसाब को खड़ा हुआ छोड़कर निकल जाते हैं। इन तीनों खण्डों के सन्धिस्थल बहुत सॉफ़्ट ट्रांज़ीशन के साथ रचे गए हैं, ताकि पाठक को किसी भी प्रकार का झटका नहीं लगे। हृदय परिवर्तन जैसी कोई मेलॉड्रामिक स्थिति नहीं बने। हिंसा और अहिंसा में वैचारिक टकराव हो। फिर यह भी हो कि पाठक उस मेटाफ़र को भी समझे जिसमें कहानी रची गई है, नहीं तो यह प्रश्न भी सामने आ जाएगा कि कसाब जैसा अनपढ़ और जाहिल लड़का इतिहास और भूगोल के ऐसे-ऐसे प्रश्न कैसे कर सकता है। पाठक यह समझ सके कि यह मुलाकात एक वरचुअल मुलाकात है, और यहाँ गांधी और कसाब व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे दो विचारधाराओं के प्रतीक के रूप में एक वरचुअल स्पेस में भिड़ रहे हैं। हालाँकि यह भी सच है कि कसाब ने जेल में रहते समय गांधी की आत्मकथा का अनुवाद तथा कुछ अन्य पुस्तकें भी पढ़ी थीं। गांधीजी जब तीसरे खण्ड में आक्रामक होते हैं तो कुछ मेलॉड्रामिक संवाद वहाँ आ गए हैं जैसे इसी लाठी से तोड़ दूँगा इन नरभक्षी इमारतों को। वहाँ पाठकों को थोड़ा अखर सकता था।



पंकज सुबीर ने ध्यान रखा है कि कहानी में बहुत अधिक पात्रों की गुंजाइश नहीं थी। अधिक पात्र कहानी का सन्तुलन बिगाड़ सकते थे। चौँक मूल कहानी तो हिंसा में अन्तर्निहित तत्वों पर आधारित है, वे तत्व जो भूख और गरीबी जैसी चीजों की उपज हैं, न कि किसी धर्म की। धर्म तो हिंसा को ग्लोरिफाई तथा जस्टिफाई करने हेतु है ताकि जो आ रहे हैं उनके आने हेतु एक अतिरिक्त और सरल-खाँचाबद्ध आकर्षण भी बना रहे। गांधी ने इस कारण को बहुत पहले जान लिया था इसीलिए हिंद स्वराज की बात कही थी, समानता की बात कही थी। गांधी जानते थे कि पढ़े-लिखे और भरे-पूरे लोगों को बगलाया नहीं जा सकता। यदि समाज में समानता है तो हिंसा स्वयं ही अपना स्थान बनाने में नाकाम हो जाएगी। तब बड़ी-बड़ी लफ्फाजियों की आवश्यकता नहीं रह जाएगी अहिंसा के पक्ष में। 'सी-7096' अथवा 'कसाब डॉट गांधी एट यरवदा डॉट इन' कहानी आजादी के भी पहले से आज तक और भविष्य में भी जाती है। दोनों पात्रों के साथ वह जाने कितने और पात्रों की रचना और उन पर चर्चा करती है। भूत भविष्य और वर्तमान तीनों की कहानी है यह।

चौथी कहानी अनघ शर्मा की 'सब सीमाब सुनहरे' है जिसके जिक्र से पहले यह कहना समीचीन लगता है कि कहानी क्या होती है? उसे कैसी होना चाहिए? और उसे कैसे लिखा जाये? इस पर हर लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण हो सकता है। पर कहानी पढ़कर पाठक को क्या महसूस हुआ, यह कहानी और उसके कहन की मुख्य बात है। अनघ शर्मा की जिस कहानी का जिक्र मैं कर रहा हूँ वो लमही के जुलाई-सितम्बर '15 के अंक में प्रकाशित हुई है। कहानी यूँ सरसरी तौर पर देखी जाये तो अपने सीधे-सादे कथ्य को कहती भर है। पर अगर इसे संवेदना के स्तर पर पढ़ें तो यह दो स्त्रियों के अपने-अपने संघर्ष को बयान करती है। कहानी एक साथ दो स्तरों पर बात करती है। एक कहानी की नायिका छोटी नानी की तरफ से, दूसरी सहनायिका जानकी की तरफ से। कहानी लेखक के चिर परिचित अन्दाज में लिखी गयी है। एक नए तरीके से फ्लैशबैक से वर्तमान में लौटती हुई और बिम्बों से आगे बढ़ती हुई।

'सब सीमाब सुनहरे' कहानी में दो स्त्रियों के एक साथ एक अनुभव और जीवन जीने को रूपायित किया गया है आपसी सहमति और असहमति के साथ। कहानी में नया क्या, अब ये बात आती है। अनघ की जितनी भी कहानियाँ

आयी हैं सब 2010 के बाद ही आई हैं। उनकी कहानियों के कथानक नए होकर भी एक खास किस्म के अतीत को साधते हुए चलते हैं। यह कहानी एक साथ भाषा और बिम्ब के कई प्रयोग करती है और संवादों के भी, यहाँ तक कि कहानी में दिखाया गया पक्षी का बिम्ब भी कई जगह बोलता-सा नज़र आया है, "परिदा सोच रहा था कि ये वही जानकी है। कितनी बदल गयी है। बाल कानों तक कटवा दिए हैं और टखनों तक जाने कैसी साड़ी लपेट रखी है। उल्टे हाथ की कलाई में कभी एक कंगन हुआ करता था। जाने कहाँ गया ? अब तो दोनों कलाईयाँ कोरी हैं। शिव मन्दिर की पुजारिनें इतनी नीरस, रूखी क्यों होती हैं?" कहानी की पृष्ठभूमि दक्षिण भारत का एक छोटा-सा शहर और उसका मन्दिर है। कहानी का एक हिस्सा पौराणिक बिम्बों के सहारे आगे बढ़ता है और रूढ़ियों पर प्रहार भी करता है। जैसे कि पश्चिम बंगाल की स्त्रियों का नौकरी के लिए उत्तर भारत आना या शादी के नाम पर होने वाली खरीद-फ़रोक्त का जिक्र, कहानी छोटे हिस्सों में ही सही पर कई जगह फैली हुई इन कुरीतियों के बारे में बताती है और उनका विरोध भी करती है। ईश्वर भी इसमें सामान्य चरित्र की तरह ही आता है और कथानक का एक प्रमुख हिस्सा भी है।

यह कहानी स्त्री विमर्श की न होकर भी एक खास तरह का विमर्श करती है और स्त्री स्वतंत्रता की हिमायत करती है। कुछ संवादों में इसे बखूबी देखा जा सकता है; जैसे - "हर जिन्दगी एक खास मकसद के लिए होती है, इसे यूँ ही किसी फ़िज़ूल रूमनियत के लिए बर्बाद नहीं करते। रूमनियत बस थोड़ी ही देर साथ देती है, जो दूर तक हाथ पकड़कर साथ चले, झट उसकी हथेली थाम लेनी चाहिए।" एक और संवाद कहानी को गम्भीर बनाता है, "यूँ अपना आप खुद नहीं मिटाते जानकी, किसी कहानी की नायिका होना, प्रोटागोनिस्ट होना, ये कब कहता है कि आप लीक और लोक दोनों को तोड़ ही न सकें।" आज के सम्बन्धों के मानवीय पहलुओं को दिखाने वाला यह वर्णन भी उल्लिखित किया जाना चाहिए, "सम्बन्ध की मजबूती उसके साहचर्य में होती है न कि उसे ज़िम्मेदारी मानने में। सबको अपना-अपना बोझ खुद ही उठाना पड़ता है। इसे उठा कर चलने वाले को कभी-कभी बीच बीच में रुककर तलवों पर कड़वा तेल और पानी मिलाकर लगाते रहना चाहिए। एक तो थकान मिटती है और छाले भी नहीं पड़ते। बिन छालों के पैरों से चलोगी तो दूर तक चल पाओगी और कन्धों के बोझ को भी

सँभाल पाओगी। मोंटी तुम्हारे जीवन का छाला है, इसे निकालो और कोई रुई का फाहा धरो।”

कहानी ने कथ्य की सटीक अभिव्यक्ति के लिए कुछ नए शब्द-चित्र भी गढ़े हैं जैसे एक जगह बादलों के लिए “छाँव के बड़े बड़े टुकड़े”। इस कहानी की सबसे अच्छी बात यह है कि कहानी के सभी पात्रों में एक साफगोई है, अपने किसी भी लिए हुए निर्णय के लिए उन्हें कोई झिझक नहीं है। कहानी अपने कहने की शैली में भाषा का एक नया विस्तार दिखाती है। मिथकीय बिम्बों और पत्र शैली से बुनी यह कहानी अपनी बात कहने में पूरी तरह से सफल प्रतीत होती है।

पाँचवीं कहानी अमिय बिन्दु की ‘मोती’ है, जो मुझे बहुत पसन्द आई है। छीजती सम्बेदनाओं के दौर में जबकि हमारी जिन्दगी से इंसान बेदखल होते जा रहे हैं, ‘अक्षर पर्व’ में प्रकाशित अमिय बिन्दु की यह कहानी बरबस पाठकों का ध्यान खींचती है। जानवरों को लेकर पहले तो बहुत सारी कहानियाँ लिखी गई हैं लेकिन वर्तमान दौर में ऐसी कहानियों को याद करने के लिए दिमाग पर बहुत ज़ोर डालना पड़ता है। इस कहानी में कुत्ता मोती ही नायक है। वह आधुनिक शहरी परिवारों में पलने वाला ‘पेट (Pet)’ नहीं है जो तमाम तरह के फ़ैशन, स्टेटस-सिम्बल और अकेलेपन का विकल्प हो।

‘मोती’ कहानी का सूत्रधार अपने बचपन में गली में खेलते समय कराहता हुआ पिल्ला देखता है और उसे उठा लाता है। अपने पिताजी के विरोध और बाज़दफ़ा उसे छोड़ आने के बावजूद वह उसके परिवार का हिस्सा बन जाता है और उसका इंसानी नामकरण होता है। इसके बाद उसे कहानी में मोती नाम से जाना जाता है। नामकरण भी दरअसल उस बदलती बयार का संकेत है जो आजकल फ़ैशनेबल पेट्स में नहीं पाया जाता बल्कि उन्हें सजावट की तरह इस्तेमाल किया जाता है। मोती उस घर का ज़िम्मेदार सदस्य बनकर रहता है। भले ही उसे कार में न घुमाया गया हो, उसे गोद में न लिया गया हो, उसे उतना दुलराया न गया हो।

समय का फेर देखिये, जब मोती को शरण देने वाला लड़का अपने घर से काफी दूर कहीं बड़े शहर में नौकरी करने चला जाता है तो मोती घर पर अकेले बच गए माँ-बाप के अकेलेपन का सहारा बन जाता है। वही पिताजी जो कभी उसे भगा देने को तत्पर थे, उसे अपने बुढ़ापे की

लाठी की तरह देखते हैं। जीविका की खोज में घर छोड़ चले बच्चों के पीछे माँ-बाप कितने अकेले हो जाते हैं इसे भी यह कहानी बखूबी रेखांकित करती है। गाँव और छोटे कस्बों में तो यह हर परिवार की नियति ही बन चुकी है। संयुक्त से एकल परिवार तक और फिर नाभिकीय परिवार से लिब-इन रिलेशनशिप, और इसके बाद इतने अधिक एकाकी बनकर हम इतने आत्मरत होते जा रहे हैं कि हमारे जीवन में दूसरे का प्रवेश हस्तक्षेप की मानिंद होता जा रहा है। स्वयं पति-पत्नी जैसे औपचारिक और प्रेमी-प्रेमिका जैसे अनौपचारिक सम्बन्धों में भी ‘स्पेस’ के नाम पर एक भयानक ख़ामोशी पसरती जा रही है। यह ख़ामोशी इन सम्बन्धों के चरमराकर टूट जाने पर भी नहीं हटने वाली। अपने-अपने इलेक्ट्रॉनिक गैजेट में खोये आसपास की दुनिया से बेखबर समय के एक ही कम्पार्टमेंट में यात्रा कर रहे अजनबियों के समय में यह कहानी मानवीय सम्बेदनाओं के लिए एक मर्मवेधी माहौल रचती है।

अस्तित्ववाद के बाद विखण्डनवाद, और उसके बाद भी एक लम्बा दौर तय कर लेने के बावजूद इंसान अभी तय नहीं कर पा रहा है कि उसके आगे बढ़ने की दिशा क्या हो? सारे आन्दोलन मूलगामी सिद्ध हो रहे हैं और हमारे गाँवों और कस्बों में जीवन बचे-खुचे लोगों से ही चल (रेंग) रहा है। महानगरों और राजधानियों की ओर कूच कर गए लोग अब इन लोगों के लिए बाहरी साबित होते हैं। संचार के द्रुत साधनों के बावजूद अब वे समाज का हिस्सा नहीं रह गए हैं। उनकी चिंताओं के बरअक्स गाँव और कस्बों की जिन्दगी हाशिये पर कर दिए गए लोगों की जिन्दगी है जिसमें गाहे-बगाहे झाँक लेने में कोई बुराई नहीं है। दूसरी ओर गाँवों और कस्बों में बच गए लोग उनकी ओर उसी उम्मीद और आसरे से देखते हैं। उनकी तस्वीर और यादों को उनसे जुड़ी चीज़ों में सहेजने की असफल कोशिश करते हैं मगर काल की मार से कुछ कहाँ बच पाता है! लेकिन कहानी खोए हुए मोती के माध्यम से यह एहसास-ए-सुखन ज़रूर देती है कि कुछ चीज़ें कभी नहीं बदलेंगी और इंसानी ज़रूबात इन्हीं चीज़ों में शामिल हैं।

कहानी की विशेष बात यह है कि वह कहीं भी शोर नहीं मचाती। न तो पीछे छूट आए माँ-बाप के अकेलेपन को लेकर अलग से कुछ कहती है और न ही मोती के प्रति अतिरिक्त सजगता दिखाती है। लेकिन जब सूत्रधार की घर से वापसी वाले दिन शाम को मोती घर नहीं लौटता तो कुछ

वाक्यों में ही सारी सम्बेदनाएँ सतह पर आ जाती हैं। कहीं किसी वाद का जिक्र नहीं और न ही पलायन या बेदखली जैसी अनुभूति, लेकिन बूढ़े होते जा रहे पिता की रात भर की चिन्ता और सुबह-सबरे मॉर्निंग वॉक के नाम पर मोती को खोजने निकल जाना मन को गीला कर देता है। शिल्प हालाँकि बहुत साधारण है जिसे और चौबस्त किया जा सकता था लेकिन कथ्य की सम्बेदनाएँ उस ओर नज़र ही नहीं जाने देती। माँ-बाप को घर छोड़कर महानगरों में रह रहे हम जैसे लोगों को यह कहानी और भी अपनी लगती है। जीने का सहारा कोई भी हो सकता है लेकिन यह तय है कि सहारा चाहिए। फिर भी, मनुष्य न जाने क्यों और अकेले, और अकेले होते जाना चाह रहा है। गाँवों और कस्बों में तो आज भी तमाम तरह के पशु-पक्षी हमारे जीवन के अभिन्न अंग हैं, मगर महानगरों में एकाकीपन, सन्नास, अवसाद और उदासी में डूबे लोगों के लिए पेट्स एक मेडिकल ज़रूरत बनते जा रहे हैं।

छठवीं कहानी विवेक मिश्र की 'और गिलहरियाँ बैठ गईं' है। यह दरअसल, आज के भयावह शोर के बीच स्मृतियों में दबी खामोशियों को टटोलता हुआ, टूटती हुई पितृसत्ता और ढहते हुए मूल्यों के बीच एक मध्यमवर्गीय परिवार की घुटन और डर के तिलिस्म में फँसे सदस्यों के जीवन की मामूली घटनाओं, उनसे उपजे द्वन्द्वों को, उनके छोटे-छोटे सुखों-दुखों में डूबकर सुनाया गया एक बेजोड़ किस्सा है। इसमें पत्नी अपने पति की बेवफाई और उपेक्षा झेलती हुए इतनी संवेदनहीन हो जाती है कि अपने एक बच्चे की मौत पर भी रो नहीं पाती। ये आँसू पति की मृत्यु से कुछ मिनट पहले, उसकी अपने व्यवहार की स्वीकारोक्ति से भरभराकर निकल पड़ते हैं और फिर जीवन्तता की प्रतीक गिलहरियाँ घर की चारदीवारी पर पैर जमाकर बैठ जाती हैं। पूरी कहानी में पाठक एक अजीब से सम्मोहन में बँधा लेखक के साथ चलता है और कहानी के अन्त में यह सम्मोहन जब टूटता है तो साथ ही साथ पितृसत्ता का जादू भी टूटता है।

सहज और सरल भाषा में कहानीपन को बरकरार रखते हुए विवेक मिश्र की कहानियाँ एक साथ कई स्तरों पर घटती हैं। यहाँ भी कहानी सिर्फ इतनी ही नहीं है कि यह एक स्त्री की घुटन और उससे उत्पन्न जड़ता को उसकी निरन्तरता के साथ बयाँ करती है, बल्कि यह इस तरह कही गई है कि इसको पढ़ते हुए पाठक उस घुटन को अपने ही अन्दर महसूस करने लगता है। यहाँ माँ का अकेलापन, पिता की चुप्पी,

ताई का तिलिस्म, घर के एकान्त की सघनता, उसके आसपास तैरता रहस्य, मरा हुआ मँझला भाई, कम उम्र बहन की प्रौढ़ता को छूती समझदारी और उसका धीरे-धीरे माँ में तब्दील होते जाना, मरते हुए पिता की माँ को देखने की इच्छा के बहाने आत्मग्लानि या कि आत्मबोध होना, माँ का आकर पहली बार पिता की कुर्सी पर बैठना आदि ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कहानी एक साथ कई स्तरों पर घटित होती हुई दिखाई देती है।

कहानी के अन्त में एक पत्नी, एक माँ के तनाव का आँसुओं में बह निकलना, हजारों स्त्रियों के सदियों से रुके आँसुओं का बह निकलना ही लगता है। धीरे-धीरे घर की दीवारें साँस लेने लगती हैं, पाठक का मन भी जैसे शान्त होकर पैर जमाती गिलहरियों के साथ हल्के-से मुस्कुरा उठता है। विवेक मिश्र का स्त्रियों के पक्ष में खड़ा कथाकार मन अद्भुत है, जो न सिर्फ स्त्री मन की पड़ताल करता है, बल्कि उसके रेशे-रेशे से परिचित भी कराता जाता है। स्त्री के पक्ष में खड़ी इस कहानी की खासियत ही यही है कि यह किसी विमर्श के इर्द-गिर्द नहीं बुनी गई है बल्कि घटना खुद विमर्श के नए आयाम खोलती हुई पितृसत्ता के विरुद्ध मौन परन्तु पूरी दृढ़ता से खड़ी स्त्री की बात गहन संवेदना के साथ पाठक तक पहुँचाती है। विवेक मिश्र 'गुब्बारा', 'हनियाँ', 'पार उतरना धीरे से' या 'ऐ गंगा तुम बहती हो क्यों' जैसी कहानियों से लेकर 'और गिलहरियाँ बैठ गईं' तक अपनी-अलग भाषा और बिम्ब गढ़ते हुए लगातार आगे बढ़ रहे हैं। इस आगे बढ़ने में कहीं कोई दुहराव नहीं मिलता। वह हर कहानी में नए कथानक के साथ शिल्प और कहन का भी सन्धान करते हुए चलते हैं। जैसे इसी कहानी को पढ़ते हुए आपके सामने वह स्त्री आकर खड़ी हो जाती है जिसे हर स्त्री की तरह पराध्वनियाँ सुनाई देती हैं, ऐसी पराध्वनियाँ जिनके जरिये वह पुरुषों से अलग है पर इसमें कुछ ऐसा है कि वह हर स्त्री की तरह होते हुए भी, उनसे थोड़ा अलग है। मतलब उसका देखना अन्तर्मन के आर-पार देखना है। वह पढ़ी-लिखी नहीं है पर लिखावट देखकर लिखने वाले के मन के भाव पढ़ लेती है। ऐसी कहानियाँ एक बार मन में बैठती हैं तो जीवन भर आपके साथ चलती हैं। इसलिए मुझे वर्तमान समय की कहानियों के प्रचलित कहन के टोटकों से अलग, जहाँ कहानी का कहानीपन गायब होता जा रहा है, विवेक मिश्र की उपस्थिति गहरे आश्चर्य करती है। इसके अतिरिक्त ऐसी कहानियाँ दूसरे कहानीकारों के लिए चुनौती भी पेश करती हैं।

सातवीं कहानी प्रेम भारद्वाज की कहानी 'शहर की मौत' है जो हमारे समय की अनेक आर्थिक-राजनीतिक और मानवीय विसंगतियों को बेहद बारीकी से रेखांकित करती है। नए शहरों और मॉल-कल्चर के हालिया उभार ने किस तरह हमारे देशजपने को खत्म कर दिया है, यही इस कहानी की आत्मा है। इस कहानी में चाची की चाय की वह दुकान, जिस पर चाय पीने वाले सभी लोग एक किस्म के घरेलू अपनापे का अनुभव करते रहे हैं, पूँजी के दबाव के आगे बेदखल होने के लिए मजबूर हो जाती है। यह दुकान महज एक दुकान नहीं है, शहर की एक प्रमुख मीटिंग सेंटर है। यहाँ सिर्फ चाय ही नहीं पी जाती, चर्चाएँ भी होती हैं - स्थानीय या राष्ट्रीय से लेकर अमेरिका और इराक तक की बातें। किसानों की आत्महत्या का सवाल हो, मेधा पाटेकर का आन्दोलन हो या फिर सिंगूर मामले पर ममता बनर्जी का अनशन ही क्यों न हो, दुनिया का कोई भी विषय इस चाय की दुकान पर होने वाले विमर्शों के दायरे से बाहर नहीं है। अमर्त्य सेन की भाषा में कहें तो आर्ग्युमेंटेटिव इंडियन की यानी बतकही की पूरी परम्परा अपने इन्द्रधनुषी रंग में यहाँ सुलभता से मौजूद है। इसी दुकान पर चाय पी-पीकर बड़े होने वाले लोग आगे चलकर मुख्यमन्त्री तक बनते हैं लेकिन बदलते समय के साथ अपने सिद्धान्तों से समझौता कर लेते हैं और पूँजी तथा पूँजीवाद के आगे लाचार होकर घुटने टेक देते हैं।

कहानी 'शहर की मौत' आज के कॉरपोरेट जमाने के इस द्वन्द्व को भी उजागर करती है कि किस प्रकार मीडिया चैनल वाले कुछ 'स्टोरीज' को यह कहकर खारिज कर देते हैं कि वह समाचारीय होने की बजाय साहित्यिक है और किस तरह साहित्यकार कुछ 'स्टोरीज' को यह कहकर दरकिनार कर देते हैं कि वह साहित्यिक होने की बजाय समाचारीय है। पत्रकारीय ढंग से कही गई इस कहानी में मुसलसल चलने वाला कथा-तत्व मजबूत है और गजब की किस्सागोई भी मौजूद है। ऐसी किस्सागोई जिसे पढ़ते हुए एक आम हिन्दी पाठक अपने जातीय परिवेश के लघु महासागर में गोते लगाने को मजबूर होने लगता है। प्रेम भारद्वाज का गम्भीर गद्य-लेखन पूँजीवादी आर्थिक नीतियों के सहज अमानवीय परिणामों को बहुत सहजता से बयाँ करता है। मानवता के प्रति लोगों की घटती संवेदना को यहाँ भ्रम और हकीकत के बीच चल रही लड़ाई के रूपक की शक्ल में पेश किया गया है। आज के तरक्कीयाफ़्त समाज में जो बीमारियाँ हैं, उनके प्रति प्रेम भारद्वाज बहुत सजग हैं।

वे लिखते हैं कि भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में कर्मचारियों को अच्छा पैकेज इसीलिए दिया जाता है ताकि मनुष्यों का 'सही इस्तेमाल' किया जा सके।

आठवीं कहानी जिसका वर्णन-विश्लेषण करना आवश्यक लगता है, विमल चन्द्र पाण्डेय की 'बाबा एगो हड़ये हँउएँ' है। यह कहानी मैंने समालोचन ब्लॉग पर पढ़ी थी। यह कहानी अपनी संरचना में नई है, यहाँ दिल्ली पर थूककर उसे त्यागने के बिम्ब हैं, 'अंगूर खट्टे हैं' वाले भाव को विमल ने अपने व्यंग्यात्मक लहजे में इस कहानी के पात्र और स्थलों के ब्यौरे में बाकायदा बुना है। पत्रकारिता और साहित्य के मेलजोल को रूपायित करने वाली यह बहुकोणीय कहानी अपनी भाषिक संरचना में गजब की मजबूती प्रदर्शित करती है और पाठक के हृदय का इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम की तरह परीक्षण करती है। यह कहानी प्रवाहमान है और प्रवाहमान कहानी लिखना किसी भी कथाकार के लिए आसान नहीं होता, खासकर तब, जब उसमें समय की जटिल यात्रा का दस्तावेजीकरण भी करना हो। विमल के यहाँ यह दस्तावेजीकरण स्थानीयता की सौंधी खुशबू के साथ आता है। यह ऐसी स्थानीयता नहीं है कि दो-चार बनारसी शब्दों का घालमेल करके इसे दिखाने की कोशिश की जाए, बल्कि ऐसी स्थानीयता है जो कथ्य के हरेक वाक्य और शिल्प की हरेक सहज प्रस्तुति में आसानी से दिख ही जाया करती है। महानगरों के वैचारिक बुखार को मापने के लिए जिस वाचिक और भाषिक थर्मामीटर की जरूरत पड़ती है, वह विमल के पास है। वाक्यों की सहज-मृदुल संरचना की कहानीकार को बारीकी और बेहद गहरी समझ है और वे चाहें तो कहानी की बुनावट और संरचनात्मकता की एक साहित्यिक फैक्टरी भी खोल सकते हैं।

नौवीं कहानी के रूप में कथाकार राकेश मिश्र की 'सभ्यता समीक्षा' का उल्लेख करना चाहूँगा। यह कहानी काफ़ी पहले पढ़ी थी, और तभी यह लगा था कि जॉन रीड की 'टेन डेज दैट शुक्र द वर्ल्ड' या नाज़ियों के दौर के अलग-थलग पड़े रहने वाले घेदों का इतना शानदार उपयोग किसी कथानक में किया जा सकता है। कहानी बहुत सारे खाँचों को तोड़ती है, मसलन किसी की शक्ल, बोली, पहनावा-ओढ़ावा या नाम का सरनेम वाला हिस्सा मात्र देखकर उसका किसी खास समुदाय से तादात्म्य स्थापित कर लेना खतरनाक किस्म का सरलीकरण हो सकता है। दरअसल इस कहानी का प्रतिपाद्य ही यही है कि हम क्यों कुछ

स्टीरियोटाइप्स में जी रहे हैं, जीते ही चले जा रहे हैं और सहज सवालों से जूझने की बजाय उन्हें स्वयंसिद्ध (एक्जिअम) की तरह स्वीकार कर लिया करते हैं। कहानी के नैरेटर के बहाने राकेश मिश्र का ट्रीटमेंट ऐसा है कि इस कहानी में सचमुच सभ्यताओं की समीक्षा का विट-सा कुछ उठ खड़ा होता है। कहानी का कोमल पक्ष वह है जब समापन की तरफ बढ़ती कहानी में एक लड़की अपनी वेदना-व्याकुलता के चरम-बिन्दु को स्पर्श कर रही होती है। यह कहानी अपने भाषिक सन्तुलन, समय के प्रति कथाकार की गहरी समझ और उतने ही सटीक तरीके से उस समझ के वर्णन के लिए याद की जाती रहेगी।

दसवीं कहानी तरुण भटनागर की 'गुलमेंहदी की झाड़ियाँ' है, जो अभावों की कारुणिक कथा का साहित्यिक विस्तार है। यहाँ सुन्दर का अवयस्क होना उसकी रोजी-रोटी के लिए नकारात्मक साबित होता है। यह कहानी चीजों को स्याह-सफेद के विभाजन में देखने का विरोध करती है। जरूरी नहीं कि शराब पीने वाला आदमी बुरा ही हो, कभी-कभी ऐसा आदमी किसी गरीब और जरूरतमन्द को पचास की नोट भी दे सकता है। बिना किसी नैतिक अहंवाद के। कहानी एक बच्ची के मन में यथास्थिति को अन्ततः स्वीकार करवा लेती है क्योंकि वह बच्ची सोच लेती है कि गुलमेंहदी की झाड़ियाँ भले ही उसकी फ्रॉक और उसके शरीर को निरन्तर खरोंचते रहें, वह अब स्कूल के बारे में नहीं सोचेगी। पर कितना कोमल बालमन और सरल-हृदय है उसका, जब वह सोचती है, कि स्कूल के बारे में सोचो, तो कितनी जल्दी समय बीत जाता है। यह कहानी विकासशील और अल्पविकसित देशों में व्याप्त ऐसी समस्याओं का जायजा लेती है, जिस पर बातें तो कई दशकों से हो रही हैं, लेकिन जिनका कोई ठोस समाधान निकालने की ईमानदार कोशिश कभी की ही नहीं गई। तरुण की खूबी इस कहानी में यह है

कि वे मानव-मन की छोटी-छोटी बुलबुलों-सदृश भावनाओं को अपेक्षित विस्तार दे पाने में सक्षम सिद्ध हुए हैं।

ग्यारहवीं कहानी कथादेश के दिसम्बर 2010 अंक में प्रकाशित कैलाश वानखेड़े की कहानी 'कितने बुश कितने मनु' है। यहाँ सरकारी तामझाम की निरर्थकता, फोटोकॉपी और फाइलबाजियों की विसंगतियाँ और व्यवस्था-तन्त्र की खामियों पर बारीक टिप्पणी है। यह कहानी हमें सोचने पर विवश करती है कि दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र में आज़ादी के छह-सात दशक बाद भी कितना कुछ बदला है और कितना कुछ पूर्ववत् जड़ बना हुआ है। कहानी बताती है कि सम्प्रेषण के माध्यम भले ही उन्नत होकर अब ई-मेल और फ़ैक्स की शक्ल में हमारे सामने आते हैं, लेकिन सम्प्रेषण के मुद्दे वही के वही और वहीं के वहीं हैं।

अन्त में बहुत विनम्रता के साथ यह स्वीकार करता हूँ कि इधर जो कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं, उनमें से कुछ ऐसी कहानियों का ज़िक्र मैंने किया है, जिनकी चर्चा करना मुझे जरूरी लगा। खासतौर पर उनके किसी न किसी नएपन के कारण। यहाँ वर्णित सभी कहानियाँ इसी शताब्दी में प्रकाशित हुई हैं, बल्कि कुछ तो काफी इधर ही यानी हाल-फिलहाल में ही छपी हैं। यह कोई सूची नहीं है। इसमें कोई रैंकिंग करने की कोशिश भी नहीं है। न तो इसका तात्पर्य किसी का भी उत्कर्ष-अपकर्ष दिखाना है, न ही कोई वरीयता या पसन्दगी-नापसन्दगी की सूची बनाना। यह भी कि, जिन कहानियों का उल्लेख नहीं किया है, उनमें से भी कई पढ़ी हैं, उनका आनन्द भी लिया है, लेकिन उन पर फिर कभी विस्तार से लिखा जाएगा।

जी-22, एन.पी.एल. कॉलोनी  
न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-110060  
फ़ोन - 09990665881

नीरज खरे

## जादू , यथार्थ और कहानी

हिंदी कहानी में जादुई यथार्थवाद की चर्चा अब भी नई मानी जाती है। यद्यपि इसकी सर्वप्रथम चर्चा आलोचक चंचल चौहान ने कहानीकार पंकज बिष्ट और उदय प्रकाश की कुछ कहानियों को लेकर कोई द्वाई दशक से भी पहले आरंभ की थी। वैसे तो जादुई यथार्थवाद का संबंध दक्षिणी अमेरिका के देशों से है। लातीनी अमेरिकी देशों में जादुई यथार्थवाद के उद्भव और विकास का अपना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य रहा है। वहाँ 1950 के बाद कथा साहित्य में यह एक आंदोलन की तरह उभरा। हिंदी कथा साहित्य में जादुई यथार्थवाद की चर्चा कम होना आश्चर्यजनक है। जबकि जादुई यथार्थवाद की जन्मभूमि दक्षिणी अमेरिका की जमीनी विरासत और परिस्थितियाँ भारत से काफी मिलती जुलती हैं। पर इस ओर रचनाकारों का ध्यान उतना नहीं गया। बल्कि, जब कहानियों में इन प्रवृत्तियों का प्रयोग हुआ तो आरोपों से उन्हें हतोत्साहित किया गया। यह ठीक है कि यथार्थ कहानी की प्राण-चेतना है। बिना इसके कहानी निष्प्राण हो जाएगी। कहानी ही नहीं, यथार्थ किसी भी कला का ज़रूरी घटक है। पर कोरा यथार्थ या नग्न यथार्थ, कहानी के कहानीपन की क्षति करके आता है, तो उसके आने पर एक बार विचार होना चाहिए। समय या देशकाल का यथार्थ सामने रखकर रचना के यथार्थ को परखने की बहुप्रचलित पद्धति की समस्या यही है कि हम यथार्थ को सिर्फ कुछ मानकों के नजरिए से देखने के अभ्यस्त हैं। जबकि कहानी की उत्पत्ति इस अभ्यास के विरुद्ध ही हुई है। भले ही जादुई यथार्थ की अवधारणा का आरंभ कहानी के सफर में काफी बाद (नौवें दशक के आरंभ) में हुआ हो। पर इसकी जड़ें 'कथा' की मूल प्रकृति से गहरे जुड़ी हैं।

कहानी की मूल प्रकृति श्रुति-स्मृति परंपरा में मौखिक रही है। तब कहानी के लिए यथार्थ पहाड़ जैसा सवाल नहीं था। मिथक, आख्यायिका, गल्प, रूप, निजंथरी-कथा और लोक कथा के आभासी देशकाल के बीच जीवन मूल्य की अभिव्यक्ति ही उसका

यथार्थ था। कहानी की निष्पत्ति जितनी महत्वपूर्ण थी, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण था कि कहानी में वह निष्पत्ति होती कैसे है? यही कहानी की खूबी थी, जिसे चमत्कारिता, कौतूहल, रोचकता, औत्सुक्य और कभी अलौकिक भी कहा गया। अतिरंजना और अतिलौकिकता या अद्भुत कल्पना से ही कहानी, कहानी बनती थी। 'बल' से बड़ी 'बुद्धि' होती है—यह कहने में खरगोश और सिंह के रूपकों में ढली कहानी अधिक आकर्षित करती है, न कि सिर्फ उसकी दी गई सीख! आशय यह कि कहानी के भीतर उसकी निहित बनावट में कोई न कोई असाधारण या असामान्य आयाम ही कहानी होने को चरितार्थ करते हैं। इन आयामों को सुविधा के लिए कहानी का 'जादूपन' भी कहा जा सकता है। भारत का प्राचीन कथा साहित्य, लोक-कथा और आख्यानों की वाचिक परंपरा में 'कहानी का जादूपन' भरा पड़ा है। यही विरासत आधुनिक हिंदी कहानी की पृष्ठभूमि है। इस विरासत को जब पश्चिमी कहानी के रूप-विन्यास और कला का प्रभाव मिला, तो कहानी सृजन की नवीन आधुनिक विधा के रूप में प्रस्फुटित हुई। आधुनिक होने के क्रम में कहानी की सारी जद्दोजहद अपने देशकाल को जानने-पहचानने के बीच कहानी के जादूपन को बचाए रखने में रही। कहानी की विरासत में यथार्थेतर संसार इस तरह यथार्थ में उद्घाटित होता था कि वह कहीं अलग से लाया गया प्रतीत नहीं होता था। हिंदी कहानी ने अपनी इस विरासत से काफी कुछ संजोया। पर कहानी ने जब अपने वाचिक संसार को छोड़ यानी 'कहने' और 'सनुने' को छोड़ मुद्रित पाठ यानी 'लिखने' और 'पढ़ने' में रूपांतरित किया, तभी कहानी लौकिक सच्चाइयों को अर्जित करने में तत्पर होती गई।

इस प्रक्रिया में कहानी मिथकों, पौराणिक संदर्भों, दंत कथाओं में रची-बसी तर्कातीत, अतिप्राकृत, अतिरंजित और उपदेश-शिक्षा की सामुदायिक-जातीय स्मृतियों और धारणाओं से मुक्त होती गई। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते देशकाल में फैले यथार्थ और यथार्थ के विभिन्न रूपों के उद्भासित होने के संदर्भों का यहाँ विस्तार करना आवश्यक नहीं है। कहानी विधा के आगे आधुनिक युग के निरंतर बहुरूपी होते देशकाल को समझने और अपने ढाँचे में समो लेने की चुनौती थी। आधुनिक हिंदी कहानी ने अपने प्रादुर्भाव और यात्रा के अगले मुकामों पर अपनी शक्ति 'यथार्थ' को आयत्त

करने में खपा दी। जाहिर है अन्य विधाओं की तरह कहानी के भी आधुनिक होने के यही मापदंड थे। निःसंदेह यही होना भी चाहिए। जीवन, समाज और समय की सच्चाइयों के बिना कोई भी साहित्यिक विधा आगे बढ़ भी कैसे सकती है? यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी विरासत से बहुत कुछ जान-सीख कर कहानी में प्रेमचंद ने घटित किया। अकारण नहीं कि वे कहानी में यथार्थवादी-समाजोन्मुख कथा-धारा के मानक कथाकार हैं। उन्होंने भारतीय कहानी की विरासत को अपने सरोकारों की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुतः आधुनिक बनाया। उनकी सामाजिक पक्षधरता, वैचारिकता और कथा-दृष्टि के चलते आलोचकों ने उनके कथा साहित्य को यूरोपीय यथार्थवादी पद्धति के निकट माना है। कहानी को मुकम्मल राह पर ले आना उनका ऐतिहासिक योगदान है। पर यह भी देखना चाहिए कि उनके यथार्थवादी-आदर्शवादी नजरिए की कहानियाँ लिखते हुए, वे कहानी में 'अनहोनेपन' को महत्वपूर्ण मानते थे। यह 'अनहोनापन' उनकी अतिप्रसिद्ध 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी यथार्थवादी कही जाने वाली कहानियों में भी है। प्रेमचंद के विपुल कहानी-संसार में ही 'दो बैलों की कथा' 'मूठ' 'मंत्र' और 'नागपूजा' जैसी कहानियाँ भी हैं। इनमें रूपक, जादू-टोना, झाड़ू-फूँक या ऐसे मत-मान्यताओं का जिक्र आया है। हालांकि, अध्विश्वास और धार्मिक रूढ़ियों का अपने लेखन में विरोध करने वाले प्रेमचंद पर इस तहरे के मुद्दों पर कहानियाँ लिखने को लेकर आरोप भी लगे! पर अधिकांशतः वे उनके खंडन-मंडन के बजाए उनके सहारे अपने निहित उद्देश्य या मूल्य को संप्रेषित करते हैं। यहाँ कहानी के यथार्थेतर आयामों के चलते यथार्थ की ओर जाने की चेष्टा है। अगर प्रेमचंद ने यूरोपीय ढाँचे को अपनी कहानी के लिए विचारणीय माना है, तो अपनी विरासत से प्राप्त कहानी के 'अनहोनेपन' (जिसे जादूपन भी कहा जा सकता है) को भी तरजीह दी है।

प्रेमचंद के बाद कहानी में विकसित कथा दृष्टि के मुहावरों में यथार्थ की उपस्थित सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती गई। प्रगतिवादी दौर में कहानी के चमत्कारिक-जादुई एहसास का क्रमशः क्षरण हुआ। आश्चर्य कि यह सब प्रेमचंद की परंपरा के अनुकरण में नाम पर हुआ—जिन्होंने यथार्थग्राही होते हुए भी, कहानी में किसी न किसी जादुई एहसास (उनके अनुसार अनहोनापन) को अर्जित किया था। किस्सागो प्रेमचंद

की हिंदी कथा आलोचना में यथार्थवादी लेखन के 'मॉडल' की तरह इतनी चर्चा होने की क्षति यह हुई कि उन्हें भारतीय कथा के स्वाभाविक विकास के नजरिए से नहीं देखा गया। उनकी जिन कहानियों में यह संभावना अधिक नजर आती है तो उनको आदर्शवादी मॉडल या कमजोर किस्म की कहानियों में रखकर हाशिए में डाल दिया। बहरहाल नई कहानी के दौर में आधुनिकतावादी-अनुभववादी चलन की कहानियों के बीच कहानी की 'कला' पर नए सिरे से विचार हुआ। नई कहानी में कई बँटवारे थे। पर कहानी को अपनी जमीन से भी देखने की कोशिश हुई। राजेंद्र यादव की 'सिंहवाहिनी' कमलेश्वर की 'अपने देश के लोग' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' जैसी कहानियों में यह कोशिश दिखती है। जादुई यथार्थ की पूर्वपीठिका में यहाँ फैंटेसी शिल्प के जरिए रची गई है और यथार्थ के किसी आयाम तक कहानी पहुँच गई है। हरिशंकर परसाई की 'भोलाराम का जीव' और 'इंसपेक्टर मातादीन चाँद पर'; तो बिल्कुल भिन्न अंदाज की फैंटेसी है। ऐसी कहानियों में उल्लेखनीय है- अयथार्थ के आयामों की आकर्षक उपस्थिति। परसाई की कहानियाँ अयथार्थ के इंद्रजाल में काल को लौंघकर अपने 'वर्तमान यथार्थ' पर आकर ठहर जाती हैं। मसलन 'भोलाराम का जीव' में नारद, चित्रगुप्त या यमराज जैसे चरित्रों की अपनी स्वायत्त सत्ता वास्तविक नहीं है, पर वे कहानी के निहितार्थ को व्यंग्य-शिल्प में ढालने, अहम भूमिका निभाते हैं। रेणु की 'तीसरी कसम उर्फ़ मारे गए गुलफाम' कहानी को विशेषतः आंचलिकता के कारण पहचान मिली है। यह भी देखना चाहिए कि यहाँ लोक तत्त्वों के भरोसे कहानी को विकसित करना, कहानी के यूरोकेंद्रिक मुहावरे को बदलता है। पश्चिमी कहानी से हिंदी कहानी के प्रभावित होने का मिथ भी टूट जाता है। कहानीकार महुआ घटवारिन की लोक कथा को प्रतीकात्मक उपस्थिति द्वारा अधिक समृद्ध और विश्वसनीय बना देता है। कहानी में लोक या पौराणिक कथाओं की प्रतीकात्मकता की शक्ति ऐसी कहानियों का उल्लेखनीय पक्ष है।

नई कहानी के बाद हिंदी कहानी किसिम-किसिम के आंदोलनों के उद्घोषों में घूमती-फिरती रही। इस बीच कहानी में कितनी 'कहानी' बची, कहना मुश्किल है। पर कहानी के मूल स्वभाव को जानने-पहचानने के क्रम में इन आंदोलनों का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। यहाँ उल्लेखनीय

है सातवें दशक के बाद कहानी के पुनः यथार्थवादी होने की जद्दोजहद और प्रेमचंद की परंपरा में फिर लौटने की कोशिश। मालूम नहीं कि प्रेमचंद की परंपरा गुम कब हो गई थी! क्या प्रेमचंद की परंपरा केवल वही है, जिस पर चलने की बार-बार गुहार लगाई जाती है? आठवें दशक में कहा गया कि 'वर्ग संघर्ष' के नजरिए से कहानीकार अपने दौर की सच्चाई देखने की कोशिश कर रहे थे। चंचल चौहान ने ठीक लिखा है कि "सत्तोंतरी हिंदी कहानी में चित्रित मनुष्य हाड़-मांस का और हमारे देशकाल का मनुष्य न होकर कलाकार द्वारा गढ़ा हुआ, किसी अन्य समाज या काल्पनिक दुनिया का आसमान से टपका मनुष्य होता था। इस तरीके से यथार्थ को समझने और चित्रित करने को 'समाजवादी यथार्थ' की संज्ञा दी जा रही थी जबकि सत्य यह कि दृष्टि और प्राणाली के तौर पर इस तरह की रचनाएं बूर्जुआ 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के सकारात्मक स्तर तक भी नहीं पहुँच पा रही थीं।" (हिन्दी कथा साहित्य : विचार और विमर्ष-चंचल चौहान, पृ. 152) यह भी कहा जा सकता है कि नवें दशक के पूर्व तक हिंदी कहानियाँ कमोबेश अपने समय, स्थितियों और अंतर्विरोधों की 'आलोचना' करते हुए लिखी जाती रहीं। नौवाँ दशक इस मायने में काफी महत्वपूर्ण है कि कहानी रूमानी क्रांतिकारिता और रूढ़ जनवाद से पृथक होकर जीवन की वास्तविकताओं और बदल रहे यथार्थ को उसकी परिवेशजन्य संश्लिष्टता में ग्रहण करती है। अब तक चली आ रही आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद से भिन्न कथा साहित्य में जादुई यथार्थवाद की अवधारणा- नयी पद्धति की तरह प्रचलन में आयी।

जादुई यथार्थवाद के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में न जाकर रोचक यह जानना होगा कि अब तक प्रचलित यथार्थ की कोटियों से भिन्न जादुई यथार्थवाद क्या है? साथ ही भारतीय संदर्भों में इसकी प्रासंगिकता क्या है? संक्षेप में कहा जाए तो जादुई यथार्थवाद का तात्पर्य कहानी की ऐसी शैली से है जिसमें लोक कथाओं, मिथकों और दंत कथाओं की तर्ज पर चमत्कार, पुनर्जन्म, अंधविश्वास, जादू-टोना, अफवाहों, किंवदंतियों, पारलौकिक घटनाओं, धर्म-कर्म और लोक आस्थाओं के तत्त्वों का अवलंब लेकर यथार्थ को रचनांतरित किया जाता है। इन तत्त्वों का खंडन या मंडन करना कहानीकार का ध्येय नहीं होता, ध्येय तो यथार्थ ही होता है- ये तो कहानी



के प्रयोग में उपकरण होते हैं, परिणाम 'अभिप्रेत कथ्य' होता है। जैसा कि उल्लेख किया भी गया कि भारत में जादुई यथार्थवादी पद्धति के एक मौलिक कथा शैली के रूप में उभरने के लिए स्वाभाविक परिस्थितियाँ मौजूद थीं। कहानी परंपरा में भी इस अपेक्षाकृत नए जादुई यथार्थवाद के मौजूदा तत्त्वों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने की कोशिश इस लेख के आरंभ में की गई है। वस्तुतः जिस समाज में जादू-टोनों, कर्मकांडों और तंत्र-मंत्र की छाया में जीवन चलता हो, जहाँ हर बात को पिछले जन्मों के फल से जोड़ा जाता हो, जहाँ शरीरी और अशरीरी का भेद ढूँढ़ना मुश्किल हो, जहाँ हर गाँव-मोहल्लों के अपने-अपने भूत-प्रेत चुड़ैलों और नाग-नागिनों के किस्से मौजूद हों, जहाँ चमत्कारों की जय-जयकार होती हो, जहाँ कार्तूसों में गाय-सुअर के चर्बी की सूचना आग की तरह फैलकर सैन्य विद्रोह का कारण बन सकती हो, जहाँ विज्ञान एवं सूचना-क्रांति को धता बताकर एक दिन में गणेश प्रतिमाओं के दुग्ध-पान की खबर सारे देश में फैल जाए और दूध लिए मंदिरों में लोगों की भीड़ लग जाए, वहाँ से अच्छी जमीन जादुई यथार्थवादी शैली के लिए और कोई नहीं हो सकती। जादुई यथार्थवाद एक कथा पद्धति है और शिल्प का अनूठा प्रयोग भी। हिंदी कहानी में इसकी बहस की शुरुआत पंकज बिष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' 'आवेदन करो' 'खिड़की' और 'मोहेंजोदड़ों' तथा उदय प्रकाश की 'टेपचू' और 'तिरिछ' जैसी कहानियों के जरिए आयी।

नौवें दशक में यथार्थ अभिव्यक्ति की इस नई तलाश की ओर चंचल चौहान ने अपनी समीक्षाओं से ध्यान दिलाया था। वे उदय प्रकाश और पंकज बिष्ट को इसलिए विशिष्ट कहानीकार मानते हैं कि 'उन्होंने अपनी कहानियों में जादुई यथार्थवाद की पद्धति का इस्तेमाल करके यथार्थ को बहुत ही प्रभावकारी ढंग से सामने रखा।' (वही, पृ.87) हालांकि कि वे हिंदी में मुक्तिबोध की -ब्रह्मराक्षस का शिष्य' को जादुई यथार्थवाद की पहली कहानी मानते हुए, जादुई यथार्थवाद को परिभाषित करते हैं- "अपने देश और समाज के विश्वासों और अनेक मान्यताओं को सारगर्भित अर्थ में प्रयुक्त करते हुए यथार्थ के चित्रण का नाम ही जादुई यथार्थवाद है।" (वही, पृ.87-88) वे यह भी मानते हैं कि "हिंदी के कथा साहित्य में जादुई यथार्थवाद का शुरुआती रूप देवकीनंदन

खत्री के साहित्य में था, किन्तु उसे हमारे यहाँ विकसित नहीं किया गया।" (वही, पृ.86) मुक्तिबोध की इस कहानी को फैंटेसी मानने वाले आलोचक चंचल चौहान की इस मान्यता से असहमति व्यक्त करते हैं। फैंटेसी में रचनाकार कल्पना से एक संसार रचता है-वहाँ यथार्थ कुछ इस ढंग से आता है कि विस्मय से भर देता है। फैंटेसी में अतिप्राकृत तत्त्वों की उपस्थिति भी पाठकों को आकर्षित करती है और पाठ को रोचक बना देती है। कहा जा सकता है कि रचना को यथार्थ और फैंटेसी से संबंधित विचार या कल्पना प्रयोग का समानुपातिक योग श्रेष्ठ बनाता है। इस लिहाज से देखें तो फैंटेसी का जादुई यथार्थवाद से एक गहरा रिश्ता बना है। जादुई यथार्थवाद की पृष्ठभूमि आसानी से फैंटेसी युक्त रचनाओं में खोजी जा सकती है। यद्यपि दोनों कला युक्तियाँ अलग-अलग भी हैं। इसीलिए फैंटेसी युक्त रचनाओं में जादुई यथार्थ का भ्रम हो जाना अवश्यंभावी है। फैंटेसी की परंपरा अनेक रूपों में कहानी में विद्यमान रही है। नई कहानी से अब तक उसका एक व्यवस्थित रूप कहानियों में रहा है।

नई कहानी के दौर की ऐसी कुछ कहानियों का उल्लेख किया गया। इसी दौर के कहानीकार रामनारायण शुक्ल की एक कहानी 'नागमणि' इस मिथक पर आश्रित है कि 'नाग के मणि होती है।' इसी तरह विद्यासागर नैटियाल की कहानी 'पीपल के पत्ते' इस विश्वास पर टिकी है कि 'पीपल के पत्ते पवित्र होते हैं।' इन कहानियों के आशय देखें, तो यह भ्रम टूट जाता है कि कहानी मिथक या विश्वास के महिमा मंडन के लिए हैं। परसाई की 'भोलाराम का जीव' भी प्रचलित मिथक को आधार बनाती है। लोक प्रचलित कथा रूढ़ियों का प्रयोग भी कहानियों में होता रहा है। मनुष्येत्तर प्राणियों को पात्र बनाकर कहानियों की अभिव्यक्ति 'कथा की विरासत' में ही नहीं प्रकारांतर से नए संदर्भों को जोड़ती रहीं। एक समय प्रेमचंद ने 'दो बैलों की कथा' में दो बैलों को पात्र बनाया था। उदय प्रकाश की पीढ़ी के कथाकार हरि भटनागर की कहानी 'बजरंग पांडे के पाड़े' उसमें नई कड़ी जोड़ती है। पालतू पशुओं के जरिए कर्मठ और कामचोर आदमी के जीवन की वास्तविकता का सटीक आकलन इसमें हुआ है। बजरंग पांडे के यहाँ दो पड़वे पैदा होते हैं। बड़े होने के बाद एक, जिसका नाम भोला है-वह खूब मेहनती और आज्ञाकारी निकलता है। लेकिन दूसरा चंदुआ अकर्मण्य और

चालाक। किन्तु अंत में भोला के हिस्से आता है-कसाई की छुरी के नीचे कटना और बदमाश व कामचोर चंदुआ को प्राप्त होता है, पशु मेले में पहला पुरस्कार और नस्ल सुधारने के लिए लगातार संभोग! गहरे व्यंग्य-बोध में यह कहानी इंसानी समाज का ही विरोधाभास बयान करती है। ऐसी कहानियों को जादुई यथार्थ की कहानियाँ सिद्ध करना हमारा ध्येय नहीं है। इनके उल्लेख के मार्फत हिंदी कहानी में जादुई यथार्थवाद की उर्वर भूमि को दिखलाना है। जिस जमीन पर जादुई यथार्थवाद के पनपने के अनेक अवसर मौजूद हैं।

हिंदी कहानी की परंपरा में लोक-वार्ताओं, पुराण-कथाओं, मिथकों और लोक-विश्वासों की कथानक-रूढ़ि का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है। हिंदी कहानी को ऐसी शैलियाँ-शिल्प समृद्ध करते हैं। उनका प्रयोग सिर्फ कौतूहल, मनोरंजन, हास्य या चमत्कार के लिए नहीं, यथार्थ के आयामों को उद्भासित करना ही रचनाकार का लक्ष्य होता है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने अकारण नहीं लिखा कि “जादुई यथार्थवाद में जादू तो सिर्फ कहने को होता है यथार्थ ही ज्यादा होता है। वस्तुतः यथार्थ ही अपनी धार बनाने के लिए कार्य-कारण का क्रम लाँघकर झटके में एक फैंटेसी रचता है, वेदना की धार की पहचान कराने में सक्षम बिंब का उच्छलन करता है।” (कुछ कहानियाँ : कुछ विचार-विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 136) पंकज बिष्ट की कहानी ‘मोहन राम (दास), आखिर क्या हुआ?’ में एक गरीब लड़का (नौकर) मालिक के लड़के से उसके जूते के दाम सुनकर भौचक रह जाता है। बेलगाम उपभोक्तावाद किसकी दुनिया को मार रहा है? लड़के का अपनी परिचित दुनिया से पलायन का अयथार्थ स्वप्न में घटित हुआ। रात को जूता हवाई जहाज बन जाता है, जिसमें बैठकर वह अपने गाँव की यात्रा कर रहा है। वायुयान का टूटकर गिरना और लड़के का मर जाना। इस पूरे वृत्तांत को जादुई यथार्थ की शैली ने प्रभावी बनाया। विश्वनाथ त्रिपाठी यदि यह लिखते हैं, तो ठीक ही कि “आखिर-देखी या सामने की तर्कसंगत दुनिया से हटकर हम स्मृति की दुनिया में प्रवेश करते हैं। कल्पना का लोक, स्मृति से निर्मित दुनिया है। पुराण, लोक-वार्ता, मिथक आदि को जातीय स्मृति कह लीजिए। जादुई यथार्थ भी सामान्य तर्क तोड़कर बनी हुई दुनिया है। सामान्य तर्क तोड़कर वह निर्बंध होता है इसीलिए स्वप्न से मिलती-जुलती है।” (वही, पृ.137) उदय प्रकाश

की ‘टेपचू’ के मजदूर टेपचू का पूरा शरीर गोलियों से छलनी हो चुका है। वह मर भी जाता है। पुलिस उसकी लाश पोस्टमार्टम के लिए भेज देती है। पर डॉक्टर के सामने आँखें खोलकर अपने मारे जाने की सच्चाई बोलते हुए, वह गोलियाँ शरीर से निकाल कर बचाने की प्रार्थना करने लगता है। इस कहानी को किसी वैचारिक आरोपण से बचाकर, घटना और पात्र को सामाजिक परिस्थितियों में विकसित होने दिया है। इसलिए अपने समय की क्रांतिकारी यथार्थ गढ़ने वाली ढेरों कहानियों में एकदम अलग है। इसे सांकेतिक अर्थवत्ता का विधान अद्भुत बनाता है। ‘कला के तीन क्षण’ भी यहाँ चरितार्थ होते हैं, इसीलिए कला-दृष्टि से जादुई शिल्प की सफल रचना माना गया है। यहाँ वास्तविकता भी कायम है और कहानी ‘चकित’ भी करती है। कहानी अपने वस्तुगत सौंदर्य के साथ उद्देश्य को सार्थक करती है, तो इसमें शिल्प की अहम भूमिका है। मिथकीय चेतना के स्तर पर कहानी उद्घोष करती है कि श्रमशील जनता सत्ता के दमन और आतंक के विरुद्ध बार-बार खड़ी होकर अपने अस्तित्व रक्षा के लिए अडिग रहेगी।

उदय प्रकाश की ‘तिरिछ’ कहानी कला के तीन क्षणों से होकर जादुई यथार्थवाद की अभिव्यक्ति को भले ही पूर्णतः चरितार्थ न करती हो, पर अपने संवेदनात्मक लक्ष्य को इसी कला के सहारे प्रभावपूर्ण बनाती है। जादुई यथार्थ के लेखक के लिए जरूरी हो जाता है कि वह जिस परिवेश को चित्रित करना चाहता है उसकी गहरी जानकारी होनी चाहिए। तिरिछ में ‘तिरिछ’ के बारे में प्रचलित लोक विश्वास की पूरी वस्तुनिष्ठता का ध्यान रखा गया है। जादुई यथार्थवाद प्रेरित कहानियों में यथार्थ छिपा रहता है और कहानी के पाठ में ‘अद्भुत’ या ‘जादुई तत्त्व’ ही तैरते हुए नजर आते हैं। तिरिछ जो इस कहानी में शहरी सभ्यता के दुश्चरित्र का प्रतीक बनकर आया है-उसके माध्यम से कहानी अपने अभिप्राय की सार्थक और सफल अभिव्यक्ति करती है। तिरिछ एक विषैला जंतु है, जिसके काट लेने पर मृत्यु अवश्यभावी है और इसे लेकर जो लोक विश्वास हैं, उन सभी का उनकी ही अवधारणाओं में निहित व्यक्ति के बचने के तर्कों का समाधान कहानी में पिताजी की घटनाओं के साथ हो जाता है। जैसा कि सामान्यतः लगता है कि पिताजी की इतनी प्रताड़ना के पश्चात् अंततः मृत्यु का कारण तिरिछ का जहर है। जबकि

कहानी में तमाम सूचनाओं और घटनाक्रम का संकलन मृत्यु के वास्तविक कारण की खोज है। इसी के चलते उदय प्रकाश के इस शिल्प को जादुई यथार्थवाद के लेखक मार्केस की प्रसिद्ध रचना 'पूर्वघोषित मृत्यु का खबरनामा' (क्रानिकल ऑफ दि डेथ फोर टोल्ड) से प्रभावित माना गया। यहाँ भी विभिन्न अलग-अलग घटना स्थितियों का संकलन हुआ है। इस कहानी में निहित यथार्थ और शिल्प के मेल ने सिद्ध किया कि कहानी यथार्थ की कोरी रपट या विवरण नहीं-आख्यान और यथार्थ को उद्घाटित करने का कलात्मक साधन भी है।

दंत कथाओं, लोक कथाओं और अफवाहों के सहारे जादुई यथार्थवाद की अभिव्यक्ति का उम्दा उदाहरण संजय खाती की कहानी 'बापू की घड़ी' है। बापू के दर्शनों की भीड़-भड़क्के में भुवनचंद्र को एक जेब-घड़ी पड़ी मिल जाती है। उसके पहाड़ी गाँव सुभान बगड़ और पूरे इलाके में उस घड़ी और भुवनचंद्र के अनेक किस्से, वाक्ये और चमत्कार जुड़ गए। वह भविष्यवाणियाँ करने लगता है। उसकी कही बातें चमत्कार की तरह सच होने लगीं। यह अफवाह फैल जाती है कि गाँधी जी की हत्या के बाद घड़ी से एक किरण निकलकर उसके शरीर में प्रवेश कर गई थी और उसका जीवन बदल गया, उसे गाँधी की सिद्धि मिल गयी। उसके घर में दरबार और मेला भरने लगा। अब वह जैहिंदी के नाम से विख्यात है। कहानी में दिलचस्प मोड़ तब आता है, जब वह लोगों के कहने से कालीगंगा नदी पर पुल बनवाने के लिए सत्याग्रह पर बैठ जाता है। प्रशासन और पुलिस बल प्रयोग से उसका आंदोलन तोड़ देती है। कलेक्टर धमकाकर जैहिंदी से माफीनामों पर दस्तखत करवा लेते हैं। घटना के बाद जैहिंदी के चमत्कारों की चर्चा खत्म हो जाती है। वह जेब घड़ी जैहिंदी से उसके ताऊ गोपालदत्त ले जाते हैं जिनका बेटा गौरीदत्त चुनाव लड़ रहा है। गौरी दत्त कांग्रेस का बड़ा नेता बन जाता है, तो जैहिंदी का विश्वास हो गया कि घड़ी का चमत्कार अभी बाकी है। वह पोते के साथ घड़ी लेने दिल्ली पहुँचता है। किंतु गौरीदत्त ने घड़ी म्यूजियम में दे दी थी। जैहिंदी चुपके से म्यूजियम पहुँचकर शीशे तोड़ कर घड़ी निकालते वक्त पकड़ा जाता है। म्यूजियम में वह घड़ी आज भी ठप पड़ी है। कहानी का यह अंश उल्लेखनीय है कि नीरज खरे जिस आदिम समाज में जादू-टोनों कर्मकांडों की छाया

में जीवन चलता हो, जहाँ शरीरी और अशरीरी का भेद इतना धुंधला हो कि बैट न सकें, उसमें जैहिंदी के चमत्कार कोई बड़ा आश्चर्य नहीं थे। आश्चर्य तो यह था कि पारलौकिक विधि-विधानों के इस घटाटोप में, जहाँ हर कोस पर चावलों को देखकर भविष्य पढ़ लेने वाले पुछरे और गाँव में देवता को शरीर में जमा लेने वाले डंगरिए मौजूद हों, वहाँ जैहिंदी दो दशक तक लोगों के जीवन पर शासन करता रह सका। जैहिंदी की यह ताकत उस घड़ी में निहित थी। लोग जानते थे और जैहिंदी भी कि पूछरे धुर्त हो सकते हैं, डंगरिए झूठे हो सकते हैं, लेकिन बापू का वचन गलत नहीं हो सकता।'' (इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 2000, पृ. 95-96) जनता के इस अटूट विश्वास के दूसरी ओर देश के नेता हैं जिन्होंने गाँधी का नाम सिर्फ वोट काटने में इस्तेमाल किया और जब गाँधी के विचारों को अमली जामा पहनाने का मौका मिला तो गाँधी को म्यूजियम में कैद कर दिया। म्यूजियम में ठप पड़ी घड़ी, गाँधीवाद को देश से खारिज किए जाने का सटीक प्रतीक बन जाती है। पंकज बिष्ट और उदय प्रकाश की जादुई शिल्प की कहानियों के बाद बीती सदी के ठीक अंत में लिखी गई यह कहानी, हिंदी कहानी में जादुई यथार्थवाद की उपादेयता सिद्ध करते हुए अगली कड़ी जोड़ती है।

हिंदी कहानी में जादुई शिल्प को अपनाकर यथार्थ-दृष्टि विकसित करने की कोशिशें कम हैं। जब भी ऐसी कोशिशें हुईं, अलग पहचानी गईं। बीती सदी के बाद जिस नई पीढ़ी का कहानी में उन्मेष हुआ। उस पीढ़ी के एक कहानीकार रवि बुले की कहानी 'लापता नत्थू उर्फ दुनिया न माने' वैसे तो आज की राजनीतिक प्रक्रिया के मूल चरित्र को सामने रखना चाहती है। लेकिन, कहानी जादुई मिक्सिंग के जरिए प्रचलित यथार्थवादी पाठ को निरस्त करती है। कहानी की सफलता निहित यथार्थ के पाठ की रोचकता से है, जिसका चरम नाटक के मंच से नत्थू के लापता होने में घटित होता है। कहानी में आरंभ से अंत तक की गई प्रयोगधर्मिता जादुई शिल्प का भिन्न अंदाज है। जरूरी भी नहीं कि जादुई यथार्थवाद हमेशा अपनी सैद्धांतिकी के साथ घटित हो! युवतम पीढ़ी के एक कहानीकार शिवेंद्र की लंबी कहानी 'कहनी' (पल प्रतिपल-78, जुलाई-दिसंबर 2015) समकालीन कहानी की असाधारण उपलब्धि की तरह रेखांकित होना चाहिए। अपनी बनावट के लिए यह कहानी अपने लोक की विरासत की मूल

जड़ों से अपना संबंध जोड़कर, अपने विस्तार को समाज, इतिहास से होकर वर्तमान तक ले जाती है। एक कथा फलक पर इतने समयों की चेतना एकाग्र करना, जो पढ़कर हैरत में डाल दे! ऐसी कहानी बड़े कौशल का प्रतिफल होती है। कहानी में एक अंश आता है, जो कहानी विधा के लिए भी उल्लेखनीय है “समय के साथ हर कहानी बदलनी चाहिए। अगर कोई कहानी अपने वक्त के साथ नहीं बदल रही तो इसका मतलब है कि वह पीढ़ी या तो काहिल है या कायर या फिर कल्पनाशील नहीं है।” (वही, पृ. 335) यह कहानी खुद इस बदलाव का मुकम्मल पाठ है, जो लोक कथा में समकाल को उपस्थित करती है। हिंदी कहानी में दो समानांतर कहानियों से कथ्य की मुकम्मल अभिव्यक्ति के उदाहरण कई हैं। नई कहानी के कथाकार कमलेश्वर की ‘राजा निरबंसिया’ से लेकर युवा पीढ़ी के ही कहानीकार आशुतोष

की ‘मरें तो उम्र भर के लिए’ मरें यह प्रयोग हुआ है। पर शिवेंद्र की कहानी में वह अवधारणा बदल जाती है—एक ही कहानी के कई समानांतर पाठ हैं। बच्चे अपनी दादी से कहानी सुनते-सुनते, वे कहानी को स्थगित कर कथा के काल में पहुँच जाते हैं। कथा काल कई-कई कालों से टकराता है। कहानी में ‘समय’ की सभी प्रचलित धारणाओं को निरस्त कर दिया गया है। लोक कथा की कहानी में यथार्थ के इतने आयामों को छू लेना— सचमुच चमत्कार जैसा ही है। अब इसे कोई जादुई यथार्थ की कहानी माने या न माने, पर इसमें जादू है और यथार्थ भी। इस तरह ‘जादू’ और ‘यथार्थ’ के मेल की परंपरा कहानी में बनती हुई दिखती है। जाहिर है हिंदी कहानी को अपनी उर्वर जमीन पर समर्थ होने की संभावनाएँ अनंत हैं।

---

हिंदी विभाग,  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,  
वाराणसी - 221005 (उ.प्र.)  
मोबाइल : 09450252498

सुभाष चन्द्र कुशवाहा

## हिन्दी कहानी और किसान अनुभूति

आज खेती-किसानी के सवाल और सवालों की शक्ल बदल गई है। किसानों के जटिल प्रश्नों को आयातित विचारों और लम्पट कारपोरेटी आक्टोपसी भुजाओं ने फांस कर, खाद्यान्न, खाद, बीज और कीटनाशकों पर नियंत्रण कर, अपने व्यवसाय का संवर्द्धन किया है। दुनिया का मठाधीश बनने वालों के पांव, किसानों की पीठ और पेट पर पड़ रहे हैं। गांव की जल, जमीन, जंगल का दोहन उनके एजेंडे में है। अपने माल को खपाने के लिए गांवों को उपभोक्ता बनाने की चाल, उनके एजेंडे में है। उनका अगला पड़ाव कारपोरेट खेती है। किसानों के पास खोने को जमीन के अलावा और कुछ बचा नहीं है। भूमि अधिग्रहण, विकास का मूलमंत्र बना दिया गया है। ताल्लुकदारों और ज़मींदारों द्वारा औपनिवेशिक काल के बेदखली की ही तरह, जमीन हड़पने का काम, कुछ भिन्न तरीके से शुरू हो चुका है। औपनिवेशिक काल में किसानों ने अपनी समस्याओं के लिए लम्बा संघर्ष किया था। दक्षिण का मोपला विद्रोह, गुजरात का खेड़ा और अवध के किसान विद्रोहों ने लगभग समान काल में ब्रिटिश सत्ता और सामंतों के बीच खौफ पैदा किए। आजादी के बाद भी तमाम किसान विद्रोह देखने को मिले मगर किसानों की दशा और दुर्दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य पर शुरू से कुलीनतावादियों का एकाधिकार रहा है। 1900 से लेकर 1960 तक के सरस्वती अंक में खेती-किसानी की त्रासदी पर एकाध कहानियां ही मिलती हैं। वर्ष 1934 में 'गरीबों का स्वर्ग' (श्रीनाथ सिंह) कहानी में कुछ हद तक गांव, गरीबी, किसानों का दर्द दिखाई

देता है। बहुत पहले बेचन शर्मा उग्र की कहानी पढ़ी थी- 'अभागा किसान'। यह कहानी 1929 के आसपास लिखी गई थी। तब से अब तक गांवों में बहुत कुछ बदला है मगर उस कहानी में किसान त्रासदी की अभिव्यक्ति आज नब्बे साल बाद भी कमोबेश वैसी ही है। आज अगर कथा साहित्य में वह नहीं दिखाई दे रही तो उसका कारण, हिन्दी कहानीकारों की प्राथमिकताएं और उनका अभिजन का करीबी होना है। बहुत कम कथाकार हैं जो गांवों और खेती-किसानी की पृष्ठभूमि पर कहानियां लिख रहे हैं। हिन्दी कथा साहित्य में गंवई पृष्ठभूमि, धूल धूसरित वितान, छीजते नदी-नाले, हरीतिमा से मुक्त होते बाग-बगीचे, बैलों के गले से गायब हो चुकी घुंघरुओं की टनटनाहट, चिड़ियों की टिहकारियां और टोले-जवार में पसरती धूर्तता या अमानवीयता की जब भी जांच पड़ताल की बात उठती है तो हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचंद, रेणु से बात शुरू होती है और हांफते-कांपते कुछ डग भरने के बाद कहने को अकाल पैदा होने लगता है। गांव बदल चुके हैं। गांव की संस्कृति और सामूहिकता में घुन लग चुका है। ऐसे में कुछ कहानीकार गांव-गिरांव की कहानी लिख रहे हैं तो कुछ पुराने आदर्शों को याद कर गांव और खेती-किसानी को 'नॉस्टाल्जिया' की तरह ले रहे हैं।

ऐसा क्यों है कि देश की सत्तर प्रतिशत आबादी का यथार्थ, तीस प्रतिशत की खुशामदी और चाकरी के लिए बाध्य है। आजादी के बाद से अब तक, तीस प्रतिशत इण्डिया के हाथों में सारा संसार है। मगर सत्तर प्रतिशत भारत के हाथों में आत्महत्या, विस्थापन और घर-परिवार

की बर्बादी है। ब्रिटिश काल में ज्यादातर किसान किराये पर खेती करते थे। जमींदारी खत्म होने के बाद पट्टे पर खेती करने वाले किसानों की जगह, भूमिहीन या भूस्वामित्व वाले किसानों का दर्जा मिला मगर किसान त्रासदी की कहानी खत्म नहीं हुई। बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'अभागा किसान' का 'भिक्षुन', तब बड़ी लड़की की शादी के लिए महाजन से कुछ रुपये कर्ज लिया था। फसल खराब हुई और कर्ज की भरपाई नहीं हो पाई। भिक्षुन को जमींदार के कारिंदे पकड़ ले गये। उसकी पत्नी ने बच्चों व सास की दशा देख धैर्य खो दिया। वह दोनों छोटे बच्चों को खाना देने के बहाने एक तालाब के पास ले गई और बच्चों का गला ऐंठ कर तालाब में फेंकने के बाद स्वयं तालाब में कूद कर जीवन लीला समाप्त कर ली। किसान आत्महत्या की यह त्रासदी, खत्म नहीं हुई है। आज भी कर्ज से दबे किसान, फसल खराब होने या बेटी की शादी न कर पाने के तनाव में ऐसे ही कर रहे हैं। बिगड़ते पर्यावरण संतुलन के चलते, फसलचक्र का ताना-बाना बिगड़ने लगा है।

आज जमींदारी नहीं है मगर साहूकार या बैंक कर्ज से दबे किसानों की कुर्की और आत्महत्या, ठीक भिक्षुन के परिवार की तरह जारी है। या यों कहें कि बढ़ी है, बढ़ती जा रही है। पूरे ब्रिटिशकाल में किसान आत्महत्या के बहुत कम मामले प्रकाश में आये थे। गोदान में एक होरी ने आत्महत्या की थी मगर विगत दो दशकों में साढ़े तीन लाख किसानों ने आत्महत्या कर ली है। वह वक्त अंग्रेजी दासता का था, आज चांद पर कुलांचे भरने का दंभ भरने वाला आजाद भारत है। डिजिटल इण्डिया का ख्वाब पाले गाय और गोबर में उलझा हुआ 'इण्डिया वाला भारत' है। इस 'इण्डिया वाले भारत' में मनरेगा वाले गांव हैं जहां के सरकारी स्कूलों में ब्रिटिशकालीन भारत की तरह पढ़ाई-लिखाई और खेल-कूद नहीं होते। अब वहां बच्चे पहाड़ा भी याद नहीं करते। केवल मिड-डे-मील का इंतजार करते हैं। आज बच्चों को किताबें, वजीफा, स्कूली कपड़े, साइकिल या लैपटॉप तो मिल रहे हैं, मगर शिक्षा नहीं मिल रही। अन्नदाताओं के प्रति व्यवस्था का क्रूर व्यवहार स्थाई स्वरूप ग्रहण कर चुका है जो विकास, सभ्यता और मानवीय सोच को मुंह चिढ़ाता बढ़ रहा है। आखिर इन बदलते गांवों का यथार्थ, कहानियों में आना चाहिए या नहीं? आना चाहिए तो किस रूप में, हमारी चिंता का विषय यही है।

आज प्रेमचंद के गांव नहीं है। पंच परमेश्वर से सैकड़ों गुना छल-कपट, धूर्तता और द्वेष का जन्म हो चुका

है। देश और वैश्विक स्तर पर हुए परिवर्तन बता रहे हैं कि सब कुछ बदल गया है। डंकल, पेटेंट, मुक्त व्यापार, केबल संस्कृति, इंटरनेट, ई-मेल, चैटिंग, एस0एम0एस0, डिजिटल कैमरे और स्मार्ट फोन की नई चहकती, चमकती दुनिया में गांवों की सुध-बुध नहीं रही किसी को। बेशक आज भी हमारे गांव लाठी टेकते बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं मगर मुट्ठी भर धनाढ्य, मर्सिडीज लिए एक्सप्रेस हाईवे पर दौड़ रहे हैं। संबंधों की नई परिभाषा गढ़ी जा चुकी है। नई तकनीकों के साथ जो आत्मकेन्द्रित लम्पट संस्कृति आयी है, उसने आस-पड़ोस, हित-मित्र, भाई-भौजाई और यहाँ तक कि भाईचारा, सब कुछ निगल लिया है। युवा दिग्भ्रमित और हताश हुए हैं। किसानों ने भूख मिटाने के लिए या कर्ज से मुक्ति के लिए सल्फास खाया है या कीटनाशकों को पी लिया है।

किसानों और उनके बाल-बच्चों का भविष्य भी अंधेरे में है। विगत दो दशकों में सरकारी नौकरियों की समाप्ति, उजड़ते कल-कारखाने, कम्प्यूटीकृत दुनिया से गँवई युवाओं की बेदखली और 'मेक इन इण्डिया' की लफ्फाजी के सिवा कुछ हाथ नहीं आया है। बेरोजगार युवाओं की दिग्भ्रमित ऊर्जा गलत कामों में इस्तेमाल की जा रही है। चाहे वह आतंकवाद का क्षेत्र हो या अंधराष्ट्रवाद का। ये बेरोजगार युवक गाय, गाय का मांस, धर्म विशेष का अपमान करने के बहाने, नफरत की दीवार खड़ी करने में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। गांव की महिलाएं तो हमेशा से हाशिए पर थीं हीं, अब जातीय हिंसा की कबीलाई संस्कृति के फैलाव से, सड़कों पर नंगी घुमाई जा रही हैं।

एक-दो दशकों में संचार माध्यमों के फैलाव के बावजूद गांवों की त्रासदियों को बहुत कम स्थान मिल रहा है। प्रशासन की सोच में गांव महज खैरात बांटने से सन्तुष्ट हो जाने वाला है। हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था किसान और किसानों विरोधी बन चुकी है। शिक्षित होने का मतलब, शहरी होना समझा जा रहा है। पढ़ा लिखा युवक खेती नहीं करना चाहता। कृष्णकांत की कहानी 'मुआवजा' का अनुज, शहर से गांव खेती करने आता है तो गांव हैरान हो जाता है। यह हैरान होने की संस्कृति हमारी शिक्षा व्यवस्था की कोख से पैदा हुई है। 'अनुज जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से राजनीतिशास्त्र में एम.ए. करके लौटा तो गांव की चौपालों में बतकूटन के एक नए मुद्दे के बतौर शामिल हो गया। उसे लेकर गांव में एक जुमला चल पड़ा था- पढ़े फारसी बेचों तेल, यह देखो किस्मत कै खेल.....। बुजुर्गवार कहते-अरे

भाई, हम पढ़े लिखे नहीं थे तो भी तो हमने खेती की। उसने तीस बरस की उम्र पढ़ाई में लगा कर क्या उखाड़ लिया? अब वह भी खेती ही करेगा। मूर्खों का कहीं गांव बसता है क्या? इतनी उम्र में तो हम पांच बच्चों के बाप थे। जब खेती ही करनी थी तो दिल्ली-पिल्ली जाकर लाखों रुपया क्यों फूंक आया?’

हमारी शिक्षा व्यवस्था ने जिस शहरी संभ्रांत वर्ग का निर्माण किया है, वह गाँव से कटा हुआ है। शहरी संभ्रांत वर्ग को गाँव की गंदगी और धूल-मिट्टी पसंद नहीं। बिजली, पानी और सड़क की समस्या तो है ही, मीडिया की प्राथमिकता में गाँव नहीं है। व्यावसायिक दृष्टि से इसे गैरजरूरी समझ लिया गया है। इसलिए मीडिया में भी गँवई क्रंदन दिखाई-सुनाई नहीं देता। भूख से होने वाली मौतों पर चर्चा से ज्यादा सेक्स स्कैंडलों की चर्चा व्यावसायिक दृष्टि से जरूरी हो गई है। दृश्य मीडिया में माथे की लकीरें और पैरों की बेवाइयाँ, खूबसूरत जिस्मों की नुमाइश के बरक्स, टी.आर.पी. नहीं बढ़ाती।

तो सवाल उठता है कि ऐसे समय में साहित्य की उपादेयता क्या होनी चाहिए? प्रेमचंद के बाद, साहित्य की दुनिया में गाँव किस रूप में मौजूद है, कितनी ईमानदारी से मौजूद है, इस पर विचार किया जाना चाहिए। मधुकर सिंह, पुन्नी सिंह, विवेकी राय, गुरदयाल सिंह, विजयदान देथा और रामस्वरूप अणखी, जिन्होंने गांवों की कथा-व्यथा से हिन्दी पाठकों को जोड़ा था, और जिनमें से अधिकांश हमारे बीच से विदा ले चुके हैं, उनकी जगह लेने को कौन मौजूद है? गुरदयाल सिंह 85 के करीब पहुंच चुके हैं। शिवमूर्ति ने लम्बे समय से कोई धारदार कहानी नहीं दी है। इस बीच संजीव का एक उपन्यास जरूर आया है, इस मुद्दे पर, मगर शेष सन्नाटा है। अग्रज पीढ़ी में महेश कटारे जरूर गांवों से लगातार जुड़े रहे हैं और एक हद तक अपना योगदान दिया है। नई पीढ़ी के साहित्यकारों की सोच और समझ में किसान मुद्दे के होने या न होने का प्रश्न ज्यादा ज्वलंत है। सत्यनारायण पटेल, कृष्णकांत, चरण सिंह पथिक, सत्यनारायण, सुरेश कांटक और श्री धरम जैसे कुछ नाम दिखाई दे रहे हैं।

ज्यादातर हिन्दी साहित्य शहर केन्द्रित हो गया है। ऐसा इसलिए भी हुआ है कि पढ़ा-लिखा समाज और कहानीकारों का गाँव से रिश्ता टूटता जा रहा है। अगर कुछ रिश्ता है भी तो वह मात्र पुराने अनुभवों और समाचारपत्रों से आ रहा है। इससे वर्तमान के तमाम टटके यथार्थ छूट रहे हैं।

कुछ कहानीकार अगर टटके यथार्थ को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं तो उन्हें उपेक्षित करने और हतोत्साहित करने का काम किया जा रहा है। इस कारण उनकी चाल इतनी सुस्त है कि तेजी से बदलते गांवों के यथार्थ में से बहुत कुछ पकड़ में नहीं आ रहा है। कहा जा सकता है कि जितनी तेजी से उसे आत्मसात करने की जरूरत है, उतनी तेजी से कहानीकार आत्मसात नहीं कर पा रहे हैं। उनके लिए अभी भी सामंती उत्पीड़न और जातिवाद ही मुख्य मुद्दा है। जबकि सच यह है कि तथाकथित विकास की नई दुनिया ने शोषण के नए-नए तरीके इजाद किए हैं। शहरों से कहीं ज्यादा वहां वेदना का क्षरण हुआ है। साइबर दुनिया से कहीं अधिक गांव का आदमी अपनी कोठरी में सिमटने लगा है। चौपाल, किस्से-कहानियाँ, नाच-गाने, खेल-कूद समाप्त हो गए हैं। डाह, कूटनीति, पहले से ज्यादा मुखर हुई है।

खेती को अलाभप्रद बना देने से गांवों से पलायन तेज हुआ है। एकाध घरों में ताले भी लटकने लगे हैं। गांवों से किसानों के पलायन से पहले ही लेखकों का पलायन शुरू हो गया था। यह पलायन, शिक्षित वर्ग द्वारा जीविका की तलाश में हुआ है। जीवन-यापन के लिए इसके अलावा उनके पास और कोई विकल्प नहीं है। अब हल-जुआठ पकड़े, ट्रैक्टर या कम्बाइन के पीछे भागने वाले कलम नहीं पकड़ते। तब देखना यह है कि आने वाले दिनों में कथा साहित्य का गांवों से जो रिश्ता बनेगा, वह सरकारी तस्वीरों से किस रूप में भिन्न होगा।

गांवों में ट्रैक्टर, कम्बाइन और स्मार्ट फोन की सुलभता के बावजूद किसान लाचार हैं। चीनी मिलों के मालिक किसानों के गन्ना मूल्य का भुगतान नहीं कर रहे हैं और सरकारें, किसानों के बजाय, मिल मालिकों को अनुदान पर अनुदान दिए जा रही हैं। बकाया गन्ना मूल्य भुगतान के लिए न्यायालयों की सख्ती काम नहीं आ रही। किसानों के पकुसाये चेहरों पर वेदना की मोटी परत, कर्ज के पहाड़ से लेकर बेटी के ब्याह तक, आत्महत्या में तब्दील हो रहा है। वे कम उम्र में बुढ़ा रहे हैं। वहीं मुट्ठी भर धनाढ्यों के चेहरों पर पुता महंगा ‘सन क्रीम’ उनकी सुन्दरता की हिफाजत कर, तरौताजा रखे हुए हैं। आंकड़े बता रहे हैं कि समाज का साठ प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा खेती-किसानी को मजबूरी वश ढो रहा है। हाईब्रीड बीजों की अप्राकृतिक दशाओं ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा है। ज्यादा खाद, ज्यादा पानी, ज्यादा कीटनाशक और महंगे बीज, मौसम की प्रतिकूलता में लागत मूल्य भी नहीं पैदा कर पा रहे हैं। मोसांटो जैसी

कंपनियों का लाभ दिन-रात बढ़ रहा है। जहां हमारा किसान समुदाय अभी भी आदिम समाज सा जीने को अभिशप्त है, वहीं दूसरी ओर 'मेक इन इण्डिया' और 'डिजिटल इण्डिया' के सवाल को केन्द्र में ला खड़ा किया गया है गोया सबसे बुनियादी सवाल यही हो। आज पूरा का पूरा देश सूखे की चपेट में है और किसान आत्महत्याओं के समाचार दृश्य मीडिया से गायब हैं। जहां एक ओर तमाम छद्म राष्ट्रभक्त अपना क्रांतिकारी इतिहास स्वयं लिखने में जुटे हुए हैं, तो दूसरी ओर नाना पाटेकर जैसे समाजसेवी अपने बल-बूते 5000 ऐसे किसान परिवारों को आर्थिक सहायता बांट रहे हैं, जिनके मुखिया ने सूखे से आहत हो आत्महत्या कर ली है।

ऐसे समय और समाज में, हिन्दी कहानी में किसानों के दर्द की उपेक्षा, गैर वाजिब नहीं कहा जा सकता। हम किसान आत्महत्याओं के सामाजिक संदर्भों की रचनात्मक व्याख्या, कहानियों में तलाशना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि कमजोर समाज के साथ हिन्दी साहित्य खड़ा हो और अपनी सामंती मनोवृत्तियों को त्यागे। अगर साहित्य सामाजिक विडंबनाओं को स्वर देने का काम करता है तो उससे पूछा ही जायेगा कि क्या वह गांवों की विडंबनाओं से टकरा रहा है या बाहर बैठ तमाशा देख रहा है? क्या हमारी कहानी हाईब्रीड कपास की खेती की त्रासदियों तक गई है? या क्या उसने हाईब्रीड बीजों से बुने हसीन ख्वाब पर मौसम की मार को अभिव्यक्ति दी है? क्या भूमि अधिग्रहण के नाम पर औने-पौने में किसानों की जमीनों को हड़प कर रीयलस्टेट कारोबारियों को देकर करोड़ों कमाने के धंधे को संज्ञान में लिया जा रहा है? और अगर नहीं, तो कहा जा सकता है कि हिन्दी कहानी अभी भी अभिजात्यवर्गीय मानसिकता से उबर नहीं पाई है। या इस नई चहकती दुनिया में उसने भी अपना नाता हाशिये के समाज के बजाय मध्यम वर्ग से जोड़ने में ज्यादा दिलचस्पी दिखाई है।

किसानों की त्रासदी से बड़ी कोई सामाजिक त्रासदी आज दिखाई नहीं दे रही। इस त्रासदी से टकराये बिना, कल के भारत का भविष्य चमकने वाला नहीं है। वर्तमान के द्वंद से मुठभेड़ ही भविष्य के यथार्थ का पूर्वानुमान है। कथा साहित्य ऐसे ही मुठभेड़ की वैचारिकी है। तो सवाल यह है कि हिन्दी कहानी में सामाजिक यथार्थ से मुठभेड़ की वैचारिकी क्या है? या वह वैचारिकी अभी भी कुलीनतावादी मनोदशाओं से उबर पायी है?

निश्चय ही उपरोक्त सारे सवालों का जवाब

कहानीकारों की वैचारिकी में मिलेगा। किसी भी वैचारिकी का निर्माण, लेखकीय पृष्ठभूमि, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और जातीय या नस्लीय मनोवृत्तियां शामिल होती हैं, से होकर निर्मित होता है और जनान्दोलनों, जनउभारों या जनभागीदारी द्वारा परिष्कृत होता है। आज हिन्दी कहानी की विडंबना यह है कि वह जनान्दोलनों से दूर है। हिन्दी कहानीकार किसानों, मजदूरों या यों कहें कि सामान्यजन का सामान्यीकरण कर रहा है और कारपोरेट, कुलीनता को कला और अलंकारों की क्लिष्टता पर कस कर वरेण्य बना रहा है। इसके लिए हिन्दी कहानीकारों की मध्यमवर्गीय दृष्टि, गांव से दूरी, खेती-किसानी का किताबी ज्ञान, उनके कथा साहित्य के छद्म के लिए जिम्मेदार है। यही कारण है कि हिन्दी कहानी में बेवफाई विशेषांक निकाले जाते हैं। स्त्री देह और समलैंगिकता, भूख से बड़े सवाल बन, केन्द्र में दिखाई देते हैं।

यह जीवन के उपभोग की सदी है। इसकी शुरुआत ही संबंधों को विस्तार देने के बजाय, सीमित करने से हुई। यह बाजार की भी सदी है। बाजार की सदी में समाज, सभ्यता, संबंध, सबको बाजारू बनाया जा रहा है। आर्थिक संबंध, नितांत निजी जीवन को ही सामाजिक जीवन बताने को आतुर हैं। यह सदी सीमाओं और वर्जनाओं की नई परिभाषा गढ़ रही है। आत्मघाती हमलावरों की संस्कृति में मनुष्योचित व्यवहार की ठीक-ठीक व्याख्या कर पाना कठिन होने लगा है। हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, इन्हीं बनते-बिगड़ते संबंधों, आर्थिक संरचनाओं और वर्जनाओं की उच्छृंखलता की व्याख्या को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। देखा जाना चाहिए कि जो कथ्य या विषय हमारी सोच में है, क्या वह व्यापक समाज का हिस्सा है या उसे प्रभावित कर रहा है? इस नई सदी में हाशिये के समाज को, तथाकथित विकास के बावजूद, पहले से भिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। गांवों की उपेक्षा, किसानों, आदिवासियों के जर-जमीन की लूट और उनका विस्थापन, संघर्ष के स्वरूप को आतंक के स्वरूप में बदला जाना, ज्वलंत मुद्दा बन चुका है। अंधराष्ट्रवादी रुझानों ने धार्मिक पाखंडों, अंधविश्वासों, ठगी और हिंसा को संस्थाबद्ध कर लूट और सत्ता का नया हथियार गढ़ लिया है। स्त्रियां उपभोग की चीज बताई जा रही हैं। ये सब विडंबनाएं कहानी का विषय होनी ही चाहिए और कहानी के मूल्यांकन में ध्यान देने योग्य भी।

बिना वैचारिकी के, हिन्दी कहानी का वर्तमान, समाज के एकांगी रूपांतरण की ही तरह, खुद को एकांगी बनाते चल रहा है। वैचारिक विचलन ही वह कारण बनता



गया, जिससे कहानीकारों ने किसान मुद्दों को गैर जरूरी मान लिया। इसके लिए उनका वर्गाधार भी जिम्मेदार कहा जा सकता है। निश्चय ही कहानी और कहानीकार का भी एक वर्गाधार होता है। वर्गाधार की एक निश्चित विचारधारा होती है। विचारधारा बिना कोई कहानी लिखी ही नहीं जा सकती। आजकल विचारधारा को मजाक का विषय बना लिया गया है। किसान परिवार से जुड़ा कहानीकार ही किसान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करेगा। खास विचारधारा से मुक्ति की बात करने वालों से पूछिये कि आज जो लोग सत्ता-सिंहासन पर आरूढ़ हैं, क्या किसी खास विचारधारा से नहीं जुड़े हैं ? विचार शून्य कोई चीज तो जड़ ही हो सकती है। इसलिए प्रतिबद्धता या पक्षधरता तब तक हेय नहीं होती, जब तक कि वह आरोपित न हो। वह नारा न बन रही हो। जब तक कि वह स्वयं का पक्ष पोषण न कर रही हो। सामाजिक होने के नाते सामाजिकता या खेती-किसानी से जुड़े होने के कारण किसानों के प्रति प्रतिबद्धता या पक्षधरता तो होगी ही। अगर बाजारवाद की आंधी में गांव तबाह हुए हैं, किसान आत्महत्या को मजबूर हुए हैं तो संवेदनशील रचनाकार उस पर जश्न तो मनायेगा नहीं ? गांव या किसानों का पक्ष तो लेगा ही ? क्या यह पक्षधरता नहीं है कि देश का पेट पालने वाले करोड़ों किसानों में से किसी महान किसान की शहरों या गांवों में, कहीं कोई मूर्ति नहीं लगी है। सड़क, तालाब या मैदान के नाम नहीं रखे गये हैं। कहीं कोई स्मारक नहीं बने हैं।

किसानी समाज के दुख-दर्द सघन हैं। वह जीवन संघर्षों से जूझ रहा है। ऐसे में अंबानी और टाटा की ओर खड़े होकर किसान की कहानी नहीं लिखी जा सकती। इसलिए मुझे तो सदा किसान समाज के प्रति प्रतिबद्ध कहानीकार ही भाते हैं जैसे कि गुरदयाल सिंह, महेश कटारे, पुन्नी सिंह, शिवमूर्ति, संजीव, मदन मोहन, सत्यनारायण पटेल, चरण सिंह पथिक, कैलाश बनवासी, सुरेश कांटक, जयनंदन आदि। खेद का विषय है कि इधर हाल फिलहाल कुछ शांति संपादकों ने जमीनी समाज से कटे कहानीकारों को ही उछालने का प्रयास किया है, जैसा कि बाजारवाद की आंधी में शहरों की तुलना में जर-जमीन, गांव उपेक्षित होते गये हैं। कलावादियों की जमात की सीमा तक, कलावादी कहानीकार रहें तो क्या गुरेज ? गुरेज उनके मुख्यधारा में आ जाने का है।

मई 2012 में कथादेश का एक अंक मैंने संपादित किया था-‘किसान जीवन का यथार्थ: एक फोकस।’ उस अंक में किसान मुद्दों को उठाने वाली कुछ कहानियों को

प्रकाशित किया गया था। मदन मोहन की कहानी-‘जहरीली रोशनियों के बीच’, जिसमें बदलता गांव और गांव में चलाई जाने वाली योजनाओं की लूट, नेताओं का झूठ और किसान आत्महत्या की तस्वीर हमारे सामने उभरती है। पराग मांदले की कहानी-‘जमीन से रिश्ता’ गांव से किसानों के पलायन के दर्द को व्यक्त करती है। इस अंक के संपादकीय में मैंने एक सवाल उठाया था कि भारत की तरह भू-भाग और कृषि संरचना वाले दक्षिण अफ्रीकी देशों के लेखकों ने न केवल किसान आंदोलनों में अपनी भागीदारी निभाई है अपितु साहित्य के केन्द्र में उन्होंने किसान समस्याओं को ही रखा है। हिन्दी साहित्य में ऐसा क्या है जो किसान समस्या को केन्द्र में नहीं आने देता ? क्या यह इस साहित्य के विकास और संवर्धन से जुड़े लोगों की मानसिकता को नहीं व्यक्त करता ? इसी अंक में एक साक्षात्कार में सुप्रसिद्ध साहित्यकार गुरदयाल सिंह ने कहा था-‘साहित्य में किसानों के जीवन की समस्याओं को उचित स्थान नहीं मिल पाया। अधिकांश लेखक, विकसित हो रहे नगरीकरण तथा मण्डीकरण के कारण मध्यवर्ग के जीवन की ओर अधिक ध्यान इस कारण भी देते आये हैं कि भारत में आधुनिक साहित्य अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित रहा है। ‘पढ़े-लिखे’ वर्ग के लेखकों को शहरी मध्यवर्ग की (मसनूई) जटिलता अधिक आकर्षित करती आई है। किसानों के जीवन पर पड़ने वाले दबावों की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं रहा। जबकि गांवों के जीवन की समस्याओं का संबंध मानव समाज की जड़ों से है। मानव के शरीर तथा आत्मा की जटिलता किसानों के जीवन में अधिक महत्वपूर्ण है।’

मेरे द्वारा संपादित, ‘कथा में गांव’, की भूमिका में 2006 में प्रमुख आलोचक, प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा था ‘गांवों और किसानों के जीवन पर केंद्रित इस कहानी संग्रह में किसान-आंदोलन की अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है।’

वर्तमान समय में कुछ कहानीकार जरूर हैं जो अपनी प्रतिबद्धता किसानों से बनाये हुए हैं। सबसे पहले महेश कटारे की कहानी-‘फागुन की मौत: बतर्ज किस्सा’ की चर्चा करना चाहूंगा, जो हाल ही में ‘नया ज्ञानोदय’ में प्रकाशित हुई है। हमारी खेती-किसानी आज भी मौसम की मेहरबानी पर निर्भर है। मौसम कभी रूठ जाता है तो कभी किसानों का साथ दे जाता है। अनिश्चितता के इस क्षेत्र में जोखिम ही जोखिम है और लाभ बहुत कम। किसान अपनी जमीन से लगाव के कारण ही उससे चिपका हुआ है। महेश कटारे, किसानों पर मौसम की मार के बावजूद जिजीविषा की उम्मीद को कहानी में व्यक्त करते हुए कहते हैं कि, ‘इस साल रूठा

है तो अगले बरस दया दिखायेगा।” उम्मीद जिंदा रख कर किसान जूझता रहता है। मगर उसके हाथ नाउम्मीदी फिर आती है। अगले साल भी ओलावृष्टि की मार पड़ती है। किसानों की कमर टूट जाती है। सरकार के पास ऐसी प्राकृतिक आपदाओं के जख्म पर, लगाने को कुछ मरहम हैं, कुछ झाड़-फूंक है। राहत के नाम पर, लिए गए कर्ज की अवधि को बढ़ाना, वसूली को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना, आत्महत्या करने वाले किसानों को कुछ आर्थिक मदद देकर अपने को जन हितैषी बताने का प्रमाण है। फसल बर्बाद होती है तो मंत्री, अफसर बर्बाद हुई फसल का जायजा लेने निकलते हैं। फसलमारी तैयार की जाती है। मगर कभी पाला, कभी बूड़, कभी सूखा रोग का रोना चलता रहता है। किसानों की समस्याओं का कोई स्थाई इलाज नहीं किसी के पास। बस उनकी सोच इतनी है कि ‘किसानों को लगते रहना चाहिए कि सरकार उनकी चिंता कर रही है।’ कहानीकार स्पष्ट करता है कि ‘खेती बन्द कमरों, छतों के नीचे की जोड़-तोड़ की व्यवस्था नहीं, खुले आसमान के नीचे जिन्दा बीज बोने, उगाने का सिलसिला है। यहां न तयशुदा तरीके से तयशुदा उत्पादन है, न लाभ-हानि के सारे समीकरणों के साथ निर्धारित मूल्य किसान के हाथ में।’ खेती-किसानी पर कई आपदाएं गिरती हैं। कभी बाजार धोखा दे देता है। कभी फसल खेत में सड़ जाती है, कभी कीड़े नुकसान पहुंचाते हैं। कभी बाढ़, कभी सूखा रुलाता है। कहानीकार कहता है कि, ‘मौसम जब छल कर रहा हो किसानों से तो गांव के नये महाजन भी हो जाते हैं-बेईमान। सरकार का तो कहना क्या? वह ऋण देकर चमड़ी उधेड़ने का काम करती है। भारी वर्षा से फसल नष्ट और ऊपर से कर्ज की मार। कैसे मनाएं होली और कैसे भाये फागुन का राग।’

ऐसे प्रतिकूल मौसम में रामरतन सल्फास खा कर मर जाता है। रामरतन की मौत पर बखेड़ा न बने अतः कलैंक्टर साहब ने दस हजार का चेक तुरन्त भिजवा दिया है। किसानों की तेरहवीं के लिए भी सरकार योगदान दे रही है। जब किसानों की आत्महत्या का सिलसिला रुकता नहीं तो दूसरे उग सक्रिय हो जाते हैं। कहा जाता है कि ‘गांव से प्रेतछाया दूर करने के लिए सरपंच सात दिवसीय संगीतमय कथा का आयोजन करने का विचार करता है। अवैध खनन करने वाला ठेकेदार सातों दिन के सन्त भोजन का दायित्व निभाता है।’ महेश कटारे की कहानी, ‘फागुन की मौत: बतर्ज किस्सा’, एक साथ किसानों की तमाम समस्याओं से टकराती है।

‘मनरेगा’ और ‘मिड-डे-मील’ रोज चर्चा में रहते हैं। इन दोनों का बजट कई छोटे देशों के राष्ट्रीय बजट से भी ज्यादा है। पूरा ग्रामीण समाज फर्जी जॉब कार्ड से संतप्त है। जॉब कार्ड प्रधानों के लिए कामधेनु है। भले ही बैंक खाते में पैसा जाता हो, मगर प्रधान के गुर्गे मजदूरों को घेरे रहते हैं। वे उनके साथ बैंक तक जाते हैं। जैसे ही मजदूर, खाते से पैसा निकालता है, गुर्गे वहीं, प्रधान का आधा हिस्सा वसूल लेते हैं। गांव वाले प्रधानों से बैर मोल नहीं लेते क्योंकि उन्हें तमाम खैरात बांटू योजनाओं का लाभ प्रधान के माध्यम से ही लेना है। इन विडंबनाओं की अभिव्यक्ति मेरी कुछ कहानियों, यथा-‘रमा चंचल हो गई है’, ‘तिलेसरी’ या ‘नरेगा की नमकीन’ में मिलेगी, जिस पर यहां चर्चा नहीं करना चाहूंगा।

गांवों में खैरातबांटू योजनाओं की बाढ़ आई हुई है। किसानों से परंपरागत बीज छीन कर हाईब्रीड बीजों पर अनुदान दिया जा रहा है। खाद की किल्लत पैदा कर सहकारी समितियों के जरिये खाद देने का नाटक किया जा रहा है और एक बोरी यूरिया के लिए किसान दिनभर लाइन लगाये खड़े रहते हैं। कृषि केन्द्रों पर न मिट्टी की जांच की सुविधा है और न खेती-किसानी के बारे में नवीनतम जानकारी देने की कारगर व्यवस्था। ‘किसान मित्र’ का गठन भी एक बेहूदा और कुछ को उपकृत करने वाली योजना है। मजदूरों को गांव में काम देने और पलायन रोकने के लिए बुनियादी विकास अब भी दूर है। मगर कहानियों में यह यथार्थ दिखाई नहीं दे रहे।

‘मनरेगा’ या ‘मिड-डे-मील’ की पूरी कार्ययोजना पर कितनी कहानियां पढ़ने को मिली हैं, पाठक अच्छी तरह जानते हैं। मेरी जानकारी में मनरेगा पर केवल दो कहानी दिखाई दे रही हैं। वर्ष 2012 में सुमन कुमार सिंह की एक कहानी आई थी- ‘मन-रे-गा’। ‘मन-रे-गा’ कहानी की भाषा, बुनावट, शिल्प में गंवई प्राण है, गंध है या यों कहें कि पूरी गंवई टटका छल-कपट, लूट-झूठ का एक आड़ना मौजूद है। मुखिया को नरेगा में काम देकर अपना हिस्सा वसूलना है। उपकार के बदले बेगार भी कराना है। सामंतों द्वारा बेगारी कराना, हिन्दी पट्टी की पुरानी बीमारी रही है। दरवाजे पर एक दिन अचानक, सुबह-सुबह मुखिया का आना देख, सुनैना कहती है-‘मुखिया-सरपंच ठीक रहता तो इतने दिन से ब्लाक का चक्कर काटना पड़ता? अरे पड़सवा तो आता ही है, बाकिर इस सब से बचे तब न।’ इस कहानी में बिहार के मुखिया का सामंती वर्ग चरित्र का छल है, बल है, चन्दर का दरिदर (दरिद्रता) है। मनरेगा, गांवों के बजाय प्रधानों

का विकास कर रहा है, यह यथार्थ है। मुखिया समझाते हैं—‘देखो चन्दर! योजना तो सरकार की है लेकिन चलाना तो हमहीं को न है ..... जानते हो ! गांव में भी कम नेतागिरी नहीं है ? कोई कुछ कहता है, कोई कुछ । तुम उस पर ध्यान नहीं दोगे । तुमको काम मिल जायेगा । और जब पैसा मिलेगा तो बैंक से निकाल कर तुम, आधा पैसा छोटन के हाथ में दे दोगे ।’ नरेगा की यही असलियत है । ऐसे ही खर्च हो रहा है नरेगा का पैसा । गांव का आदमी सोचता है कि भागते भूत की लंगोटी भली ? काम तो कुछ खास करना नहीं ? केवल पैसे की बंदर बांट करनी है । तो कुछ हाकिम-हुक्काम और मुखिया खा रहे हैं, कुछ मजदूरों को मिल जा रहा है । मुखिया, नरेगा में काम देने का लालच देकर चन्दर जैसों से बेगार भी करा लेते हैं । हाजिरी गड़बड़ा कर भी कुछ धन ऐंट लेते हैं और इस प्रकार ‘मन-रे-गा’ कहानी, गांवों के टटका यथार्थ को सामने लाने वाली एक सफल कहानी है । कहानी का अंत थोड़ी यांत्रिकता लिए हुए है । क्योंकि मुखिया की पूरी कुटिलता से आसानी से बच निकलने वाला चन्दर और उसका बेटा, अंत में जिस तरह प्रसन्नता जुटा लेते हैं, वह उतना आसान नहीं है । इसी विषय पर दूसरी कहानी—‘नरेगा की नमकीन’ मेरी थी, जिसे पाठकों ने पढ़ा ही होगा । मनरेगा पर कोई तीसरी कहानी मुझे नहीं दिखाई देती । इतने बड़े हिन्दी समाज के बीच से, विभिन्न प्रांतों के भिन्न स्वरूप पर कहानियां आनी चाहिए ।

खेती-किसानी के वर्तमान और जमीनों पर कारपोरेट गिद्ध दृष्टि पर एकाध और कहानीकारों की नजर है । एकाध ही हैं जो देख रहे हैं कि गांव कितनी तेजी से बदल रहे हैं । नई पीढ़ी ने खेती से तौबा करना शुरू कर दिया तो खेत बेचने, खाने-पीने या जुआ खेलने की संस्कृति का विकास हुआ । पंजाब और हरियाणा इसके ज्वलंत उदाहरण हैं जहां हरित क्रांति का सबसे ज्यादा ढिंढोरा पीटा गया था । आज पंजाब में जमीन बेचकर जीविका चलाने का प्रचलन चालू है । मध्यप्रदेश में इन्दौर के आसपास जिस तरह किसानों की जमीन खरीद कर बंगले बनाने का कारोबार तेज हुआ है, उस पर कहानीकार सत्यनारायण पटेल की नजर है । ‘लाल छींट वाली लूगड़ी’ सत्यनारायण पटेल की एक महत्वपूर्ण कहानी है, जिसमें खेती-किसानी से युवाओं का पलायन और रीयल स्टेट कारोबारियों द्वारा खेती योग्य जमीनों को खरीदने के खेल की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है । ‘पढ़ी-लिखी पीढ़ी में कोई बिरला छोरा ही होता जो खेती-बाड़ी के काम में रुचि दिखाता,’ यह बात कहानीकार बताता है । इस

कहानी का एक पात्र है डूंगा । डूंगा एक मजबूत इरादों वाला किसान है । उसे भगवान पर कोई भरोसा नहीं फिर भी ढपली, करताल, खंजड़ी और झांझ बजाने मंदिर जाता है । वह धैर्यवान है । वह अपने भीतर पसीने की अनगिनत धाराओं को समा लेता है । खेतों को बेचने का दबाव बनाने वाले दलालों (टुल्लरों) से वह अनभिज्ञ नहीं है । उसे खेत बेच कर लाखों रुपये बनाने का लोभ नहीं । जबकि दलाल अनगिनत सपने दिखाते हैं । उसकी भी आंखों में सुनहरे तारे झिलमिलाते । वह भी सपने देखता । मगर उसे अपनी मेहनत से सपने पूरे करने हैं, न कि जमीन बेचकर । कहानीकार कहता है, ‘डूंगा की आंखों में झिलमिलाते तारे केवल आसमान के तारे नहीं थे, एक सपना था । सपना भी क्या ? एक लुगड़ी का सपना ! छींटदार । सितारे टंकी लुगड़ी का सपना ।’

कहानीकार कहता है कि—‘डूंगा ऐसे समय और महान देश के गांव का किसान था, जिसमें डूंगा तो क्या ? उसके जैसे गांव के किसी भी रामा बा या सामान्य किसान का पेट भरने के अलावा कोई सपना देखना और मेहनत की फसल बेचकर जीते-जी सपना पूरा करने का सोचना गुनाह से कम न था । ऐसा करने का मतलब सरकार और उसकी नीतियों की खुल्लम खुल्ला तौहीन करना था । हालांकि सरकार इतनी गेली नहीं थी, न उसकी नीतियां इतनी ढीली-ढाली थी कि डूंगा जैसे धोती छाप लोग अपने सपनों को पूरा कर लेते । सरकार ने बहुत ही विकसित और ताकतवर देशों की सरकारों की मंशानुसार जो नीतियां बनायी थीं, उन्हें समझना डूंगा जैसे धोती छाप गांवदियों के बस का तो था ही नहीं । लेकिन सरकार के भीतर-बाहर बुद्धि की खाने वालों का दावा करने वालों के लिए भी, बगैर चन्द्रयान के चांद पर जाने का सपना देखने जैसा था ।... ऐसी बखत में डूंगा का एक मनपसंद लुगड़ी का सपना । पारबती का बूढ़ी हड्डियों को आराम और जवान छोरी को परनाने का सपना । पवित्रा(बेटी) की आंखों में अच्छे घर और दूल्हे का सपना । सपना कोई बुरी बात नहीं । लेकिन जीते-जी पूरा करने की जिद । मेहनत की फसल से पूरा करने की अड़ । ये सरकार की नजर में क्या था नहीं पता, पर गांव के टुल्लर की नजर में यह एक गेलचौदापना था । उसके मगज में कोई उलझाव नहीं था । डंके की चोट पर कहता—‘वह चूतिया है ।’ दलालों की जमात किसानों से जमीन छीनने के लिए यही सब सिखा-बता रही है ।

दलाल बता चुका है कि दूसरे किसानों ने तीस लाख में खेत बेच दिये तो ‘डूंगा के दिमाग में वही सरबल रहा—

तीस लाख कितने होते होंगे ?..... अगर बैलगाड़ी में चारा, बगदा की तरह नोट भरूँ, तो गाड़ी कहां तक भरा जायेगी ? आधी-आधी मूँडियों तक तो भरा सकती है । और अगर तीस लाख की खन्डार बनाऊँ, तो कितनी लम्बी-चौड़ी और ऊँची बनेगी ? दो बीघा के चनों की खन्डार बराबर तो बनेगी ही । किशोर के दो बीघा के तीस लाख, तो मेरे दस बीघा के कितने होंगे !.....पूरी बैलगाड़ी भर जायेगी । लेकिन एक बैलगाड़ी भर नोट में कितनी बैलगाड़ी भर लुगड़ी आयेगी । फिर मैं, मेरी पड़ोसन सम्पत्त काकी को ही नहीं, परगांव की भी कई सम्पत्त काकियों, परबतियों और पवित्रियों को लुगड़ी दे सकूंगा । धरती मां की हरेक बेटी को लाल छींटदार लुगड़ी ओढ़ा दूंगा ।’ यह कहानीकार का भी सपना है । वह सिर्फ अपनों का तन ढंकने की सोच नहीं रखता, पूरे समाज के बारे में सोच रहा है । उसकी लुगड़ी का सपना गांव और परगांव, सबके लिए है । सत्यनारायण पटेल की इस कहानी का मुख्य पात्र अपने खेतों को पैसे के लिए नहीं बेचना चाहता । वह कहता है- ‘मां का सौदा करेगा ? धरती का बेटा, धरती को बेचे पैसों से रोटी खरीदकर खायेगा ?’

मगर डूंगा देखता है कि उसके चारों ओर का वातावरण भयावह है । बीवी, बेटी का दबाव तो है ही, वह देख रहा है कि आसपास के लोगों ने भी अपने खेत बेच कर ऐश करना शुरू कर दिया है । डूंगा देख रहा है कि ‘खेत साले के भी बिक गये थे । उसने सपनों में भी न सोचा था कभी, इतने रुपए मिलेंगे । पर जब मिल गये तो करे क्या इतने रुपयों का ? घर बना लिया । कार खरीद ली । थैला भरकर बैंक में रख दिया और क्या करता ? इससे ज्यादा उसे ही नहीं, कइयों को नहीं सूझा ।’

उसकी बीवी पारबती समझा रही है-‘और केइं पूरी उमर बीती गयी गारो खोदते-खोदते । ढंग की एक लुगड़ी भी ना लय पाया । बुढ़ापा में तो गार के सुधार लो ।’ दलालों का दबाव बढ़ा है । वे कहते हैं-‘बीस लाख बीघा तक दे सकते हैं । सोचो, दस बीघा का कितना रुपया होगा.....वारा न्यारा हुई जायेगा । चाहो तो लुगड़ी बनाने का कारखाना खोल लीजो । सौ-दौ सौ लुगड़ी रोज बांटोगा तो भी कम नी पड़ेगी ।’ सत्यनारायण पटेल की कहानी का नायक डूंगा का आत्मबल मजबूत है । घर-परिवार का दबाव, दलालों की धमकियाँ और भीतरघात सबसे वह बच निकलता है । वैश्वीकरण का वर्तमान आर्थिक बुलबुला अचानक फूट पड़ता है । शेयर मार्केट धराशायी हो जाता । उसकी जमीन खरीदने की योजना बनाने वाली मुम्बई की कम्पनी दिवालिया हो जाती है और

डूंगा की जमीन का सौदा नहीं हो पाता । सत्यनारायण पटेल ने समाज, परिवार और दलालों के दबाव को झेलते डूंगा के स्वामिभान की रक्षा, सर्वग्रासी आर्थिक तंत्र के खोखलेपन को प्रकट करते हुए की है, यह इस कहानी का सकारात्मक पक्ष है और हमें उम्मीद बंधाता है कि कथा साहित्य का जमीनी रिश्ता बचा ले जाने में ऐसे ही कहानीकार सफल होंगे ।

आरा के सुरेश कांटक लम्बे समय से गांव-गिरांव की कहानियाँ लिखते रहे हैं । वह खेती-किसानी के बहुचर्चित मुद्दों को जरूर उठाते हैं । वह प्रतिरोध को भी अपनी रचनाओं का हिस्सा बनाते हैं । यद्यपि कि कभी-कभी प्रस्तुतिकरण के सपाट रह जाने के कारण उनकी कहानी की प्रभावात्मकता प्रभावित होती है ।

किसान की पैदावार का एक समर्थनमूल्य घोषित करती है सरकार और भारतीय खाद्य निगम जैसे संस्थान किसानों का अनाज खरीदने का दायित्व निभाते हैं । समर्थन मूल्य का लाभ गरीब या छोटे किसान नहीं उठा पाते क्योंकि दबंग किसान, गरीबों का अनाज सस्ते में खरीदकर, क्रय केन्द्रों पर अपने प्रभाव और लेन-देन का इस्तेमाल कर महंगे दाम पर बेच देते हैं । इस प्रकार वे बैठे-बैठे लाभ कमा लेते हैं जबकि असल काश्तकार का अनाज खरीदा ही नहीं जाता । सुरेश कांटक ने इस समस्या को अपनी कहानी ‘किसान क्या करे ?’ में उठाया है । कहानी का नायक कहता है-‘मेरा नाम मुरारी है । मैं थोड़ा पढ़ा-लिखा, मगर गरीब किसान हूँ । ...सरकार ने धान खरीद केन्द्र खोला है । वहां का मैंनेजर बहुत बदमाश है । एक नम्बर का घूसखोर है । मुझे तीन हफ्ते से दौड़ा रहा है । .....जिससे पैसा मिल जाता है, उसी का धान तौलवाता है ।’ कहानीकार बताता है कि काश्तकार का काम दो ही तरीके से हो सकता है । ऊपर के अधिकारियों से शिकायत करने से भी कोई लाभ नहीं । या तो घूस दो या हथियार उठा लो ।

कृष्णकांत की कहानी ‘मुआवजा’ जो, जनवरी-फरवरी 2013 के परिकथा अंक में आई थी, का जिक्र ऊपर किया जा चुका है । यह कहानी पुलिस और प्रशासन के सहयोग से पूंजीपतियों को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से बनाये जा रहे ‘सेज’ के खेल को सामने रखती है । सरकार के पास मुआवजे का फांस ही सबसे आसान तरीका है, किसानों को फांसने के लिए । विकास का वर्तमान किसानों के पीठ से गुजरता है और उससे दब कर किसान का पेट जमीन में चिपक जाता है । कुछ दम तोड़ देते हैं मगर विकास का खेल

जारी रहता है। भाषा और शिल्प में बहुत कुछ आरोपित होते हुए भी किसान आन्दोलनों और उनके प्रति पूरे शासन तंत्र की अमानवीयता का एक खाका इस छोटी सी कहानी में मिलता है। आज किसान विस्थापन के जो नये-नये बहाने ढूँढ लिए गये हैं, उनकी एक पड़ताल इस कहानी में की गई है। जमीन लेकर दिए जाने वाले मुआवजे पर कहानीकार सवाल उठाता है-‘पर कितने दिन चलेगा यह मुआवजा? छह महीने.....साल भर.....दो साल.. पर उसके बाद? खेत तो हमारे पुरखों के हैं। उन्होंने भी इसी जमीन में रोटियां उगाईं। हम भी उगा रहे। ये बची रहेंगी तो हमारे बच्चे भी अपना पेट भर सकेंगे। यह हमारे बच्चों को अनाथ करने की साजिश है.. हमारी ही जमीन हमसे छीनकर अनाज उगाएंगे और कल को हमी सोने के भाव गेहूँ के दाने खरीदेंगे। यह किससे पूछकर हो रहा है? क्यों हो रहा है? कैसा विकास होगा? बिना हमारी राय लिए, बिना हमारी मरजी के यह कैसा विकास होगा? किसके लिए होगा?’

जैसा कि मैंने शुरू में कहा है कि खेती-किसानी का प्रश्न कारपोरेट हितैषी बन चुका है। कारपोरेट खेती इसका अगला पड़ाव है। ‘मुआवजा’ कहानी में कहानीकार स्पष्ट करता है कि ‘सरकार ने फैसला किया है कि इस इलाके से कुछ जमीन लेकर एक ऐसा क्षेत्र विकसित किया जायेगा जहाँ पर वैज्ञानिक ढंग से खेती होगी। यह काम उद्योगपतियों को सौंपा जायेगा।’ कहानी की यह उक्ति वर्तमान सरकार की किसान नीतियों का मुख्य बिन्दु कहा जा सकता है, जहाँ विकास की मार, किसानों के खेतों और अंततः उनके पेटों पर पड़ रही है, पड़नी है। कहानी के शब्दों में-‘आदमी से उसकी रोटी छीन ली जाती है और उसकी मौत की वजह टी.बी., कैंसर या प्राकृतिक आपदा बताई जाती है।’ यह वर्तमान किसान आत्महत्याओं का यथार्थ है। ‘कथा लंबी है शब्द बहुत कम हैं और पात्र असंख्य। कुछ भूखे मर गए, कुछ के घर छिन गए, कुछ ने रसायन पी लिया, कुछ ने फांसी लगा ली।’ किसान संघर्ष को कहानीकार ने उभारा तो है लेकिन किसानों के माध्यम से प्रतिकार का अंत करने के बजाय, करिश्माई कथ्य रचना की ओर बढ़ गया है। कहानीकार ने कहानी का अंत, अनुज के विद्रोह से किया जो अंततः मुख्यमंत्री पर चाकू से वार कर देता है और स्वयं सुरक्षाकर्मियों द्वारा मारा जाता है। यह एक प्रकार से मुम्बईया फिल्मों सदृश्य जान पड़ता है।

जमीनों पर लगी कारपोरेट गिद्ध दृष्टि के अलावा भी भारतीय सामंती समाज में विस्थापन के दूसरे घिनौने तरीके

गांव-देहातों में अपनाये जाते रहे हैं। गरीबों और मुख्यतः निम्नजातियों का शोषण और आखेट करना, उनकी थोड़ी बहुत जमीनों को हड़प लेना या अपने हितों के लिए दाना डालने जैसा खेल, चलता रहा है। कहानीकार चरण सिंह पथिक इस खेल पर से पर्दा उठाते, अपनी कहानी, ‘बांध टूट गया’ में कहते हैं-‘बड़े जोता जाल बिछाते, चुगगा डालते और अपना शिकार फंसाकर मूँछों पर ताव देते।’ ‘बांध टूट गया’, कहानी ने मिट्टी के बांध और सब्र के बांध को तोड़ते हुए हिन्दी कहानी के सामंती उत्पीड़न को बेपर्दा करने का प्रयास किया है। बांध बांधा गया है कि पानी जमा कर, उसमें से छोटी-छोटी नहरें निकाली जाएं, जिससे किसानों के खेतों को पानी मिल सके। सिंचाई हो तो खेती लहलहाये। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी। विकास के नाम पर बने बांधों से सिंचाई होते ही अन्न उपजा। अन्न उपजने लगा तो खेतों के दाम बढ़े। जमीनों के दाम बढ़ते ही सामंती शार्क मछलियों ने छोटी मछलियों को भूमिहीन करना शुरू किया। यह काम पैसे से, धमका कर और खेतों की घेराबंदी कर किया गया। एकाध ने प्रतिरोध किया। कहानी के नायक भरोसी ने बोलने का साहस किया कि-‘पटेल, जमीन चाहे बंजर रह जाए, मगर बेंचूंगा नहीं। जमीन तो मां है। मां को कौन पाजी बेचेगा?’ गाँव का सामंत धनजी पटेल चारा फेंकता है-‘तो जमीन के बदले जमीन लेले।’ भरोसी, पटेल की चाल को समझता है। वह जानता है कि गांव के गोपाल डोम की जमीन को किस तरह से धनजी पटेल ने हड़प लिया था और गोपाल की बीवी को धनजी के नसेड़ी भाई ने रखैल बना कर रखा था। हालात यहाँ तक जा पहुँचे कि गोपाल डोम को गांव छोड़ देना पड़ा था।

चरण सिंह पथिक की यह कहानी इस व्यथा को सामने लाती है कि बांध का पानी ज्यादातर ऊंची जातियों के खेतों में जाता है। निम्नजातियों के खेतों को पानी नहीं मिलता। जाहिर है जो पानी हड़पेगा, खेती उसी की होगी। जिसके खेतों को पानी मयस्सर नहीं, वह अपनी जमीन रख कर ही क्या करेगा। तभी तो इस कूटनीति का प्रयोग गरीबों और दलितों की जमीनों को औने-पौने दामों में खरीदने के लिए किया जाता है। कहानीकार ने अपनी कहानी में बड़े जोतदारों द्वारा छोटे जोतदारों की जमीनों को खरीदने के इसी कुचक्र का जिक्र किया है।

गांव से विस्थापन का नया दौर सीमान्त किसानों के उजड़ने के कारण तेज हुआ है। जयनंदन की एक कहानी है- ‘छोटा किसान’। दादू महतो के बेटे भी उन पर दबाव

बनाते हैं कि जमीन बेच कर शहर चलिए। वहीं कर लेंगे छोटा-मोटा काम। गांव से बेहतर गुजारा हो जायेगा। ‘अब खेती-बाड़ी में हम छोटे किसानों के लिए कुछ नहीं रखा है बाऊ..... घर-खेत बेचकर हमें शहर जाना ही होगा। सोचने-विचारने में हमने बहुत टैम बर्बाद कर दिया।’ बेटों के पास दादू को समझाने के लिए तर्क है। कहते हैं- ‘जो बड़े जोतदार हैं, उनके पास पूंजी है, उनके पास ट्यूबवेल है, खाद-मसाला देने की कूबत है। बिना खाद-दवाई के तो फसल अच्छी उपजती ही नहीं एकदम। पहले ऐसा नहीं था। माल-मवेशियों के गोबर और घर का कूड़ा-कर्कट ही काफी होता था। किसी छिड़काव की भी जरूरत नहीं होती थी। मानसून ठीक समय पर आ जाता था। इधर कई वर्षों से तो समय पर भरपूर वर्षा होती ही नहीं है, होती है तो असमय हो जाती है और खूब हो जाती है, जिससे फायदे की जगह नुकसान ही नुकसान हो उठता है।’ और एक दिन ऐसा आता है जब गांव की हालात से तंग आ, दादू महतो गांव छोड़ने को विवश होते हैं। हम देख रहे हैं हर विस्थापन में गांव टूट रहा है और शहर बसता जा रहा है।

बदलते गांवों से बैलों और हलों का विस्थापन होने लगा है। पहाड़ के गांवों और खेतों की प्रकृति के कारण ट्रैक्टरों या कृषि यंत्रों का पहुंचना अभी भी दुष्कर बना हुआ है। गढ़वाल के कहानीकार राणी राम गढ़वाली की कहानियों में पहाड़ी किसानों के दुख दर्दों का वर्णन उनकी ज्यादातर कहानियों में मिलता है। कथ्य और शिल्प के आधार पर भले ही ज्यादातर कहानियां उथली और सपाट हैं तब भी पहाड़ी गांवों को समझने में हमारी मदद करती हैं। उनकी कहानियों में बैलों के तमाम देहाती नाम बड़ी सजीवता से सामने आते हैं। इनकी कहानियों में किसान अपने जानवरों से स्वाभाविक बातचीत करते हैं। ‘सुखू माम’ कहानी में हल चलाता किसान अपने बैलों को साधते हुए कहता है- ‘चल खैरा चल। देख भूरा देख। रा....रा...भूरा...रा। ढिस्वाल देख, तिरवाल देख (ऊपर देख, नीचे देख)’ उनकी कहानियों में पहाड़ के पेड़-पौधे और प्रकृति भी प्रमुखता से स्थान पाते हैं।

सरकार ने किसानों की सभी समस्याओं के हल के लिए- ‘किसान चैनल’ की शुरुआत की है। किसान चैनल पर सब कुछ अच्छा-अच्छा है मगर सीमांत किसानों की दुर्दशा, खाद, पानी, उत्तम बीज, कीटनाशकों आदि की समस्याओं और कृषि उत्पाद का उचित मूल्य जैसे मुद्दे गायब हैं। यहां कारपोरेट नजरिये से खेती-किसानी को प्रस्तुत कर किसानों को गुमराह किया जा रहा है। सरकार के इस नजरिये पर भी कहानीकारों का ध्यान जाना चाहिए। पिछले बीस वर्षों में निश्चय ही हिन्दी कहानी में विषयों का विस्फोट हुआ है मगर किसानों के प्रति संवेदना का विस्फोट होना अभी बाकी है। खेती-किसानी की बदलती संस्कृति, उसमें आती विकृति और सरकारी नीति पर साहित्यकारों की निगाह होनी चाहिए। जिन कहानीकारों का मैंने जिक्र किया है उनसे उम्मीद तो जगती है मगर वे संख्या में बहुत कम हैं। वे वही कहानीकार हैं जो मूलतः गांव और गरीबी से वास्ता रखते हैं या जो गांव में लम्बे समय तक जीने के बाद, रोजगार की तलाश में शहरों की ओर आये हैं। इनमें आदिवासी और दलित वर्ग के कहानीकार भी शामिल हैं। उनके सामने रोजी-रोटी की परेशानी है। केवल साहित्य से रोटी तो चलती नहीं, इसलिए लेखन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत से जेनुइन कहानीकार, कम समय निकाल पाते हैं। छोटे-छोटे शहरों से निकलने वाली लघु पत्रिकाएं सभी के सामने नहीं आ पातीं। इस कारण भी वहां छपने वाले कहानीकार ओझल रहते हैं। अकादमियों में बैठे उच्च जाति के साहित्यकार निश्चय ही ईमानदार नहीं हैं और वे अपनी और गैर की मानसिकता में जीते हैं। इसलिए हाशिये के समाज के कई जरूरी रचनाकारों को किनारे लगाने का खेल भी चलता रहता है। लेखक संगठनों को चाहिए कि वे इस कुचक्र को तोड़ें और जेनुइन ओझल कहानीकारों को सामने लाएं।

सृजन बी 4/140 विशालखंड,  
गोमतीनगर, लखनऊ 226010

## समकालीन दलित कहानी : कुछ वैचारिक बिन्दु

वैसे तो सम्पूर्ण दलित साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है, लेकिन कहानी विधा में विरोध प्रतिरोध का तेवर अपेक्षाकृत ज्यादा मुखर और धारदार होता है। इसका कारण यह है कि आत्मकथा जो कि दलित साहित्य की प्रतिनिधि विधा है, व्यक्ति विशेष की संघर्ष गाथा बन जाती है, कविता कवि का आक्रोश, नाटक स्थितियों का बयान। परन्तु कहानी लेखक, पात्रों, घटनाओं, परिवेश आदि का ऐसा समग्र बिम्ब प्रस्तुत कर देती है कि पाठक के चेतन अवचेतन का हिस्सा बन जाती है। पाठक के रूप में कहानी एक मुहिम और उसका एक पैरोकार तैयार करती है।

इस अर्थ में समकालीन दलित कहानी एक उम्मीद जगाती है, एक भाव-संवेदन का वितान रचती है।

दलित कहानी के विकास पर गौर करते हैं तो एक भरी पूरी पीढ़ी दिखाई पड़ती है। पिछली पीढ़ी में ओमप्रकाश वाल्मीकि से शुरू करें तो जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, अनीता भारती, रजनी सिसोदिया, कैलाश वानखेड़े और संदीप मील जैसे कथाकार विरोध-प्रतिरोध का एक विमर्श रचते दिखाई देते हैं। ये कहानियाँ एकरेखीय न होकर बहुअर्थी संवेदना के सूत्र हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इस लेख का उद्देश्य उन्हीं सूत्रों को पकड़ना है। जहाँ कहानी प्रचलित और प्रसिद्ध पाठ के बाहर कुछ अन्य अर्थों को पकड़ सके। और कहीं-कहीं कहानी बहुत चर्चित न पर जरूरी लगे, पुष्पा भारती की 'जूता' ऐसी ही कहानी हैं राजेन्द्र बड़गुजर की 'इनाम' हरियाणवी समाज में जाटों की अवसरवादिता और दलितों के प्रति उनके 'यूज एण्ड थ्रो' वाले दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। समकालीन दलित कहानी में एक नहीं अनेक स्वर हैं। आज की दलित कहानी में चेतना के धरातल इकट्ठे नहीं हैं। दलित कहानी जाति के अलावा, सामाजिक न्याय, साम्प्रदायिक विसंगतियों,

प्रशासनिक घालमेल और शोषण के बारीक तंतुओं को भी पकड़ती है। मायने कि दलित कहानी की कथ्य भूमि पहले से ज्यादा विस्तृत और आन्दोलनधर्मी हुई है।

सत्यापन में बताया गया है कि सरकारी दफ्तरों में जो लोग फोटो व प्रपत्र सत्यापन करवाने जाते हैं, उनकी जाति का पता लगते ही एक तयशुदा सा सत्यापन उनकी अस्मिता के साथ चस्पा कर दिया जाता है। फिर उनके प्रति सरकारी तंत्र का नज़रिया ही बदल जाता है।

'सत्यापन' अपने मूल रूप में प्रशासनिक व्यवस्था पर व्यंग्य है। यह व्यंग्य और ज्यादा मारक इस अर्थ में है कि इसमें अनुभव दग्ध प्रामाणिकता है। इस कहानी को मानक आधार पर भी देखा जाना चाहिये। छोटे-छोटे से वाक्य वातावरण के प्रभाव और व्यवस्था के चरित्र को बखूबी पेश करते हैं, जैसे 'बेफ़िक्र आदमी अच्छा नहीं लगता, परेशान दिखने वाले को ज्यादा परेशान किया जाता है, दूसरों का हँसता चेहरा खुशी नहीं देता, हर बार यातना के दर्दनाक अनुभव से गुजरता हूँ दफ्तरों में, जो हमें नहीं जानता, नहीं पहचानता, वही हमें सत्यापित करता है, अब टेम हमारे पास भी नहीं है।' ये वाक्य स्वाभाविक रूप से व्यवस्था के रूप और चरित्र को पाठकों के समक्ष ला पाते हैं। सत्यापन के अलावा कैलाश वानखेड़े की अन्य कहानियाँ 'स्कॉलरशिप' तथा 'कितने बुश कितने मनु' को भी इन्हीं सन्दर्भों में पढ़ा जाना चाहिये। समकालीन कहानी में कैलाश वानखेड़े की कहानियाँ इसीलिये विशिष्ट मानी जा सकती हैं कि वे एक ऐसे क्षेत्र को कहानी का विषय बनाते हैं जहाँ अन्य कथाकार नहीं जा पाते- दफ्तरी व प्रशासनिक कार्यशैली के क्षेत्र।

वरिष्ठ लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' जाति व्यवस्था के कुछ अलग स्तरों को दिखाती है। यहाँ परम्परागत जाति विरोध न होकर एक विखंडित अर्थ

मिलता है। कमल उपाध्याय अपने परममित्र हरीश की बारात में जाता है। हरीश दलित है, उसकी उपजाति वाल्मीकि है। कमल गाँव की एक दुकान पर चाय पीने जाता है। वहाँ उसे बारात में आया दलित जानकर गाँव वाले उसका घोर अपमान करते हैं। दूधर उसका मित्र और दूल्हा हरीश सवर्णों के दरवाजे पर 'सलाम' के लिये जाने से इन्कार कर देता है। दूसरी तरफ एक दलित किशोर रोटी खाने से इसलिए इन्कार कर देता है कि वह रोटी (नान) एक मुसलमान कारीगर ने बनाई है।

'सलाम' एक साथ जाति-व्यवस्था के कई स्तरों को छूती है। कमल उपाध्याय जातिगत उत्पीड़न को झेलता है। एक झटके में ही वह दलित समाज की पीड़ा और दमन का भोक्ता बन जाता है। हरीश पढ़ा लिखा होने के कारण 'सलाम' का विरोध करता है। मात्र दलित ही जाति की पीड़ा को समझ सकता है, सवर्ण नहीं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम' के माध्यम से इस मान्यता को बदलते हैं। कमल उपाध्याय की स्थिति को वाल्मीकि जी की एक कविता के द्वारा भी समझा जा सकता है, जहाँ वे सवर्ण को आह्वान करते हैं कि—“तू भी दलित बन के देख/अपने सिर पर/मैले का टोकरा उठा के देख!” इस कहानी में कमल उपाध्याय ऐसी ही अनुभूति से गुजरता है। तथाकथित सवर्णों को भी यह अनुभव करना चाहिये कि हजारों वर्षों से एक बड़ा मानव समूह इस शोषण और प्रताड़ना से किस तरह गुजरता रहा है। दूसरी तरफ आचार्य हज़ारी प्रासाद द्विवेदी का कथन कि 'हिन्दू धर्म में नीची से नीची समझी जाने वाली जाति भी अपने से नीचे दो-चार जातियाँ ढूँढ़ लेती हैं।' यहाँ सच होता जान पड़ता है जहाँ एक दलित किशोर रोटी इसलिये नहीं खाना चाहता कि उसे गाड़ा (मुसलमान) बना रहा है। यहाँ जाति से सवर्णों के साथ-साथ दलितों की मुक्ति ज़रूरी मानी गई है। आज दलित समाज ही नहीं साहित्यकारों तक में भी जाति, उपजाति के आधार पर खेमेबाजी हो रही है। इसीलिये दलित साहित्य कम रचा जा रहा है, विमर्श ज्यादा हो रहा है, चिंतन ज्यादा है, चेतना मंद पड़ती जा रही है, कमल उपाध्याय और हरीश की संगत एक उम्मीद जगाती है और 'सलाम' की प्रथा को टाटा-बॉय-बॉय (जोर का धक्का मारने) करने का साहस पैदा करती है।

जयप्रकाश कर्दम के नाम हिन्दी दलित साहित्य का प्रारंभिक उपन्यास 'छप्पर' है। यह उपन्यास काफी चर्चित भी

रहा है। इनकी कहानियाँ भी खासी चर्चित व सार्थक रही हैं। 'नो बार' एक ऐसी ही कहानी है। एक पढ़ा-लिखा, नौकरी-पेशा दलित युवक अखबार में वैवाहिक विज्ञापन देखता है। शादी के लिये उसे एक ही विज्ञापन में दिया गया रिश्ता पसन्द आ जाता है। विज्ञापन के इस रिश्ते की खासियत यह थी कि 'हाईली एज्यूकेटेड फेमिली, नो बार।' अर्थात् जाति का कोई बंधन नहीं व राजेश पत्र लिख देता है। बुलावा आता है। उस परिवार तथा लड़की अनिता से मेल मिलाप और बात शादी तक पहुँच जाती है, सब घुल-मिल जाते हैं। बातचीत से लड़की के पिता को शक होता है। पर्दे के पीछे जाकर पिता बेटी से राजेश की जाति के विषय में पूछता है। लड़की अनभिज्ञ है। वह अपनी बेटी को समझाता है। बेटी प्रतिवाद करती है 'पर क्यों पापा, जब हम जाति-पांति को मानते ही नहीं तो...' पिता का जवाब 'नो बार' का यह मतलब तो नहीं कि किसी चमार-चूहड़े के साथ...'।

कहानी यहाँ समाप्त होती है और शुरू होती है भारतीय हिन्दू समाज की महागाथा। तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद यह समाज जाति को नहीं छोड़ना चाहता। यदि वह 'इंटरकास्ट मैरिज' की बात करता है तो अपने समान तथाकथित उच्च जाति में ही। 'नो बार' में दलित या अछूत जातियाँ नहीं आती। उनके लिये तो आज भी बार ही बार (बाधा ही बाधा) हैं। यह कहानी सवर्णों की छद्म प्रगतिशीलता और बनावटी व नकली आधुनिकता पर तीखा व्यंग्य करती है। इस कहानी को पढ़कर लगता है कि तथाकथित सवर्ण और प्रगतिशील तबका मानसिक रोगी है। क्योंकि जब तक राजेश की जाति नहीं पता थी सब उस पर प्यार लुटा रहे थे लेकिन जाति का पता (सन्देह) होते ही लड़की के पिता का दिमाग फिर गया। ध्यान देने की बात यह है कि—'अनिता वहीं खड़ी रह गई थी।' क्योंकि बाप (परिवार व समाज) द्वारा लगाई गई जाति की बार (बाधा) को वह भी पार नहीं कर सकती। या संभवतः पार करना नहीं चाहती। इतने दिनों की मुलाकातों में अनिता की राजेश से प्यार जैसा कुछ ही चला था। कहते हैं कि प्यार अंधा होता है, पर लगता है कि तमाम अंधेपन के बावजूद प्यार जाति तो देख ही लेता होगा। यह इस कहानी से प्रमाणित होता है। एक पाठ और है जो इस कहानी की समाप्ति के बाद पढ़ा-समझा जा पाया होगा? क्या उसका हाल वाल्मीकि जी की कहानी 'सलाम' के कमल उपाध्याय जैसा नहीं हुआ होगा? क्या एक ऐसा समाज बन पायेगा जहाँ वाकई 'नो



बार' हो? क्या प्रगतिशीलता या आधुनिकता मात्र कपड़ों की तरह बदली, पहनी व फेंकी जा सकने वाली अवधारणाएँ हैं?

यह कहानी ऐसे अनेक सवाल उठाती है और बनाती है कि तमाम भौतिक तरक्की के बावजूद हम आज भी पिछड़े, दकियानूस और पोंगा-पंथी ही हैं। 'जाति क्यों नहीं जाती?' में एक पद और जोड़ लिया जाए 'जाति क्यों नहीं जाती सवर्णों के दिमाग से?'

समकालीन कहानीकारों में कैलाश वानखेड़े का नाम महत्वपूर्ण है। कैलाश वानखेड़े चूँकि प्रशासनिक सेवा से जुड़े हैं अतः शासन-प्रशासन में व्याप्त जातिगत भेदभाव को वो बेहतर ढंग से चित्रित करते हैं। 'सत्यापन' उनकी प्रतिनिधि कहानी है। इसी शीर्षक से उनका कहानी संग्रह है। 'सत्यापन' करने वाली कहानी है। एक दलित युवक किसी सरकारी दफ्तर में अपना फोटो 'सत्यापन' (अटेस्टेड) करवाने जाता है। यहाँ उसकी कालोनी का नाम सुनकर ही क्लर्क उसे रोक देता है, घंटों खड़ा रखता है। इसी उपक्रम में वह 'भाऊ साहेब इंगले' से मिलता है। उसकी भी शिकायत है। अस्पताल में पत्नी की डिलीवरी करवाने के दौरान वह तमाम उत्पीड़न झेल गया लेकिन उसकी शिकायत है कि अस्पताल के कागजों में पते के तौर पर वह 'बौद्धवाड़ा' लिखवाना चाहता है लेकिन नर्स 'महारवाड़ा' ही क्यों लिखती है। और फिर दोनों मिलकर सरकारी दफ्तर की बाबूशाही को चुनौती दे देते हैं।

अनीता भारती एक सक्रिय कार्यकर्ता और चर्चित लेखिका हैं। 'एक भी कोटे-वाली' उनका कहानी संग्रह है। यों उनके कविता संग्रह तथा संपादित पुस्तकों की संख्या भी अच्छी खासी है। 'एक थी कोटेवाली' उनकी चर्चित, संक्षिप्त और असरदार कहानी है। दलित शिक्षिका गीता का चयन एक विद्यालय में होता है। यहाँ शिक्षिकाओं का पूरा स्टॉफ 'कोटेवालियों' और 'गैर कोटेवालियों' में बंटा रहता है। गीता सुबह पहले पीरियड से ज्वाइन करती है और हर पीरियड की घंटी के साथ इन दोनों समूहों में उसकी जाति को लेकर कयास, पूर्वाग्रह और तनाव बढ़ता चला जाता है। गीता की मैरिट और आकर्षक व्यक्तित्व भी कोई धारणा कायम करने में बाधा बनते हैं। कहानी और उसका तनाव आठवें तथा अंतिम पीरियड तक चरम पर पहुँच जाते हैं। गीता अम्बेडकरवादी है, यह जानते ही सवर्ण शिक्षिकाओं का पारा चढ़ जाता है। गीता का साथ पाकर 'कोटेवाली शिक्षिका'

उनका कड़ा और तार्किक जवाब देती हैं। और सबकी जाति बताती हैं। यह कहानी दर्शाती है कि कार्यस्थल पर यौन-उत्पीड़न रोकने वाले नियम व समितियाँ तो बनी हैं किन्तु जातिगत भेदभाव को रोका जा सके ऐसा कोई मैकेनिज्म भी तो होना चाहिये। सवर्ण समाज किसी व्यक्ति की जाति जानते ही निर्मम और पक्षपाती हो जाता है। सवर्ण वर्ग, शहरी परिवेश में उत्पीड़न की गंवई हरकत तो नहीं करता किन्तु संकेतों, कटाक्षों, शब्दों और शारीरिक भाषा के द्वारा वह ऐसा माहौल बना देता है कि बर्दाश्त नहीं होता। तब जाति व्यवस्था और इसके पैरोकारों के प्रति आक्रोश पनपना स्वाभाविक ही है। अनीता और श्रीमती सागर का गुस्सा जायज ही लगता है।

अनीता भारती दलित स्त्रीवाद की मुहिम चलाए हुए हैं। वे दलित स्त्री के प्रश्न को अपने ढंग से उठाती हैं। प्रस्तुत कहानी दलित स्त्री के कार्यस्थल यानी स्कूल में व्याप्त जातिगत विसंगतियों को बेनकाब करती है। दलित पुरुष चूँकि इस जगह नहीं पहुँच सकता अतः दलित स्त्री को यह भूमिका निभानी पड़ी। इसी अर्थ में दलित स्त्रीवाद उभरकर आता है, क्योंकि दलित साहित्य का पुरुष साहित्यकार यहाँ तक पैठ नहीं बना सका है।

रजनी सिसोदिया ने कम परन्तु सार्थक कहानियाँ लिखी हैं। उनके 'चारपाई' कहानी-संग्रह में से 'ताड़का वध' कहानी पर बात करना चाहूंगा। कथावाचक कॉलेज शिक्षक है। उसके घर (फ्लैट) के सामने सौमित्र रहता है जो सेना में अधिकारी है। उसके पिता की मौत नक्सलवादियों के द्वारा किये गये बारूदी सुरंग विस्फोट में हुई थी। अब सौमित्र की पोस्टिंग भी नक्सल प्रभावित क्षेत्र में हो जाती है। कथावाचक तथा सौमित्र के परिवार में तनाव का वातावरण है। हर फोन, हर आवाज़ पर कुछ अनिष्ट की आशंका होती है। जल-जंगल-जमीन का विमर्श भी चलता रहता है। पक्ष-विपक्ष के विचार भी कौंधते हैं। कथावाचक की कालोनी में चल रही रामलीला में 'ताड़का वध' के संवाद सुनाई पड़ते हैं। आदिवासी, नक्सल, पुलिस, राजनीति, मुख्यधारा और हाशिये का ऐसा कोलाज बनता है कि 'ताड़का वध' तो हो जाता है लेकिन सवाल खड़ा रह जाता है-'हाय चाची ताड़का रोटी कौन पकाएगा? हाय चाची ताड़का रोटी कौन खिलाएगा? मुख्य-धारा के लिये कानूनी, न्यायिक और नैतिक जीत 'ताड़का वध' की तरह है लेकिन आदिवासियों के लिये

अस्तित्व और अस्मिता का प्रश्न, रोटी का सवाल है।

मैं कहना चाहता हूँ कि दलित कहानी मात्र व्यक्तिगत या जातिगत दुख दर्द को ही बयान नहीं करती। वहाँ कुछ वृहद सरोकारों, समान संघर्ष और अस्मिता के विस्तार की भरपूर संभावनाएँ नज़र आती हैं। दलित कहानी मात्र शहरी-ग्रामीण परिवेश में जातिगत उत्पीड़न तक सीमित न रहकर आदिवासियों, मानवतावादियों के संघर्ष में सहभागी होकर उसे मज़बूती और विस्तार देती है। मिथकों का रचनात्मक उपयोग यहाँ दिखाई देता है। ध्यान देने की बात यह है कि दलित कहानीकार मिथकों का उपयोग अपने ढंग से कर रहे हैं। मिथक मूल निवासियों की संवेदना से जुड़े हैं। इसके कारण प्राचीन देव-न्याय आज अन्याय की श्रेणी में आ गया है। यह एक प्रकार से ब्राह्मणवादी वैचारिकी को पलट देने का उपक्रम है।

स्वराज प्रकाश से 'समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन' 2011, खंड एक में पुष्पा भारती की कहानी 'जूता' छपी है। छोटी सी किन्तु सारगर्भित इस कहानी में मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद का रचनात्मक तालमेल दिखाई पड़ता है। मोची रामखिलावन जूते-चप्पल गाँठकर इतने पैसे कमाना चाहता है कि अपने भाई की शादी में जाने के लिए अच्छे कपड़े और जूते खरीद सके। वह बाज़ार से जूते खरीद सके इतना तो नहीं कमा पाता लेकिन जो कमाता है उससे चमड़ा, रंग और जूता बनाने का सामान ले आता है, और रातभर खटकर उसने बहुत अच्छा जोड़ा जूता तैयार किया। जूता इतना शानदार था कि एक ग्राहक ने मिनतें कर बारह सौ रुपये में खरीद लिया। बारह सौ में घर भर की ज़रूरतें पूरी हो जायेंगी, यह सोचकर उसने जूता बेचा था। अगले दिन जब किसी सस्ते जूते की तलाश में वह कनाँट प्लेस गया तो एक बड़े शोरूम के शोकेस में अपने जूते को दुगुने रेट की चेपी लगे देख हैरान रह गया। यह कहानी एक दलित स्त्री द्वारा, दलित पुरुष श्रमिक के श्रम और बेशी मूल्य को हड़प लेने की साजिश का पर्दाफाश करती है। मुझे नहीं लगता कि ऐसा विलक्षण कथा-प्रयोग मुख्यधारा में भी मिल पायेगा कि नहीं।

यह दुखद है कि श्रम सौन्दर्य और श्रम के शोषण की इतनी अच्छी कहानी की लेखिका अब हमारे बीच नहीं है, नहीं तो अम्बेडकरवादी समाज को मार्क्सवादी दृष्टिकोण

से जानने समझने के कुछ और कथा प्रयोग मिलते। यह कहानी संकेत करती है कि हाशिये पर के समाज, उसकी कला-संस्कृति और धरोहर को किस प्रकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कॉरपोरेट घराने लूट रहे हैं। दिल्ली और अन्य महानगरों में लगने वाले 'हाट और हस्तशिल्प मेले' लोक कलाकारों, श्रमिकों और कारीगरों को कितना मेहनताना और श्रम का लाभ दे पाते होंगे? यह एक बड़ा विचारणीय प्रश्न है। पुष्पा भारती इस संक्षिप्त सी कहानी में श्रम के शोषण का बड़ा प्रश्न उठाती हैं। इस परिवेश की आलोचनात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण में तेज सिंह की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। तेज सिंह मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के संयोजन पर लगातार जोर देते रहे थे।

संदीप मील उस तरह से दलित रचनाकार नहीं हैं लेकिन जाति का सवाल जिस तरह से उन्होंने उड़ाया है उसका सरोकार दलित कहानी से जुड़ा है। राजस्थान की पृष्ठभूमि के संदीप मील का हिन्दी में एक कहानी संग्रह आया है 'दूजी मीरा'। इस संग्रह की एक खास कहानी पर बात करना चाहूँगा, जो फॉरवर्ड प्रेंस पत्रिका में छपी थी, 'एक प्रजाति हुआ करती थी-जाट'। यह कहानी जाति व्यवस्था की पोषक खाप-पंचायतों और उनकी कार्यप्रणालियों पर बहुत तीखा और मारक व्यंग्य करती है।

कहानी पैरोडी के ढंग से शुरू होती है। नाटकीय ढंग से संवाद बोले जाते हैं। 'प्रेम को फांसी दे दो', 'प्रेम करने वालों को फांसी दे दो', 'युवा को फांसी दे दो', 'शादी को फांसी दे दो' मतलब यह कि जो भी खाप पंचायत की समझ में न अटे उसे फांसी दे दो। खाप पंचायतों का यह रवैया मात्र सजातीय के प्रति ही नहीं विजातीय के प्रति भी होता है, कई बार इसका रूप भयंकर होता है। संदीप मील ने चुटीले संवादों द्वारा खाप पंचायतों की कूढ़-मगज़ी, मूर्खता और तुगलकी मानसिकता को उघाड़कर रख दिया है।

हम सब दुलीना, झंझर, मुर्चपुर, हिसार और भगाणा के कांड देख चुके हैं, जानते हैं कि इन बड़े-बड़े जघन्य कांडों को अंजाम देने में खाप पंचायतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसे में खाप पंचायत पर ऐसा पक्ष आना दलित वैचारिकी के लिये ऊर्जा का स्रोत हैं

खाप पंचायतों और सामंती मानसिकता का ऐसा रूप विमर्श का तो विषय बना है लेकिन कहानी का कम।

इस विषय पर अभी और कहानियाँ आनी चाहिये।

खाप पंचायतों और गाँव में दलितों पर होने वाले अत्याचारों की कहानी है मुकेश मानस की 'अभिषाप्त प्रेम'। यह कहानी अपेक्षा के अप्रैल-जून 2007 के 'अम्बेडकरवादी कहानी विशेषांक' में तेज सिंह के सम्पादन में छपी थी। कथावाचक जब बालक था तो दिल्ली की जे.जे. कालोनी में रहता था। गर्मियों में जब स्कूल की छुट्टियाँ पड़ जातीं तो वह उत्तर प्रदेश में अपने गाँव जाता था। वहाँ रहते में लगते राघौ भइया से मेल मुलाकात होती है। बालक यह देख लेता है कि राघौ भइया का प्रेम गाँव के ठाकुर की लड़की से चल रहा है। राघौ जाटव है। कथावाचक बालक मल्ला छुट्टियाँ बिताकर दिल्ली आ जाता है। कालांतर में राघौ उस लड़की को दिल्ली ले आता है। दोनों को एक लड़का भी होता है। काफी तनाव के बाद ठाकुर शांत होते हैं और आकर इन्हें गाँव लिव ले जाते हैं। बाद में कथावाचक को पता लगता है कि पहले राघौ भइया की पत्नी और बेटे की लाश खेत की मेड़ पर मिलती है और उसके बाद 'उसी बरगद के नीचे... टुकड़ों-टुकड़ों में राघौ भइया की लाश मिली। ...हिन्दुस्तान के अभिषाप्त प्रेम की लाश।''

मुकेश मानस की यह कहानी खाप-पंचायतों और उनकी दकियानूसी सोच को उजागर करती है, उनके अमानवीय तथा असंवैधानिक कृत्यों को सामने लाती है तो संदीप मील की कहानी 'एक प्रजाति हुआ करती थी-जाट', इन खाप पंचायतों की अंदरूनी स्थिति और बेवकूफाना हरकतों पर करारा व्यंग्य करती है।

दलित कहानी शोषण ओर गैर बराबरी के सभी गढ़-मठों पर प्रहार करती है।

गाँव हो या शहर दलित कहानी शोषण की परतों को उधेड़ती है। कुछ वर्षों पूर्व इसी प्रकार का मामला दिल्ली के नरेला क्षेत्र में देखा गया था। जहाँ लड़की घर से भागकर अन्तर्जातीय प्रेम-विवाह कर लेती है। बच्चा होने के कई वर्षों बाद उसके माँ-बाप तीनों को मनाकर (बहकाकर) घर ले जाते हैं और बाद में उनकी हत्या कर देते हैं। मुकेश मानस की कहानी और उपर्युक्त घटना बताती है कि जब संविधान, व्यवस्था और सूचना तंत्र के बावजूद सवर्ण समाज इतने बड़े हत्याकांड को अंजाम दे सकता है तो पुराने हिन्दू-समाज ने

हज़ारों वर्षों तक दलितों के साथ क्या-कुछ नहीं किया होगा? परन्तु समय बदला है तो चेतना में भी बदलाव आया है। सवर्ण तो बदले नहीं दलित समाज ने अपनी सोच बदली है।

राजेन्द्र बड़गूजर की 'इनाम' इस बदलाव की सूचक है। गाँवों में पंच-सरपंच किस प्रकार दलित वर्ग को ठगते हैं इसका उदाहरण 'राजेन्द्र बड़गूजर' की कहानी 'इनाम' प्रस्तुत करती है। यह हरियाणा के गाँवों की कहानी है। पंचायत में बी.डी.ओ. साहब आते हैं तो जाट सरपंच ताव-ताव में घोषणा कर देता है कि गाँव में आठवीं कक्षा में पहले नंबर पर जो बालक आयेगा उसे एक ज़हार रुपये इनाम देगा। इस घोषणा से उत्साहित दलित बालक चन्द्रशेखर मन लगाकर पढ़ता है और प्रथम आता है। चन्द्रशेखर पिता के साथ इनाम लेने सरपंच के घर जाता है तो सरपंच उन्हें दुत्कार देता है। बाप-बेटा मायूस होकर लौट आते हैं। चन्द्रशेखर का पिता शाम को जब काम पर से लौटता है तो खुश होता है वह बताता है कि- उसका बिरादरी भाई रघू चन्द्रशेखर के प्रथम आने की खुशी में लड्डू बाँट रहा था। बापू वही लड्डू चन्द्रशेखर को देता है और कहता है-“मैंने उस समय यह महसूस किया कि सरपंच के एक हज़ार रुपये से रघू का एक लड्डू लाख गुणा बेहतर है।” और रघू का यह कथन कि- “तेरा बेटा फस्ट आए या मेरा, है तो हमारा ही।” और प्रतिउत्तर में चन्द्रशेखर के पिता का रघू से यह कहना कि- “लड्डू पाने के पीछे तेरी जिस भावना ने काम किया है वही तो मेरे बेटे के लिए असली इनाम है।”

वास्तव में यही भावना इस कहानी का भी इनाम है। 'तेरे' 'मेरे' की जगह 'हमारा' का भाव दलित समाज की बनती एकता को प्रदर्शित करता है। आज जब सरमायेदार और शोषक दृढ़ से दृढ़तर होते जा रहे हैं तब समान हितों वाले लोगों में सामूहिकता और एकजुटता का होना उनके अस्तित्व व अस्मिता के लिये बेहद ज़रूरी हो जाता है। यह कहानी हरियाणवी बोली-बाणी में बड़े स्वाभाविक ढंग से अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया को कथा-सूत्र में पिरोकर पेश करती है। यह एक छोटी कहानी है जो एक बड़ी भाव-भूमि का निर्माण करती है। यह चेतना के बदलाव की कहानी है।

मकान न. 166, नाहरपुर, सेक्टर-7, रोहिनी,  
नई दिल्ली - 1100085  
मो. 9650407519

चंद्रकला त्रिपाठी

## नवैयतें कई कई....

कुल 18 कहानियों का संदर्भ लेकर मुझे अपनी बात कहनी है, ये कहानियाँ हैं संजीव, महेश कटारे, चंद किशोर जायसवाल, जया जादवानी, हरि भटनागर, पंकज सुबीर, पंकज मित्र, उपासना, तरुण भटनागर, राकेश दुबे, अंजली देशपांडे, तेजेन्द्र शर्मा, एकता सिंह, आशुतोष, जयश्री रॉय, शेखर मल्लिक, मनोज पाण्डेय और प्रज्ञा की। यहाँ से यदि एक सुविधाजनक विभाजन लिया जाए तो कुल मिला करके प्रौढ़, युवा और युवतर कहानीकारों की कहानियाँ हैं। ये यानी कि युवा कहानीकारों की कहानियों की सिफत-बढ़त को समझने का एक परिपक्व और गतिशील परिप्रेक्ष्य भी यहाँ बन रहा है। विशेषांक अमूमन अपनी एक निश्चित डिजाइन लेकर चलते हैं। उनका आग्रह प्रायः समावेशी ढंग पर होता है। मौजूदा मुद्दों की अनुगूंजों, विमर्शों- दलित, स्त्री, आदिवासी, सांप्रदायिकता, लंपट पूंजी से ग्रस्त यथार्थ वगैरह को व्यक्त करने वाली कहानियाँ को लेकर चलने पर ही उनका अपने समय में मौजूद होने का दावा पूरा होता है। अब यह संपादक पर निर्भर करता है कि वह ऐसे बहुरंगी यथार्थ से मुखातिब कहानियों से अपना चयन किस प्रकार करता है। इस विशेषांक में भी यह खासियत मौजूद है। शामिल कहानियों में मुद्दों और विमर्शों के रंग तो हैं मगर वे अपनी तानाशाही के साथ प्रायः नहीं हैं। मुझे किरण सिंह की कहानी 'पता' का उल्लेख यहाँ जरूरी लग रहा है। यह कहानी आदिवासी विस्थापन और नक्सलवादी संघर्ष के अनुभवों को थहाती है, उसके भीतर से चरित्र, घटनाक्रम, परिवेश और परिप्रेक्ष्य भी निर्मित करती है और बहुत अनूठे ढंग की विस्तृति और प्रभाव की रचना करती है। किरन सिंह की कहानियाँ लगातार अपने समय के विद्रुत, दमन और अन्याय के अलग-अलग यथार्थ में प्रवेश कर रही हैं और वहाँ यह यथार्थ कतई दूसरे के हिस्से का यथार्थ नहीं लगता। कहने के लिए तो यह कहानी आदिवासी विस्थापन और दमन की सच्चाइयाँ लिख रही है मगर इस दमन का बहुत स्पंदित पका हुआ अनुभव इस कहानी से उभरता है। तीव्र संवेदना गहरी ऐंद्रिकता और विश्वसनीयता भी है। लेखिका में सच्चाइयों का पीछा करने की नहीं बल्कि उनके समूचे ताप समूचे जैविक के भीतर उतर जाने का

माददा है। इस तरह यह कहानी कतई सतही आदिवासी विमर्श की कहानी नहीं है। इस तरह स्त्री के यथार्थ से जुड़ी कहानियाँ भी बहुत चकित कर देने वाली कहानियाँ हैं और उनमें स्त्री-विमर्श से बाहरी किस्म की रियायतें लेने का जुगाड़ कतई नहीं है, चाहे वे अंजली देशपांडे की ‘घूँघट’ हो, प्रज्ञा की ‘जिंदगी के तार’ हो, उपासना की ‘उदास अगहन’ हो, ममता सिंह की ‘राग मारवा’ हो या आशुतोष की ‘अग्नि असनान’ क्यों न हो। इसके अलावा राकेश दुबे, पंकज सुबीर, जयश्री राय और जया जादवानी की कहानियाँ भी स्त्री अनुभवों के एकांत और विलक्षण को लिख रही हैं, हालाँकि इनका ‘ट्रीटमेंट’ भिन्न है। कहने का अर्थ यह है कि ‘घूँघट’, ‘उदास अगहन’, ‘अग्नि असनान’ जैसी कहानियाँ व्यापक सामाजिक यथार्थ की रगड़ के बीच से अपना कथ्य चुनती हैं और वहाँ एक बेधक ढंग की समाज समीक्षा भी चल रही है जबकि बाकी कहानियों में स्त्री दमन, यातना और टकराव का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य उस तरह नहीं उभरता। फिर भी ये कहानियाँ स्त्री का ज्यादा कठिन सामाजिक अलगाव रचने वाले परिप्रेक्ष्य की हैं और इनमें अलग तरह की प्रगाढ़ता है।

यहाँ मौजूद ज्यादातर कहानीकारों ने अपनी गढ़न में यथार्थ की बहुस्तरीयता और जटिल सामाजिक अनुभवों से तनाव भरे गतिशील संबंध को उद्घाटित करने की चुनौती ली है। दरअसल वे ज्यादातर यथार्थ के कठिन-गहन और अछूते हिस्सों को उधेड़ना चाहते हैं। वे अपनी निर्मितियों को एक अछोरता से जूझने देना चाहते हैं तथा अपने समय की सभी हरारतों को छूना चाहते हैं। नई कहानी के दौर में मध्यवर्गीय अनुभवों की भारी खेप अपनी तमाम जटिलताओं और विचित्रताओं के साथ कहानियों में चली आई थी। उस दौर के आलोचकों ने इसे मनुष्य की सामाजिक विच्छिन्नता और बेगानेपन के परिणाम के रूप में देखा था। यह अनुभव किया गया था कि नये सामाजिक संबंधों का परिदृश्य बन रहा है। शहरी, कस्बाई महानगरीय जीवन के अनुभवों पर ‘फोकस’ ज्यादा था। यहाँ से मनुष्य की एक निस्सहाय सी नियति तो परिभाषित हुई मगर उसे रचने वाले वस्तुगत परिप्रेक्ष्य का सन्दर्भ छूटा सा रहा। नई कहानी के दौर के मध्यवर्गीय अनुभवों के बहुरंगी उद्घाटनों के इन रूपों को यदि हम ठहर कर देखें तो दरअसल वहाँ भी चरित्रों से ज्यादा परिवेश की कथा कही जा रही थी। संत्रास था तो बेगानेपन से ग्रस्त आत्मिकताओं के भीतर वस्तुतः बाह्य उचाट और विखंडन की छायाएँ थीं। जिसे हम आधुनिक विश्व कहते हैं, उसके

स्वभाव और गतियों की पहचान के प्रसंग कथा साहित्य में मानवीय संबंधों, चरित्रों और उनसे संबंध घटनाओं के जरिए ही प्रवेश करेंगे। यह जानना सचमुच रोचक है कि रचनात्मक साहित्य बड़ी बारीकी से अपने वस्तुगत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की नब्ज पकड़ता है और खासतौर से विसंगतियों को उधेड़ता है। पूरी दुनिया में साहित्य के संवेदनात्मक पक्ष की पूरी यात्रा को देखा परखा जाए तो एक ऐसा आकलन जरूर मिलेगा कि आर्थिक-सामाजिक बदलावों का गहरा छना हुआ आंतरिक रूप रचनात्मक अनुभवों में शामिल होता रहा है। इस तरह संकट बोध, संक्रांत अनुभव या कि प्रतिरोध और संघर्ष चेतना की डिजाइनों की भी अपनी यात्रा होती है। यहीं से यथार्थ अनुभव अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता या समाज समीक्षा तक के अर्थ पहचाने जा सकते हैं। किसी समय में जीवनानुभव संक्रांत अनुभव हुआ करते थे। अवश्य ही यदि हम उस समय की ऐतिहासिक तफसीलों को पकड़ कर देखें तो बात खुल जाएगी। इसी तरह क्रमशः संकटबोध की अर्थ छायाएँ रची गईं, और जैसे-जैसे कहानी सीमित जीवनानुभवों के घेरे से मुक्त हुई और उसे जीवन की सक्रिय गतिशीलताओं का वृहत्तर क्षेत्र मिला, उसके समक्ष छोटी-बड़ी लड़ाइयों का वह यथार्थ प्रत्यक्ष हो उठा जिसके भीतर ‘टूटना’ एक बेहद रूमाना चुनाव साबित हुआ। बहुत सी मोहाच्छन्ताओं का टूटते जाना, अनुभवों के साथ-साथ भाषा में भी सुचिंतित यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिपक्व होना आज कहानी का अर्जित है। बहुत से नये लिखने वालों ने अपनी रचनात्मक मदद के लिए अपनी पूर्व पीढ़ियों को पढ़ा-गुना हो या न पढ़ा हो मगर वे अपने समय के यथार्थ से बेधक मुकाबले के लिए बड़े नये किस्म की रचनात्मक खूबी के साथ तैयार हैं। वस्तुतः यथार्थवादी होने का अर्थ उनके लिए ‘रोमान’ के कैसे भी धुंधलके से मुक्त होना है। यथार्थवादिता उनके लिए कतई राजनीतिक पैटर्न नहीं है, यथार्थ के गतिशील पक्षों की चिंता उन्हें भले हो मगर उन्हें रचने के लिए वे किसी अतिरिक्त मदद की ओर नहीं जाते।

प्रस्तुत विशेषांक की कहानियों के समग्र आकलन के लिए एक प्रकार का मोटा विभाजन मुझे उपयोगी लगा कि स्त्री आधारित कथ्य की कहानियों को एक तरफ कर दिया जाए और उन पर अलग से बात हो। इस प्रयत्न के बाद जो कहानियाँ बची हैं वे हैं किरन सिंह की ‘पता’, तेजेन्द्र शर्मा की ‘बुशी का भूत’ पंकज मित्र की ‘कफन रिमिक्स’, शेखर मल्लिक की ‘रेअबुआ बुरु’ महेश कटारे की ‘उलझन के

दिन', 'चंद्रकिशोर जायसवाल की 'विकलव', हरि भटनागर की 'आंच' और तरुण भटनागर की 'प्रथम पुरुष'। 'आँच', 'उलझन के दिन', 'कफन रिमिक्स', 'विम्लव' और 'बुशी का भूत' में चित्रित यथार्थ का ठोस और प्रत्यक्ष संबंध समकालीन यथार्थ से है। इन कहानियों के लेखकों की कोशिश है कि ये कहानियाँ हमारे समय के विसंगत यथार्थ की गुत्थियों से टकरायेँ और अपनी रचना में ये कतई सपाट न हो। महेश कटारे या कि चंद्रकिशोर जायसवाल यथार्थ की प्रत्यक्ष वर्णनात्मकता की आजमाइश वाले हैं। वे अर्थ की जटिल गुंफित सांकेतिक रचनाओं के मुरीद नहीं हैं। उनका जोर प्रायः 'घटित' को प्रत्यक्ष आवयविक रूप में रचने पर होता है। बहुत दार्शनिक था कि गूढ़ होने की कला के वे कायल नहीं हैं। चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानी का शीर्षक बड़ा नया सा है : 'विकलव'। कहानी में यह उसके लिए प्रयुक्त होता है जो सदैव आशंकित चिंतातुर हो। इस कहानी का कथ्य इस 'विम्लव' को बीज की तरह लेकर विकसित होता है। आम तौर पर यह कहानी सामाजिक असुरक्षा को रेखांकित करने वाली कहानी कही जा सकती है मगर शायद इतना ही नहीं है। अवध बाबू जैसे रिटायर बूढ़े के जीवन के एक अकस्मात् घटित का आश्रय लेकर यह कहानी हमारे समय की नृशंसा, अलगाव मनुष्य की घातक निस्सहायता की रचना करने वाली स्थितियों को उधेड़ती चली जाती है। कहानी के नाटकीय और एक हृद तक सुखद से अंत से सामान्य पाठक को यह अपने आस्वाद अभ्यास के भीतर की कहानी लग सकती है, किंतु ठीक वहीं कहानी अवध बाबू के स्वभाव की विचित्रताओं से अलग उस समय की ध्वनि पकड़ने लगती है जिसे भय का समय कहा जायेगा। इस समय में मनुष्य की संबलहीनताओं की स्थिति यह है कि उसे कहीं भी किसी तरह से मार दिया जायेगा। इस कहानी में ही पुलिस को किसी खतरनाक कारण से अवध बाबू की खोज नहीं है, इतना जानकर हम अवध बाबू के लिए निश्चित भले हो तो ले किंतु पुलिस, प्रशासन, माफिया और सामाजिक विच्छिन्नता वगैरह के जो हिस्से कहानी में दर्ज हैं वे मानवीय यातना के बने रहने की स्थितियों की गवाही हैं। कहानी में निम्न आय श्रेणी के परिवार का रोजमर्रा का जीवन है, उस जीवन की अनेक छवियाँ हैं, उन्हें बरतने वाले मनुष्य के स्वभाव वगैरह का चित्रण है। आत्मपर्याप्त किस्म की पारिवारिकता का रूप है, सीमित इच्छाओं और सक्रियताओं के जीवन प्रसंग हैं, इसी में एक जगह यह भी है कि- 'पिछले तीस वर्षों से उन्हें एक थानेदार का यह कथन डराता रहा है कि हर आदमी

अपराधी है और कहीं न कहीं, कभी न कभी, कानून को तोड़ता है। उन्हें मालूम भी तो नहीं कि देश में क्या-क्या कानून हैं और कहाँ-कहाँ थानेदार अपना ढंग चला सकता है।'

अवध बाबू की बेचैनी की तहों में यह कहीं है- 'न जाने क्या कानून लेकर पुलिस वाले दूढ़ रहे हैं मुझे।'

यहीं से कहानी में आशंकाओं के व्यूह गहरे होते जाते हैं। एक बहुत आम-सी जिन्दगी और भयानकताओं में गर्क कर देने वाले तमाम डर सिर उठाते हैं। कहानी में ये प्रसंग अवध बाबू के भय प्वाइंट का सबसे घातक छोर रच रहे हैं। ये ही वे हिस्से हैं कि जिनका संबंध सिर्फ अवध बाबू से नहीं रह जाता बल्कि बाह्य यथार्थ की गहरी नृशंस गतियों का पता मिलता है। कहानी उन्हें ठीक उसी तरह से छूती है जिस तरह से वे जीवन में हैं, किसी तरह की अतिरंजना को जगह न देते हुए जिंदगी की आम चेष्टाओं के भीतर से यह कहानी अपना वृहत्तर आशय रच रही है। चंदकिरण जायसवाल वैसे भी बेहद पहचाने हुए जीवन संदर्भों और चरित्रों में लेखक हैं। उनके चरित्र 'टाइप' होने के अर्थ का अतिक्रमण नहीं करते। उन्हें किसी प्रकार की गूढ़ आंतरिकता में रचने के भी वे कायल नहीं हैं। इस कहानी के दंपति, मित्र पड़ोसी दुकानदार सब के सब अपनी स्वाभाविक गढ़न के हैं। इनके बीच की परस्परता भी बहुत बरते हुए किस्म की है। सामाजिक अलगाव की बौद्धिक संरचनाओं की गुंजाइशें भी यहाँ नहीं हैं।

क्या इसे केवल एक संयोग माना जाए कि महेश कटारे की कहानी 'उलझन के दिन' में 'पिवना सांप' का जिक्र आता है। यह भी एक अजूबा अर्थ है। सांप को तो सब जानते हैं मगर 'पिवना सांप' को सब नहीं जानते। अंगूरी जानती है।

कहानी में 'पिवना सांप' दमन के विरुद्ध प्रतिरोध का अर्थ लेकर 'गली-गली, घर-घर रेंग जाता है। अंगूरी और कैलास के खेतों पर धोखे से पंडित ने कब्जा कर लिया। सरपंच समेत गाँव के सभी शक्तिशाली पंडित के पक्ष में हैं। आम गाँव वालों में भी अपने हितों को लेकर डर है सो वे भी अन्याय को देख समझ कर भी कुछ नहीं कहते। ग्रामीण विकास के नये मॉडल में पैटे शोषण का यथार्थ इस कहानी के निशाने पर है। ग्रामीण जीवन का यथार्थ कहानी में शामिल होता है और उस परिवेश की शक्ति संरचनाएं भी पहचानी

जा सकती हैं। खेती किसानों की तबाही और अभाव की स्थितियों यहाँ दर्ज है। लेखक सरपंच, पटवारी, सचिव वगैरह की अन्यायी फितरत उद्घाटित करता है। 'पिवना सांप' प्रसंग की प्रतीकात्मकता रचने के बाद भी कहानी में एक प्रकार से यथार्थ की सपाटता है। चरित्रों या कि स्थितियों के अन्तर्विरोधों की जटिलताएँ भी इस सपाटता के भीतर आ गई हैं। जीवनानुभवों की ऊष्मा कुछेक प्रसंगों की तीव्रता के बावजूद कुछ दबी दबी सी है। ऐसा लगता है कि लेखकीय नजरिए की दखल कहानी में तकनीकीपन गढ़ रही है, बावजूद इसके यह कहानी इस विशेषांक के लिए विस्तृत अनुभव क्षेत्र बना रही है।

देखा जाए तो इन दो कहानियों के साथ पंकज मित्र की कहानी 'कफन रिमिक्स' की एक संगति बन रही है। मिक्सिंग के नाम पर पंकज ने घीसू-माधव और बुधिया की नियति को मौजूदा यथार्थ से मिलाया है। यह नया यथार्थ नये की मौजूदगी का भी है। घीसू माधव के नाम बदले गए हैं। अब वे भी निचार देहाती नहीं हैं बल्कि जी० राम और एम० राम हैं। इस तरह प्रेमचंद की 'कफन' यहाँ भारी बदलावों के साथ है किन्तु मूल घटना का स्वरूप वही है यानी कि बुधिया या कि बुधवंती का प्रसव प्रसंग ही कहानी का केन्द्र है। अफसाना प्रेमचंद से क्षमा सहित काफी बदलाव लेखक ने किए हैं। बुधवंती बुधिया के मूल स्वभाव में होने के बावजूद अपने विगत जीवन की तफसीलों के साथ है। कहानी में उसका दारुण प्रसव प्रसंग का जिक्र बहुत छोटा है और उसकी पीड़ा को असह्य यंत्रणा के भीतर समेट दिया गया है, इस जरा से जिक्र के बाद वह ठंडी देह में बदल जाती है मगर उसके जीवन के बाकी तकलीफ भरे हिस्से कहानी में हैं। बुधवंती बुधिया की तरह ही परिश्रमी और पतिव्रता है। 'कफन' में घीसू माधव शोषक बिरादरी के परलोक भय का लाभ उठा उसके कफन के नाम पर जुटे हुए का गुलछर्रा उड़ा देते हैं। प्रेमचंद वहाँ अमानुषीकरण के कई स्तरों को एक साथ लक्ष्य कर रहे थे और एक गहन समाज समीक्षा का स्वर वहाँ था। श्रम के दोहन की परिस्थितियों की तरफ वे बड़ी बारीकी से इशारा कर रहे थे। प्रेमचंद की 'कफन' अपनी गढ़न में बड़ी संश्लिष्ट कहानी है। ग्रामीण सामाजिक संरचनाओं की मौजूदा नृशंसता बेशक वहाँ नहीं थी। पंकज मित्र जी. राम और एम. राम को श्रम की मौजूदा मंडी में ले आये हैं। ये शहरी हो चले हैं। किसानों के तबाही के जिक्र भी यहाँ हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के नये शिकंजों का उल्लेख भी

कहानी में है। आधार कार्ड, वोटर कार्ड, ग्राम समाज, रोजगार हितों की बैठके वगैरह सब यहाँ है। तंत्र की लोकोन्मुखता की समूची आयरनी की उधेड़ के कई सॉलिड प्रसंग कहानी में हैं जैसे कि- 'मजा यह था कि जनता कोई दिखने वाली चीज तो थी नहीं। ईश्वर की तरह एक अमूर्त कल्पना थी। तो सीधे-सीधे ऐसा नहीं होता था कि जनता नाम का प्राणी आया और उसकी टाँगें दबाने बैठा दिया गया या मालिश या चंपी करनी पड़ गई। जनता उस न दिखने वाली गर्द की तरह थी जो जब जरूरत हुई विरोधी पक्ष की आँखों में झोंकने के काम आती थी।'

इस तरह ज़माने का शातिरपन जी० राम और एम० राम को बदल चुका है। 'टाउन' के होकर वे अपनी हितों के बारे में इतने मक्कार और नृशंस हो चुके हैं कि बुधवंती के नाम से योजना वाला कुआँ पास होने पर वे उसकी लाश घर के पिछवारे दफना देते हैं। वे उसे कफन देने के दायित्व से भी बाहर आ चुके हैं। प्रेमचंद की 'कफन' काफी हद तक सामंती समाज में श्रम के दोहन की नारकीय स्थितियों का खुलासा थी और आर्थिक विषमताओं की परिणतियों की पहचान कर रही थी। 'कफन रिमिक्स' में पूँजी के समाज के दुष्क्र हैं, अमानुषिकता यहाँ नृशंसता में बदल चुकी है। आर्थिक विकास की सरकारी योजनाओं की सच्चाइयाँ भी हैं। 'कफन' की 'आयरनी' के समिति अर्थ से निकलकर 'कफन रिमिक्स' में यथार्थ 'पतन' की स्थिति तक पहुँचता है। कुछेक अन्य कहानियों में भी मुआवजे वगैरह की जानिब से जीवित के मृत में बने रहने की कठोर सच्चाइयों के जिक्र आये हैं। एक कहानी की याद आ रही है लेकिन यह नहीं याद आ रहा है कि वह किसकी कहानी थी उसमें बीमार और मृत पिता को जीवित बनाकर कारखाने में पहुँचा दिया जाता है ताकि काम करते हुए उसकी मौत होना दर्शाया जा सके और उसका लाभ लिया जा सके। 'कफन रिमिक्स' थोड़े अंतर के साथ सच्चाइयों का यह पतनशील पक्ष उद्घाटित कर रही है। यह कहानी भी पूँजी के समाज में निहित मानवीय क्षरण की स्थितियों को उधेड़ती है। इसके अलावा बड़े नामालूम तरीके से स्त्री दमन के निशान भी कहानी में हैं। वस्तुतः श्रम के शोषण की पूँजीवादी सामंती संरचनाओं का मूर्त-अमूर्त यहाँ उजागर हुआ है और बुधवंती प्रसंग का स्त्री दृष्टि से भी मायने है।

'आँच' हरि भटनागर की कहानी है। छोटी-सी कहानी है। इस कहानी में लगभग एक बेऔकात समझे

जाने वाले आदमी के भीतर आदमी होने की जिद का बयान है। वाचक अखबारों के कालम लिखता है। यह उसका रोज का मामला है और यही उसकी रोजी भी है। आँखें कमजोर हो चुकी हैं। ट्यूबलाइट की रोशनी में लिखा नहीं जा सकता और लैंप का स्विच खराब है। जगदीश के हाथों में सबकुछ ठीक कर देने का हुनर है। लोहे जैसे हाथों वाला बिजली मजदूर जगदीश पूरा स्विचबोर्ड ही बदल देता है मगर मजदूरी के बदले मिले सिर्फ पचास रुपये के अलावा धिक्कार और मलामत उसे अपने ऐसे शोषण के जबरदस्त विरोध में खड़ा कर देते हैं। जगदीश का किरदार श्रम के स्वाभिमान में रचे कई किरदारों की याद दिलाता है और सबसे ज्यादा केदारनाथ अग्रवाल का वह 'गोली जैसा चलने वाला' याद आता है। अपने काम का अपमान जगदीश को असह्य है। उसका पूरा वजूद विरोध में अड़ जाता है, इतना कि उसकी शख्सियत की आंच वाचक के लिए मुश्किल हो जाती है। कहानी संक्षिप्त से घटनाक्रम और तफसीलों से बुनी गई है जिसका फोकस जगदीश पर है। जगदीश शराबी है, वाचक की दृष्टि में नीच कमीना वगैरह किन्तु उसके भीतर अपनी मेहनत से मिली गैरत है जो कतई सफेदपोशों की बपौती नहीं है। दूसरी तरफ अखबारों का कालम लिखने वाले का श्रम निचाट बौद्धिक है तथा अपनी जीवंत मानवीय गतियों से खाली है। हरि भटनागर वस्तुगत यथार्थ की प्रत्यक्षता निर्मित करने वाले कथाकार हैं। यह कहानी भी श्रम के दमन के वस्तुगत संदर्भों की ठोस पड़ताल करती है। इसके अलावा रोज-ब-रोज की जिंदगी में फंसे श्रम की अवमानना के तमाम अभ्यासों को समझने की एक कौंध कहानी में मौजूद है।

विदेशी कथा भूमि, जीवनानुभवों और सामाजिक संबंधों का एक बड़ा ही अनोखा प्रसंग तेजेन्द्र शर्मा की अपेक्षाकृत छोटी सी कहानी 'बुशी का भूत' है। कहानी मूलतः तकनीक के साथ मनुष्य के टकराहट भरे रिश्ते की है। 'तकनीक' भी यहाँ अपने सीमित अर्थ से निकलकर तंत्र की संवेदनहीनता का परिचय दे जाती है। बुशी स्टेशन के हर यात्री के लिए फिलिप फिल है और 'बुशी' उसके लिए स्टेशन भर नहीं है बल्कि उसका तीव्र आवेगात्मक प्यार है, उसके यात्रियों से भी उसका बड़ा ही निजता भरा संबंध है। उसका यह रिश्ता इतना अनोखा है कि उनकी आत्मा में 'बुशी' बसता है। बुशी के यात्री ही उसके रिश्तेदार.....वे उसके ग्राहक मात्र नहीं हैं। इस तरह फिल की पूरी दुनिया 'बुशी' ही है।

कहानी में लंदन है। पूंजी और प्रौद्योगिकी के जरिए बदलने वाली वह जमीन जिसने तकनीकी विकास और मुनाफा उगाही का चौतरफा जाल फेंका और पुरानी दुनिया के मुकाबले एक नई दुनिया, पुरानी सभ्यता के मुकाबले एक नई सभ्यता के आगाज में सबसे पहले कदम बढ़ाया। यह सभ्यता पूंजी की सभ्यता थी जिसमें भावनाएं, हार्दिकताएं वगैरह बेहद पिछड़ी हुई चीजें साबित हुईं। जिसके कदम तेजी से बाजार के नियमों की ओर बढ़े मगर उसी जमीन पर तेजेन्द्र शर्मा को 'फिल' मिल गया, वह फिल जिसे निकिल से एलर्जी है। देखा जाए तो निकिल और एलर्जी दोनों ही पूंजी और तकनीक की दुनिया की फितरतें हैं और ये दोनों उस फिल पर भारी पड़ रही हैं जिसके लिए बुशी से जुड़ा प्रत्येक संबंध बेहद सजीव और हार्दिक है। फिल की विचित्रताएं बखानता हुआ वाचक बार-बार 'आत्मा' का जिक्र करता है। इस तरह यह कहानी पूंजी के सर्वग्रासी चरित्र के मुकाबले एक अदद आत्मा का मार्मिक प्रसंग रचती है। 'बुशी का भूत' के कथ्य में भी मौजूदा यथार्थ के एक अछूते हिस्से को अर्थवान ढंग से कहने की विशेषता है, जो महत्वपूर्ण है।

जीवनानुभवों के अछूते और मानवीय चमक से भरे हिस्सों को रचना के संश्लिष्ट संप्रेषी और कलात्मक अनुभवों में बदलने की तैयारी अनेक कहानीकारों की है और सबका फोकस मौजूदा यथार्थ के ढलान से भरे हिस्सों से मुकाबले की भीतरी गतियों और तीखी टकराहटों को उद्घाटित करना है। बहुत सी कहानियों ने इस क्षतिग्रस्त समय को अनेक छोरों से समझना चाहा है। इस दृष्टि से तरुण भटनागर की कहानी का कथ्य बहुत अलग है। उनकी 'प्रथम पुरुष' शीर्षक कहानी को पढ़ते हुए बार-बार मारिया वगीस ल्योसा का उपन्यास 'द स्टोरी टेलर' (एल आवला दोर) याद आया। इस उपन्यास में भी पेरू के आदिम समाज के विश्वासों, प्रतिद्वंद्विता, मूल्यबोध और वहाँ से उभरते प्रतिरोध और संघर्ष की वे तफसीलें हैं जो इतिहास से ज्यादा 'स्मृति' का हिस्सा हैं। 'स्मृति' को लेखक पूंजी और प्रौद्योगिकी के सर्वग्रासी विस्तारवाद के विरुद्ध एक बेहद मानवीय और काम्य मूल्य के रूप में विकसित करता है तथा संभवतः यह पूंजी की निरंकुशता, अमानुषीकरण और पतन से जूझने वाला सबसे जरूरी मूल्य है। समूची दुनिया में मनुष्य की स्वाभाविक आजादी को हड़पने वाली उपनिवेशवादी शक्तियों की नृशंसता से जूझने के लिए रचनाकारों ने इस स्मृति के बहुत सचतेन और गतिशील अर्थ को अर्जित किया है। 'प्रथम पुरुष' में भी



किस्सा है, किस्सा कहने वाला अबूझमाड़ का दण्डामी मांझी आँखें बंद कर के 'लिंगोपेन' की कथा सुनाता है। 'लिंगोपेन' जो जंगल का देव था। कहानी में जंगल का आदिम अपने पूरे संगीत के साथ है। लिंगोपेन को यही संगीत पकड़ लेता है। उसे शिकार करना नहीं आता। तरुण भटनागर लिंगोपेन की कथा के बहाने आदिम मनुष्य में स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्मता के आकर्षण के स्वभाव को उसकी आरंभिक गतियों से पकड़ना चाहते हैं और उन मासूम विश्वासों की टोह लेते हैं जिसके लिए समूची सृष्टि उस 'रागपुरुष' की निर्मिति है। लिंगो जंगल की व्याप्त रागात्कता की गहरी सूक्ष्म विस्तृति है जिसे विकास के इतिहास ने कोरा गप्प मान लिया। तरुण भटनागर दण्डामी मांझी के मासूम विश्वासों के जरिए उस विस्मृति में उतरते हैं और उस आदिम प्रकृत में दर्ज लिंगो की दुनिया के अर्थ को समझना चाहते हैं। देखा जाए तो एक अर्थ में तरुण भटनागर ने इस विशेषांक को अद्भुत के पन्ने दिए हैं। इसके मुकाबले शेखर मलिक आदिवासी अंचलों में पहुँची विकास की क्रूरताओं का यथार्थ लेकर आये हैं। कहानी में झारखंड के आदिवासी अंचल के पहाड़ और जंगल मिटाने वाली विकास योजनाओं का हवाला है जिन्होंने उस प्राकृतिक को नष्ट कर वहाँ के निवासियों के कलेजे में भयानक रोगों का जाखीरा उतार दिया है। कहानी स्पष्ट आलोचनात्मकता से कोई गुरेज नहीं करती और बड़ी एकाग्रता के साथ उस बड़े पहाड़ के खत्म हो जाने की मार्मिक कथा कहती है जो उन जनजातियों के जीवन से हिलगा हुआ, उनका पुरखा था। वे सारे पुराने वृक्ष खेत और नैसर्गिक के रंग से रचा हुआ उन सबका जीवन, पहाड़ों को तोड़ने वाले क्रशर के धूल धुएं और अभिशाप से ढकता गया है।

इस तरह इन कहानियों में सिर्फ जल, जंगल और जमीन का एकायामी मसला नहीं है। मनुष्य के राग कला स्मृति और नैसर्गिक समेत उसकी मानवीय आंतरिकता की आकांक्षा इन कहानियों में दर्ज है।

इस विशेषांक की स्त्री विषयों पर केन्द्रित अधिकांश कहानियाँ नई स्त्री की गढ़न के साथ दिखाई देती हैं।

स्त्री की केन्द्रीयता लेकर चली कहानियों के संबंध में महत्त्वपूर्ण यह है कि वे स्त्री दमन के प्रचलित यथार्थ और स्त्री के प्रतिरोध और संघर्ष के प्रायः अलग रूपों की रचना करती हैं। इन कहानियों में अलग प्रकार की प्रगाढ़ता है और इनमें समय, समाज और पारिवारिकता की ढेरों ओछी और अमानुषिक तफसीलें पकड़ में आई हैं। इन कहानियों में

दमन से जूझती हुए नई होती हुई स्त्रियाँ हैं। स्त्रियों के प्रति निगरानी और दमन की चौकसी से भरी हुई निस्संग पारिवारिकता के प्रसंग यहाँ हैं। कुछेक कहानियाँ जैसे 'रेपिस्क' (पंकज सुबीर) या 'पैर' (मनोज पाण्डेय) जो स्त्री की आत्मपर्याप्तता और गौरव के नये हिस्सों को उधेड़ती हैं। कई बार अपने ट्रीटमेंट में ये पुरुष मन की अनुरूपता में रची गई स्त्रियाँ भी लगती हैं और उपभोग आधारित सौन्दर्य बोध मूल्य और लालसा समेत कई-कई उद्दामताओं का उभार दिखाती हैं। फिर भी ये एक नई स्त्री की ओर इशारा करती हैं जो अपनी जिंदगी को खुद 'ड्राइव' करने के साहस और संघर्ष में दिखाई देती है।

इन कहानियों की स्त्रियाँ अलग-अलग जीवन स्तरों की हैं, अलग-अलग आयु की भी हैं। कुछेक स्त्रियाँ लेखिकाओं की गढ़न हैं तो कुछ आशुतोष, पंकज सुबीर, मनोज पाण्डेय जैसे लेखकों की हैं। इन स्त्रियों के यथार्थ की रचना में स्वाभाविकताओं या अतिशयताओं की भी दखल है। ज्यादातर कहानियों में स्त्री पुरुष संबंधों का यथार्थ दर्ज है। 'उदास अगहन' हो, 'घूँघट' या कि 'रेपिस्क' क्यों न हो, इन कहानियों में एक अर्थ में पीड़ा या यातना की दखल है। देखा जाए तो एक बाहरी दुनिया भी लगभग अनायासता के साथ कहानियों में मौजूद है। इस तरह कहानियाँ वृहत्तर संसार के अर्थ से अपनी अविभाज्यता निर्मित करती हैं।

पंकज सुबीर की कहानी 'रेपिस्क' में स्त्री के लिए काफी उत्तेजक ढंग से बदला हुआ समय है, या यह कहें कि स्त्री ने इसे अपने लिए बदल लिया है। काफी हद तक उसने अपने लिए एक आजाद जिंदगी चुन ली है। यह अलग बात है कि इस आजाद जिंदगी को भी कई चीजों को छुपाकर रखना पड़ रहा है जैसे कि आशिमा अपने सहकर्मी साहिल के साथ 'लिवइन रिलेशन' में है किंतु यह बात उसके परिवार पर प्रकट नहीं है। उसका अधिकतर सामान उसकी दोस्त प्राची के पास है क्योंकि साहिल के साथ उसके रिलेशन में 'कब तक निभने वाला' मुद्दा भी है। आशिमा असहज है, खिन्न है, रो-धो भी रही है कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उसे बेहोश करके उसके साथ 'रेप' किया है। वह उस बलात्कारी को खोजना चाहती है। लेखक की तरफ से आशिमा की मनोदशा उसके फैसले या उसकी तकलीफ के बारे में जो बातें कही गई हैं, उसकी बिना पर देखा जाये तो धोखे से हुए इस बलात्कार ने उसे दुखी तो किया है मगर वह खत्म नहीं है। स्त्री यौनिकता का स्पष्ट संदर्भ लेकर लेखक स्त्री यौन

प्रसंगों के अर्थ को वहाँ तक ले जाना चाहता है, जहाँ यह केवल उद्दाम कायिक अर्थ की स्थूलता तक न रहने दे। इस दृष्टि से वह साहिल की यौन आक्रामकता को ज्यादा समझने लगती है। बलात्कारी ने उसकी देह को मधुर मंदिर संगति की तरह बजाया है इसलिए वह साहिल को छोड़कर उसके साथ जाना चुन लेती है। लेखक ने उसके लिए एक तर्क भी चुना है कि- ‘प्रेम और यातना में एक बड़ा बारीक अंतर होता है। हमें पता ही नहीं चलता है कि जिसे हम प्रेम समझ रहे थे, वह तो वास्तव में यातना था....’ रोचक है यह जानना कि बेहोशी के बावजूद आशिमा बलात्कारी के प्रेम को पहचान लेती है। जाहिर है कि विचित्र ढंग की दैहिकता से जनमते इस प्रेम को पकने या कि बढ़ने के लिए अब किसी अन्य प्रकार की परीक्षा की जरूरत ही नहीं। इस कहानी के बरक्स उपासना की कहानी ‘उदास अगहन’ को देखें तो वहाँ भी एक स्त्री अपनी स्वतंत्रता में है। दुनिया वहाँ पुराने ढंग की है। पितृसत्ता की कठोरता वाली दुनिया। वृंदा वहाँ देवदत्त की दूसरी पत्नी है। पत्नी क्या है, फूलमती के अभियान वगैरह के प्रतिकार के लिए जुटाई गई एक स्त्री योनि भर है। वृंदा अपने लिए दबा-ढका ही सही, एक उन्मुक्त संबंध पा लेती है, जो पुरुष वर्चस्व की जड़ों को भीतर से कुतर देता है। रुग्ण और मरणासन्न पति के यह कहने पर कि- ‘तू तू चरित्रहीन साली....रात भर किससे मिलने जाती थी हमें सब मालूम है।’

वृंदा कहती हैं- ‘तब तो तुम्हें यह भी मालूम होगा कि उन सबका परिणाम क्या है? कभी सोचा है तुमने कि जिसे तुम अपना बेटा अपना बेटा कहते फिरते हो.....उसका एक भी लच्छन तुम्हारे जैसा क्यों नहीं है?’

देवदत्त सिंह वृंदा के चेहरे पर थूक देते हैं....वृंदा इस सबके प्रति ठंडी, निरावेग है। उसका निर्णय यह है कि ‘इतने दिन हम घृणा में रहे, पर तुम्हें कभी मना नहीं कर पाए...अब तुम जलो घृणा में.....तुम अब जियो, जो मैंने अब तक जिया है।’

इस तरह ‘उदास अगहन’ में स्त्री अपने वजूद का सीमित ही सही एक अर्थ पा लेती है। पुरुष वर्चस्व की हिंसा और अन्याय से टकराने का बहुत प्रत्यक्ष न सही, मगर एक रूप यहाँ है मगर ‘रेपिश्क’ में अपने लिए फैसला लेने वाली स्त्री के चयन की स्वतंत्रता में कोई गतिशील अर्थ नहीं है। आशिमा, साहिल वगैरह कारपोरेट संस्कृति द्वारा रचे गए विच्छिन्न समय के किरदार हैं। यदि यह कहा जाए कि उनके

मनोजगत और व्यवहार में उपभोग के मूल्यों की गहरी भीतरी दखल है तो अनुचित न होगा। कहानी में यथार्थ की बड़ी सपाट किस्म की बुनावट है और इस अनूठे कथ्य की केन्द्रीयता से विकसित हो सकने वाले जटिल परिप्रेक्ष्य पर लेखक का बयान नहीं है। इसलिए अत्यधिक अत्याधुनिक किस्म की इस स्त्री के संदर्भ अपेक्षित तीक्ष्णता के साथ व्यक्त नहीं हैं।

मनोज पाण्डेय की कहानी ‘पैर’ का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य लगभग यही है, यानी मौजूदा पूंजी के समय द्वारा रचे जाते हुए संदर्भों का परिप्रेक्ष्य। वाचक के लिए उस स्त्री के पैर बड़े ‘संसुअस’ हैं। उन पैरों की छुअन का जादू बहुत ऐंद्रिक बहुत उन्मादी है। उसी स्पर्श से उसमें अपार वासना जगती है। ‘पैर’ यहाँ देह की भूख का सबसे नग्न सिरा हैं। स्त्री के लिए आरंभ में यह उद्दामता का एक कौतुक है। यहाँ से हमें एक खुद मुख्तार स्त्री का आभास मिलता है। वह पैसिव किस्म की भागीदार नहीं है और इस खेल में एक हद तक हिस्सा भी लेती है मगर जब पुरुष के लिए ‘पैर’ वासना की सिर्फ रुग्णता में धंस जाते हैं तब वह खुद को इस बीमार खेल से निकाल लेती है। जाहिर है कि वह रुग्ण दैहिकता से अपनी देह को ही नहीं बल्कि अपने वजूद को भी अलग करती है। कहानी छोटी सी है, असामान्यताओं की नब्ज पकड़ने की इसकी कला में बारीकियां हैं, साथ ही ‘रेपिश्क’ के कथ्य का सा चौंकाऊपन भी यहाँ है।

स्त्री की सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में बेहद सधी हुई कहानी है अंजलि देशपांडे की ‘घूंघट’। इस कहानी का कथ्य स्त्री दमन की जटिलताओं में प्रवेश करता है और उसके संघर्ष के बेहद विश्वसनीय यथार्थ का उद्घाटन करता है। कहानी में स्त्री वजूद व स्त्री श्रम का अप्रत्यक्षता वाला शुद्ध सामंती परिवार है। ‘घूंघट’ से वह अपने घर में भी मुक्त नहीं है। पुरुष वर्चस्व वाली पारिवारिकताएं ‘घूंघट’ को स्त्री की लज्जा के रूप में परिभाषित करती हैं। इस स्त्री के परिवार में भी पुरुष उसे उसकी नावजूद सी सलज्जता में टिकाए रखना चाहते हैं। बाहरी दुनिया तो बड़ी दूर की चीज है। ‘घर’ में भी वीणा ढंकी-मुदी रहती है। ससुर जी, पति जी, मेहमान जी वगैरह की उपस्थिति में उसका वजूद तमाम-तमाम तरह से बंद है। कहानी में इसकी कई तफसीलें हैं। इन तफसीलों में एक छुपा हुआ व्यंग्य भी चलता रहता है। लेखिका की खूबी यह है कि वह स्त्री के यथार्थ को उसके समय स्थान घटनाक्रम और अंतरंग में भरपूर पकड़ती है।

दैनिक क्रियाकलापों, श्रम और समूचे व्यवहार से यह बात सबसे ज्यादा जाहिर है कि ‘घूँघट’ की अनिवार्यता वीणा पर खुद चुकी है। यह भी कि अपनी स्वतंत्रता के क्षणों में वह इस घूँघट को उतार फेंकती है। यह कतई उसके दिल-दिमाग पर पड़ा हुआ घूँघट नहीं है। इस कथा का आकस्मिक यह है कि वीणा के पति ने अपने ऑफिस की किसी प्रतिद्वंद्विता में पत्नी का इस्तेमाल किया है। अपने बास द्वारा वीणा के प्रति यौन दुर्व्यवहार की शिकायत दर्ज कराया है। इक्वायरी आती है। वीणा स्तब्ध है, बेहद आहत। यहीं से उसके व्यक्तित्व की गिरहें खुलनी शुरू हो जाती हैं और वह सच बोलती है। वह सच जो कतई पति के हक में नहीं। कहानी का उल्लेखनीय पक्ष यह है कि इन स्थितियों को किसी सरल सपाट निर्मिति में न खत्म करते हुए लेखिका दूसरी जटिलताओं में जाती है। इस घटना के बाद वीणा निर्वासित महसूस करती है। पति की निर्लज्जता और पतन उसकी यातना को बढ़ाते चले जाते हैं और वह आत्महत्या करती है। घूँघट, ढकी हुई पारिवारिकता, स्त्री के प्रति शंकालु बेदर्द समाज और निम्न मध्यवर्गीय गृहस्थी का ताना-बाना कहानी का संदर्भ है तो स्त्री निस्सहायता की यातना भरी कठोरताएं भी कहानी में हैं। वीणा जैसी बेहद सीमित जीवन सन्दर्भों से वाकिफ स्त्री बार-बार अपनी इस नियति का सामना करती है और यह लिखकर मरती है कि- ‘मेरा पति यही किया, बलात्कार, इस आदमी के साथ नहीं रह सकती। मेरा पति मेरी मौत का जिम्मेदार है।’ इस तरह ‘घूँघट’ यहाँ स्त्री के उस सामाजिक अलगाव का संकेत भी है कि जीने के लिए व्यापक समाज से उसे कोई संबल नहीं मिलने वाला है, ‘आत्महत्या’ ही उसके लिए अपना एक हल है।

और तब उसने घूँघट उतार दिया था।

स्त्री के ऐसे दमन और यातना से भरे एकांत कई कहानियों में आये हैं। अंजलि देशपांडे ने इसे ज्यादा बारीकी और व्यंजना में पकड़ा है। ‘घूँघट’ की वीणा के किरदार में अनुगता होने के लक्षण कहीं नहीं हैं। पति से संबंध में निहित दमन के अर्थ का पता भी वह पहले नहीं देती मगर खांटी सीमित घरेलूपन के अर्थ में धंसी हुई उस स्त्री की शर्म और इज्जत को बेशर्मी से चौराहे की चीज बना देने वाले पति की पशुता का वह अलग ढंग से सामना करती है। उसके होने में यह अलग ढंग शुरू से मौजूद है और लेखिका ने इसे ठीक से विकसित किया है। इसके अलावा भाषा की स्वाभाविकता का बड़ा ही सचेत ढंग कहानी में है।

‘अग्नि असनान’ आशुतोष की कहानी है। स्त्री दमन का सामंती ताना-बाना कहानी में मौजूद है। ‘सती’ बना दी गई सुनैना देवी की कथा का पीछा करते पत्रकार के हिस्से इस सुनैना की असली कहानी है कि दरअसल उसे जलाकर मार डाला गया है। यह भी कि मगरू और सुनैना के दांपत्य प्रेम वगैरह को लेकर स्थिति उतनी अझेल नहीं थी किंतु मामला जमीन पर अधिकार का था। इस कहानी में आशुतोष ने कई सिरे से प्रवेश करने का शिल्प लिया है और पुरुष वर्चस्व की जटिलताओं के साथ-साथ पूंजी की दखल के साथ निरंकुश होते ग्रामीण यथार्थ का अमानुषिक भी यहाँ जाहिर है। पंकज मित्र की ‘कफन रिमिक्स’ की तरह या कि उससे ज्यादा डिटेल्स के साथ यह कहानी गाँव के नये यथार्थ को पकड़ती है और उन शक्ति संरचनाओं को खोलती है जो नितान्त बर्बर हैं। इस तरह यह कहानी सिर्फ सुनैना और मंगल की नहीं है बल्कि बशरूद्दीन, लियाकत, रमई और झड़ैला की भी है। उस आतंक की भी है जिसके सामने प्रतिरोध या संघर्ष के लिए गुंजाइशें खत्म हैं। मीडिया तंत्र के ब्यौरे दमनकारी परिप्रेक्ष्य को समूचा उधेड़ते हैं। समाज समीक्षा की अपेक्षाकृत स्पष्ट बढ़त लेते हुए कहानी उत्तर पूंजी की सामंती पतनशील प्रवृत्तियों के जाहिर तरीके के गठजोड़ पर चोट करती है तथा अन्त्याय और दमन के भीतरी-बाहरी रूपों को उसके छद्म समेत उद्घाटित करती है।

गाँव का यथार्थ राकेश दुबे की कहानी- ‘कउने खोतवा में लुकइलू...’ में भी है। शीर्षक लोकगीत की एक पंक्ति है जो एक बारीक धागे की तरह कहानी में मौजूद है। यह गीत वंशी काका का प्यार है। एक बिछोह है जो उन्हें अजब ढंग से कातर बना गया है। युवा लेखकों के लिए प्रेम पर लिखना दरअसल एक बड़ी चुनौती है। ज्यादातर यह एक बहुत बरता गया विषय है। वंशी के पास एक बड़ी तड़पभरी गायकी है। एक चेहरे ने उसे हमेशा के लिए बांध लिया है। इस प्रेम के मिलन और बिछोह के प्रसंग कहानी में हैं मगर बिछोह ही इसकी आखिरी बात है। प्रेम की बेधक अडिगता वंशी को समूचा बदल देती है। अब यह उसकी चिर खोज है। कहानी इसे किसी गहरी मर्मकथा की तरह उजागर करना चाहती है।

लेखकीय दृष्टि यहाँ रागात्मक तरलता से भरपूर है अतः चित्रण या कि वर्णन का हर हिस्सा रस भीने अर्थ का वाहक है। पूरा परिवेश राग की सुंदरता से भरा हुआ है। इस प्रेम के बीच में कहीं कोई खल प्रसंग नहीं है, केवल संयोग

है। कहानी का अंत बड़ नाटकीय है। संयोग की इसी युक्ति ने वंशी को मारक परीक्षा में डाल दिया है। 'उसने कहा था' नामक गुलेरी जी की कहानी की याद आना स्वाभाविक ही है क्योंकि वंशी ने भी ठकुराइन हो चुकी अपनी प्रेयसी से सांप का जहर उतारा है और वह सारा जहर पीकर अपने चिर विरह को एक अर्थ दे दिया है। लेखक ने इस कहानी के अर्थ को भरपूर प्रगाढ़ता में रचना चाहा है। कहानी के भीतर रोमांस की भाववादी छवियाँ अधिक हैं।

जयश्री राय की कहानी 'संधि', में भी 'प्रेम' थोड़े भिन्न संदर्भ के साथ आया है। यहाँ मौजूद स्त्री के लिए प्रेम से ज्यादा अपने होने का अर्थ पाने की प्रतीक्षा है। उसकी जिंदगी में सब कुछ जर्द और गमगीन है। यह आधुनिक स्त्री के डिप्रेसिव एकांत की कथा सरीखा है। घर-बाहर की कई चीजें मिलकर उसके जीने के वंचित अर्थ का निर्माण करती हैं। निम्नमध्यवर्गीय पारिवारिकता के स्वार्थ और तनाव के रूप भी यहाँ हैं। इस कहानी में कई अन्य कहानियों के अनुभवों के रंग दिखाई देते हैं, कुछ फिल्मों की भी याद आ सकती है। बाहर भीतर की कई-कई रूकावटों ने उसके जीवन की स्वाभाविकता को सोख लिया है। वह चुप है, कुंद है विरक्ति और करुणा दोनों में झूलती रहती है। उसके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं। खिड़की खोलना भी उसके लिए संभव नहीं। जीवन में सुंदर नर्म और प्रकृत चीजों से साथ एक खुलापन मिले, ऐसी संभावनाओं से उसका जीवन खाली है। कहानी द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व त्रास तिरस्कार और निस्सहायता के कई-कई रंग लिखती है। वह कहीं दूर भाग जाना चाहती है। लेखिका ने उसकी आकुलता का छोर पकड़कर भी उसे देखना चाहा है और कई बार 'आत्मदया' में गर्क होने नहीं दिया है। डॉ. पार्थ सारथी उसे उसके एकांत का उदात्त समझने लायक बनाना चाहते हैं और एक खुलापन उसे मयस्सर भी होता है। मगर यह सर्वथा अस्थायी साबित होता है। लेखिका ने उसे पिंजरे की सुरक्षा में पहुँचाया है और वह रोने के लिए रात का इंतजार कर रही है। इस तरह स्त्री के दमन और यातना को एक भीतरी चीज की तरह विकसित करते हुए लेखिका पारिवारिक निस्संगता का चित्रण करती है। बहुत सारी रुकी हुई चीजों के अर्थ कहानी में महिमामण्डित होने के हश्र तक हैं।

प्रज्ञा की कहानी 'जिंदगी के तार' और ममता सिंह की कहानी 'राग मारवा' में स्त्री की वंचित स्थितियों का यथार्थ है। 'जिंदगी के तार' में लवली अपनी मेहनत से

अपनी जिंदगी को पटरी पर ले आती है। स्त्री का सहना तो इस कहानी में भी है मगर इस दमन से निकलने की जद्दोजहद भी। स्त्री के उसके दमन और दुख में अकेले छूट जाने की तफसीलें भी कहानी में हैं। कहानी बड़ी प्रत्यक्षता के साथ स्त्री के मजबूत कंधे से संवरती गृहस्थी का रूप लिखती है जबकि 'राग मारवा' (ममता सिंह) में अपने संघर्षों से कामयाब हुई गायिका की विडंबना उकेरी गई है।

इस विडंबना का एक गहरा कारण गायिका का स्त्री होना है। कुसुम अब पारुल की अनवरत कमाई बन चुकी है। उपभोग के चमचमाते हुए समय में कुसुम पीड़ा की गहरी चीत्कार है। कुसुम के संघर्ष को लेखिका ने शिद्दत से व्यक्त किया है।

इन कहानियों के साथ जया जादवानी की कहानी, उनके अपने लेखकीय मिजाज के अनुरूप एक अलग स्त्री लेकर आई है। जया जादवानी ने अक्सर एक सूफियाने आंतरिक प्रेम को ऐसे लिखा है जैसे वह स्त्री या कि पुरुष को रूपांतरित कर देने वाली भावदशा हो जिसकी तीव्रता, संघनन तनाव या कि दीप्ति को वे कई तरीके से खोलती हैं। कहानी है- 'क्या आपने हमें देखा है।' अंधेरा, खामोशी, स्तब्धता अकेलापन और कांपती आत्मा यहाँ भी हैं किन्तु इस कहानी की स्त्री जयश्री राय की 'संधि' की स्त्री से ज्यादा चौकस है। उसमें अपनी जिंदगी को नया करने की सक्रियताएँ हैं। अलग बात है कि यह सब कुछ उसी तरह आंतरिक और गाढ़ा है। स्त्री डायवोर्सी है। इस कहानी का खास यह है कि यह अपना फोकस बदलती है। इस स्त्री के बरक्स एक युवा पुरुष भी लिखा गया है जो स्त्री के जिस्म की पुकार समझ लेता है। उसे औरतों का आखेट आता है। उसके लिए यह हुनर है। जया इस स्त्री पुरुष को उनके सारे आदिम की निर्बंधता में रचकर नाभि के ऊपर के ज्वार में बहा ले जाती हैं। यह स्त्री भी साबित कर लेती है कि वह नाभि से नीचे नहीं, ऊपर है। लेखिका ने इस कहानी में जिंदा औरतों की शिनाख्त भी दी है कि वह घरों में नहीं रहती, ये अपने अंदर छिपकर बैठी रहती हैं। इस तरह जया जादवानी ने आजाद स्त्री से ज्यादा मुक्त स्त्री की छवि को खोलना तय किया है उसके दिल दिमाग और देह के भीतर से उसे खोजा है। यहाँ उल्लेखनीय है कि स्त्री कतई विदेह होने पावनतामूलक अर्थ में नहीं है मगर कामुकता में भी नहीं है।

स्त्री विषयक कथ्य वाली कहानियाँ स्त्री दमन के कई-कई रूपों को दर्ज कराती हैं। इनमें से कई कहानियाँ

नये यथार्थ की जटिलताओं के बरक्स उसके संघर्ष का पता देती हैं तो कुछ पुरानी बंदिश भरी पारिवारिकता और समाज के मुकाबले उसके साहस और टकराव को लिख रही हैं। कहीं-कहीं उसके अवरुद्ध एकांत का पता भी है। महत्वपूर्ण यह है कि स्त्री का यथार्थ यहाँ प्रत्याशित तरीके के अनुभवों का दुहराव नहीं है। यह अलग बात है कि कहानी के भीतर चीजें अपनी स्वाभाविकता का कितना निर्वाह करती हैं अथवा लेखकीय सायासता की दखल का क्या स्वरूप है ?

कुल मिलाकर ये कहानियाँ विस्तृत और जटिल यथार्थ की तहबंदियों में प्रवेश करती हैं। चंद किशोर जायसवाल की कहानी 'विकलव' भी कठिन समय की असामान्यता को सामान्य निम्न मध्यवर्गीय गृहस्थ के जरिए भेदती है और ऐसी मनोदशा को परिभाषित करने के लिए एक शब्द लाती है 'विकलव'। यह शब्द अवधबाबू की पत्नी के परिचय क्षेत्र का है। इस भारी भरकम तत्सम शब्द का अर्थ है 'क्षोभ'। इसमें 'वि' उपसर्ग 'क्ल' धातु 'अच' प्रत्यय हैं। अपनी निर्मिति में यह प्रायः एक दुर्लभ शब्द है। नितांत अप्रचलित। चंद किशोर जायसवाल यथार्थ की स्वाभाविक गतिशील रचना के लेखक है। इस कहानी में वे दमन और अन्याय के लगभग पचाए जा चुके दबावों को किसी प्रकार की अतिशयताओं न लिखते हुए मनुष्य की बेदखली रचने वाले समय को उधेड़ते हैं। जाहिर है इस शीर्षक के अलावा उनके 'अतिविशिष्ट' के प्रति रुझान का कोई पता नहीं मिलता।

'पता' से फिर मुझे 'पता' कहानी याद आयी। किशन सिंह की कहानियाँ जटिलतम और विस्तृत अनुभवों तक लेखिका के विस्तार का पता देती हैं। यह असाधारण है। अमूमन लेखिकाओं की पहुँच सीमित पारिवारिक यथार्थ या

प्रेम-विवाह वगैरह तक मानी जाती थी। उत्तर पूंजी की गहन पतनशीलताओं के तमाम निहितार्थों को भेद कर परिवेश, घटनाक्रम और चरित्र को इस तरह खड़ा कर देना कि उसमें यातनाओं का सारा ऐंद्रिक संवेदित हो रहा हो, वाकई मुश्किल काम है मगर इस कहानी ने अपनी तफसीलों में आदिवासियों के हाशियाकरण के यथार्थ को उसके संघर्षशील हिस्से से पकड़ा है। हरि भटनागर की कहानी वंचित जन के यथार्थ को स्वार्थ और अवसरवाद की निस्संगता के छोर से पकड़ती है तो तेजेन्द्र शर्मा पूंजी के समय की दानवी विकरालता के भीतर कुछ मासूम कुछ मानवीय को बचा ले जाने के हिस्से खोजते हैं। ये सारे पाठ अपनी-अपनी पहुँच में मौजूदा खतरनाक यथास्थिति की गहन आलोचना तो हैं ही साथ कई तरह से नये अनुभव क्षेत्रों, किरदारों और नई नैतिकताओं का आगाज भी हैं।

और अब संजीव की कहानी के कोकिला प्रसंग पर। संजीव के लिए यथार्थ अपने समय से विच्छिन्न टुकड़ा नहीं है। पूंजी का चाकचिक्य परिदृश्य अपनी तमाम दुष्ट इच्छाओं के साथ कहानी में मौजूद है। संजीव कुछ बेदखल चीजों की कौतुक भरी खोज का प्रसंग रचते हैं और कहानी आधुनिक उत्तर आधुनिक समय के जीवन के खाली निचाट और मनहूस की तहों में उतरने लगती है। कोयल की बोली मुंबई जैसे कांक्रिट वन में भला कैसे बचती। क्रमशः यह 'कोकिला बैन' किसी भाववादी नास्टेल्लिज्या में गर्क होने के बजाय पूंजीवादी विकास के अमानुषिक अर्थ का पूरा प्रहसन उधेड़ने में जुट जाता है। लेखक की सर्तक दृष्टि शहरी जीवन में समाप्त होती मानवीय गतिशीलता को गहरे व्यंग्य के साथ उधेड़ती है। इस व्यंग्य के निशाने पर सभी हैं, पूंजी के विकास की निर्ममताएं सबसे ज्यादा।

प्लॉट नं० 59 लेन, नं० 8 ए,  
महामनापुरी कॉलोनी एक्सटेंशन,  
बी०एच०यू०, वाराणसी-221005  
मो० 09415618813